१९६२

युगचारण दिनकर

लेखिका

डा० सावित्री सिन्हा,

एम. ए,. पी-एच डी , डी. लिट्

रीडर, हिन्दी विभाग,

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

प्रकाशक :
नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
२६ ए चन्द्रलोक, जवाहर नगर, दिल्ली
बिक्री केन्द्र : नई सड़क, दिल्ली

प्रथम संस्करण
अक्तूबर, १९६३

मूल्य
दस रुपये

मुद्रक :
शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस,
नया शाहदरा, दिल्ली

श्रद्धेय दद्दा

(राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त)

को सप्रणाम

जिनकी अनेक कृतियों ने भी दिनकर को

युग-धर्म की प्रेरणा दी

अपनी ओर से

प्रस्तुत कार्य का आरम्भ लगभग चार साल पहले किया गया था, जो धीरे-धीरे कही अब समाप्त हो मका है। इसकी मूल प्रेरणा मूलत: दिनकर-साहित्य मे मेरी रुचि और उसके अध्ययन की इच्छा से मिली थी। किसी अभाव की पूर्ति करने के लिए न मैंने इसे आरम्भ किया था और न अब इसका दावा करती हूं। अपने विचारो को सबके समक्ष रखते हुए मेरे मन मे किंचित भय और सकोच है लेकिन इस बात से मैं पूर्ण आश्वस्त और विश्वस्त हूं कि मैंने अपनी बात पूरी ईमानदारी और सचाई से कही है।

पुस्तक का प्रथम अध्याय (जीवनी और व्यक्तित्व) दिनकर जी, तथा उनके मित्रो और सम्बन्धियो द्वारा दिये गये वक्तव्यो के आधार पर लिखा गया है जिनमे विशेष रूप से उल्लेखनीय है श्रद्धेय बाबू गंगाशरण सिह, श्री कामेश्वर शर्मा 'कमल' तथा श्री शिवसागर मिश्र। पुस्तक मे दिये गये चित्र मुझे श्री रामानुजप्रसाद सिंह के सौजन्य से प्राप्त हुए है। इन सभी महानुभावो के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता व्यक्त करती हू। इस अध्याय मे मेरा योगदान केवल प्रस्तुतीकरण का है। एकाध स्थलो पर जहा मेरी धारणाये व्यक्त है, वे वही हैं जो मैंने एक कवि सम्मेलनी दर्शक, और दद्दा की बैठक के तटस्थ श्रोता के रूप मे कवि के प्रति बनाई है। अन्य अध्यायो के विषय मे कुछ विशेष कहने को नही है। पुस्तक के प्रकाशन मे श्री कन्हैयालाल मलिक तथा श्री माधव जी से मुझे जो सहयोग और सहायता मिली है उसके लिए मैं बहुत आभारी हूं।

श्रीमती सावित्री कौशिक तथा श्रीयुत् सिन्हा भी मेरे धन्यवाद के पात्र है जिन्होंने क्रमश: मेरी लिखी हुई चीजों को सुन कर अपने समय का सदुपयोग किया, तथा जो मुझसे जल्दी कार्य समाप्त करवाने का निष्फल प्रयास करते रहे। श्रद्धेय दिनकर जी की मगल-कामनाओं और शुभाशीषों के लिए मैं हमेशा ऋणी रहूंगी।

अन्त में, मैं दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डा० नगेन्द्र के प्रति मौन कृतज्ञता व्यक्त करती हूं, जिनकी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रेरणा मेरे हर साहित्यिक प्रयास मे विद्यमान रहती है।

२१. १०. ६३ —सावित्री सिन्हा

क्रम

प्रथम अध्याय

जीवनी और व्यक्तित्व

जन्म और परिवार

दिनकर का जन्म, बिहार प्रदेश मे, सिमरिया नामक ग्राम के एक कुलीन कृषक परिवार मे हुआ। प्रामाणिक जन्म-पत्र अप्राप्त होने के कारण उनकी जन्मतिथि पूर्ण रूप से निश्चित नही है। उनकी माता जी के कथनानुसार उनका जन्म फसली सन् के १३१६ साल मे आश्विन, शुक्ल पक्ष मे बुधवार की रात को लगभग बारह बजे हुआ था तथा उनकी छठी विजयादशमी को मनाई गई थी। ज्योतिष-गणना के अनुसार यह तिथि ३० सितम्बर, सन् १९०८ को पडती है। जन्मतिथि के समान ही उनकी जन्मराशि भी अनिश्चित है। बचपन से वे सुनते आये थे कि उनकी राशि तुला है। लेकिन अब ज्योतिषी बताते है कि वह वृश्चिक राशि के है। उनके पिता जी का नाम था श्री रवि सिंह तथा माता जी का नाम मनरूपदेवी है। पिता के इस नाम के कारण ही उन्होने अपना उपनाम 'दिनकर' रखा। दिनकर के बडे भाई है श्री बसन्त सिह तथा छोटे भाई का नाम सत्यनारायण सिंह है। उनका अपना वास्तविक नाम है रामधारी सिह। 'नवीन' जी हमेशा उन्हे 'रामधारी' कह कर ही पुकारते थे। अपने पिता जी की अकाल मृत्यु के समय दिनकर केवल दो वर्ष के थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् तीन पुत्रो के भरण-पोषण का भार विधवा मा पर ही पड गया, जिन्होने अपनी सारी पूजी पुत्रो की, विशेष रूप से दिनकर की, शिक्षा पर लगा दी। इसके अतिरिक्त २० एकड़ भूमि को बटाई पर चढा कर उनका काम बडी अच्छी तरह चल जाता था।

मां तथा पत्नी

दिनकर के युग की भारतीय नारी की पीढी अपने त्याग और सघर्ष का प्रति-फलन तो जानती है लेकिन अपनी महत्ता और गौरव की मान्यता जैसे उसके लिए

अर्थहीन है। दिनकर की मा और पत्नी दोनो ही के साथ यह बात शत-प्रतिशत लागू होती है। उनके शब्दो मे "मा तो मूर्तिमती करुणा है। उन्होने हम लोगो के लिए अपने को होम दिया। मुझे ऐसी कोई घटना नही याद है जिससे मुझे लगे कि मुझे कोई बडा अभाव झेलना पडा था।" दिनकर के व्यक्तित्व के निर्माण मे उनकी पत्नी के त्याग और बलिदान का भी, परोक्ष, पर महत्वपूर्ण योग रहा है। परिवार मे सबसे अधिक व्यय दिनकर की शिक्षा पर ही होता था इसलिये सारे पारिवारिक दायित्व उन्होने अपने ही सिर ओढ लिये। घर का सारा कामकाज अपने ही आप सम्हाल लिया जिससे घर की दूसरी स्त्रियो को पति पर होने वाले अतिरिक्त व्यय का बोझ न खले। किशोरावस्था से अब तक, उन्होने दिनकर को, पत्नी की निष्ठा और सेवा तो दी ही है, मा का सा ममतामय सरक्षण और पोषण भी दिया है। उनका विवाह किशोरावस्था मे ही हो गया था। पति, किशोर से युवक और युवक से प्रौढ़ हुआ। देश मे उसकी कीर्ति राष्ट्र के अमर गायक के रूप मे फैल गई। किशोरावस्था मे पत्नी श्यामा रात्रि के अन्तिम प्रहर मे उठ कर भोजन तैयार करती, पति को स्कूल भेज कर कार्य सम्हालती, सयुक्त परिवार के दायित्वो को अपने कन्धो पर झेलती। युवावस्था मे पति की सहधर्मिणी बन उनकी साधना मे योग देने के लिए उन्होने अपने सारे जेवर उतार दिये। पति का प्रज्ज्वलित आलोक जब 'हुकार' और 'सामधेनी' के गीतो द्वारा जनता के हृदय मे क्रान्ति की अग्नि बरसाता रहा, श्यामा अपने झिलमिलाते आभूषण और चन्द्रहार दिनकर पर न्यौछावर करती रही। अपने को मिटा कर दिनकर को बनाती रही। युवावस्था मे भोग के स्थान पर विराग ही उसके जीवन का सत्य बन गया। आज भी पति, पुत्र, परिवार सबके प्रति अपने दायित्वो का निर्वाह करती हुई भी वे सबसे अलग अपनी साधना मे लीन विरक्त है। छोडना ही उनका धर्म बन गया है। त्याग मे ही राग की यह अनुभूति यहा केवल दर्शन की कल्पना अथवा चिन्तन न रह कर जीवन का अग बन गई है। जब उनका सिद्धार्थ सरस्वती की साधना मे दिनरात एक कर रहा था 'यशोधरा' रागिनी होकर भी विरागिनी हो रही थी। जब उनका पति साधु-सन्यासियो के चक्कर मे 'द्वन्द्व गीत' की उलझनो मे फस रहा था, उसके दायित्वों का निर्वाह करने के लिए वह स्वय आग से खेल रही थी। अपने 'गौराग' को उन्होने सकीर्ण सीमाओ मे बाध कर नही रखा प्रत्युत 'विष्णु-प्रिया' बन कर परिवार की सेवा-सुश्रूषा और श्रम को ही जीवन का साध्य बना लिया। और फिर जब प्रतिष्ठा और कीर्ति ने उर्वशीकार के चरण चूमे, यह 'औशीनरी' तपस्या, त्याग और साधना की ही

मूर्ति बनी रही।

इस प्रसग मे दिनकर की मानवती कविता की कुछ पक्तिया उद्धृत करना उचित होगा—

> **तुम सखि इन्द्रपरी के तन मे सावित्री का मन लाई ।**
> **ताप-तप्त मरु मे मेरे हित शीत-स्निग्ध जीवन लाई ॥**[1]

इसी कविता मे उनके दाम्पत्य और गार्हस्थिक जीवन के बडे मधुर सरल और मर्मस्पर्शी पर यथार्थ चित्र मिलते है। साहित्यकार पति के प्रति सरल हृदया पत्नी की यह उक्ति किसी विश्लेषण और व्याख्या की अपेक्षा नही रखती—

> **तुम्हे, न जाने, क्या मिलता लिपटे रहने मे पन्नों से ?**
> * * *
> **सुस्थिर हो दो बात करें, यह भी बाक़ी अरमान मुझे**
> **ऐसी क्या कुछ दे रक्खी चादी सोने की खान मुझे ?**

दिनकर के पास इसके उत्तर मे केवल स्वप्न है, कल्पना है, कविता है और है प्रणय-गुंजार जो जीवन की भौतिक समस्याओ का समाधान नही बन सकती। लेकिन उन्हे तो केवल इतना कहना है—

> **कविजाया ने स्वर्ग न देखा, बसता जो प्रियतम के उर मे,**
> **अन्तर्दीप्त रूप निज प्रिय का, ग्राम वधू कैसे पहिचाने।**[2]
> * * *
> **जीवन की रसवृष्टि (पंक्ति कविवर की) क्यो चादी न हुई ?**
> **कविजाया कहती, लक्ष्मी क्यों कविता की बांदी न हुई ?**
> **खोज रही आनन्द कल्पना, दूब, लता गिरिमाला मे,**
> **कल्पना के शिशु झुलस रहे हैं इधर पेट की ज्वाला में,**
> * * *
> **जिसके मूर्त्त स्वप्न भूखे हों, वह गायक कैसे जाए ?**
> **मानवती चुप रही, दृगों में करुणा के बादल छाए॥**[3]

वास्तव मे द्विवेदीयुगीन नारी-भावना की जडे इसी पीढी की नारी के त्याग, मर्यादा और प्रेम से अनुप्रेरित मातृत्व और पत्नीत्व मे ही दिखाई देती है। यशोधरा, सीता, उर्मिला, राधा ये सभी केवल पौराणिक या ऐतिहासिक पात्र न रह कर उस युग की प्रतिनिधि नारी की प्रतीक बन जाती है तो नेपथ्य से मैथिलीशरण, माखनलाल और दिनकर का निर्माण कर, अनजाने ही समाज और युग को अपना योग-दान कर रही थी।

---

१. रसवती, पृष्ठ ४३
२. वही, पृष्ठ ४४
३. वही, पृष्ठ ४५

सन्तान

१६ वर्ष की उम्र मे उनके प्रथम पुत्र श्री रामसेवक सिह का जन्म हुआ। १६३४ मे उनकी बडी पुत्री विनता का तथा १६३६ मे छोटे पुत्र श्री केदारनाथ सिह का जन्म हुआ। उनकी सबसे छोटी पुत्री विभा है जो आजकल बी०ए० मे पढ रही हैं। "दिनकर पारिवारिक जीव है तथा परिवार के प्रति अपने दायित्वो के प्रति वे पूर्ण सजग है। वे एक कुशल गृहपति तथा बडे ही स्नेही पिता, पुत्र और पति है। परिवार से घुले-मिले होने के कारण उनके जीवन मे रास्ते से बेरास्ते जाने की गुजाइश नही होती।"[1]

निवास-स्थान

दिनकर के पूर्वज सदियो पहले सिमरिया मे आकर बसे थे। यह ग्राम पटना से लगभग ६० मील पूर्व की ओर गगा के उत्तरी तट पर स्थित है। गगा पर नवनिर्मित 'राजेन्द्र सेतु' का उत्तरी छोर इस गाव मे पडता है। यह दो नदियो से घिरा हुआ है—दक्षिण मे गगा नदी की निर्मल धारा का प्रवाह है और पश्चिम की ओर से आकर बाया नदी की धारा सिमरिया मे ही गगा मे मिलती है। सिमरिया की गगा के विषय मे एक जनश्रुति है। यहा लगभग २८ मील पर बाजितपुर है जहा विद्यापति ने शरीर-त्याग किया था। कहते है कि अपना अन्तिम समय निकट जान कर वे परिवार के सदस्यो से विदा लेकर गगा-सेवन के लिए चले। जब गगा थोड़ी दूर रह गई तो उन्होंने पालकी रखवा दी और एक अभिमानी भक्त की भाति कहा कि मैं मा गगा के लिए इतनी दूर चल कर आया हू क्या वह दो कोस भी मेरे पास चल कर नही आयेगी और परम्परा चलती है कि दूसरे ही दिन गगा से एक धारा फूटी और बाजितपुर होती हुई सिमरिया आकर गगा की धारा मे मिल गई। सिमरिया की प्रकृति ने दिनकर के हृदय पर स्थायी प्रभाव डाला। पहले वहा हर साल बाढ आया करती थी और प्राय. प्रतिवर्ष जलप्लावन का भयावना दृश्य उपस्थित होता था। उस समय गगा का रूप अत्यन्त भयानक होता था। दिनकर को लगभग नित्य ही गगा पार करके मोकामाघाट के स्कूल जाना पडता था। प्रतिदिन ७ बजे प्रातः खा-पीकर वह स्कूल के लिए चल देते, ५–६ मील पैदल चल कर घाट पर पहुचते, वहा से जहाज से गंगा-पार स्थित स्कूल जाते। मध्यावकाश में ही स्कूल से चल देते क्योकि देर होने पर जहाज नही मिल सकता था (खैर यह थी कि आजकल की भाति परीक्षा में बैठने के लिए उपस्थिति के एक

१. श्री गगा सरन सिह—लेखिका द्वारा किये गये इन्टरव्यू मे दिये हुये वक्तव्य से।

निश्चित प्रतिशत का प्रतिबन्ध नही था) । ६ या ७ बजे शाम को घर पहुचते थे । खाना वही जो प्रात खाकर स्कूल जाते । इसी दौरान मे उन्होने गगा को समुद्र के समान भयावह देखा । पेड, छप्पर, आदमी और जानवरो, यहा तक कि कभी-कभी हाथी को भी निस्सहाय बहते देखा । इन सब दृश्यो ने दिनकर पर जीवनव्यापी प्रभाव डाला ।

गर्मी के दिनो मे गगा का दूसरा ही रूप उन्हे झेलना पडता । प्रात काल सात बजे स्कूल पहुंचने के लिए वह ३ बजे प्रात घर से चल देते । लौटते मध्याह्न मे । रास्ते मे गंगा की जलती हुई बालू मीलों तक फैली रहती थी । जूते अधिक प्रचलित नही थे. फलत. उन दिनो उनके पैर फफोलो से भरे रहते । इस प्रकार प्रारम्भकाल मे ही विद्यार्जन दिनकर के लिए साधना के रूप में आया । यह साधना यद्यपि परिस्थितिजन्य थी परन्तु उसने उनको एक कर्मठ जीवन-दर्शन प्रदान किया जिसके फलस्वरूप आज वह इतने निर्भीक साहित्यकार बन सके हैं ।

प्रकृति-जन्य विषमताओ को झेलने के साथ ही वे प्रकृति मे ही खेले और बढ़े । पन्त जी की तरह कौसानी की शान्त-एकान्त रूप सवारती हुई प्रकृति ने उनकी कल्पना और संवेदना को नही संवारा और न उन्हे अव्यक्त रहस्यात्मक सत्ता और तत्वों की ओर इंगित किया । सिमरिया की प्रकृति हलचलपूर्ण, और जीवन मे भरी हुई थी, उसका सम्बन्ध केवल चिन्तन और कल्पना से नही, वहा के वासियो के अस्तित्व मात्र से था । मानव और प्रकृति एक दूसरे पर निर्भर थे । दिनकर को बचपन से ही उसकी गतिविधियो मे बड़ा रस आता । उनके घर के ठीक उत्तर-पश्चिम की ओर बासो का बहुत बडा झुरमुट था, उसके बाद अमराई । बाढ के दिनो मे इन स्थलों का दृश्य बडा सुहावना लगता था । लोग घडनाई पर चढ कर इन कुंजो से बाहर निकलते थे । अक्सर बाढ़ का पानी सन्ध्या समय गाव से एक मील पर रहता और रात मे उसे घेर लेता था । दिनकर को उत्सुकता रहती थी कि कब भोर हो और कब वह बाढ़ देखें । सिमरिया में मक्का की खेती प्रचुरता से होती थी। बाढ के दिनो मे सारे खेत जलमग्न हो जाते थे और मकई के पौधे गले-गले तक पानी से भर जाते थे । लोग लकड़ी के बेड़े बना कर मकई काट-काट कर लाते और जानवरों को चारा देते । दिनकर जी को भी बचपन मे यह सब काम करने मे बड़ा आनन्द आता था । ये काम करने की उन्हे विवशता नही थी लेकिन केवल मजा लेने के लिए वे भैसे चरा लेते थे और उनके लिए घास भी ले आते थे ।

सिमरिया गरीब किसानो का गाव था। वहां अक्सर अकाल पड़ता था। वास्तव मे दिनकर की कविता मे अत्याचार, अनाचार, शोषण और सामाजिक वैषम्य के प्रति जो विद्रोह का भाव व्यक्त हुआ है उसकी प्रेरणा के बीज सिमरिया की शोषित, पीडित, निर्धन जनता के प्रति उनकी प्रतिक्रियाओ मे विद्यमान है। वहा के लोगो को भूख मे बेहाल देखकर उनके नेत्र आसुओ से और हृदय आक्रोश से भर जाता था। उन दिनो की अनेक घटनाए उनकी स्मृति मे अकित है। एक बार अकाल के समय अपने गाव की पाठशाला के गुरु जी को पेड के नीचे से महुए के फल चुन-चुन कर खाते देखा। उस दिन वे खूब रोए। आज भी उसकी स्मृति से उनका मन व्यथित हो उठता है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद सन् १९१९ मे सिमरिया पर घोर अकाल और महामारी का प्रकोप साथ-साथ हुआ। लाल बुखार से लगभग डेढ़सौ व्यक्तियो की मृत्यु हुई। राजनीतिक और सामाजिक शोषण का भी उस गाव में बोलबाला था। गाव मे कई बाहरी लोगो की जमीदारी थी। उनके कर्मचारी सिमरिया के किसानो के साथ बडी निर्दयता और नृशमता का व्यवहार करते थे, दूसरी ओर गाव के सवर्ण किसानो का अत्याचार शूद्रो और हरिजनो पर चलता रहता था। दिनकर का अनुभूतिप्रवण व्यक्तित्व अखबारो के सम्पर्क में आने के पहले ही शूद्रो और हरिजनो का पक्षपाती हो गया था। सन् १९२५-२६ ई०. के लगभग उन्होने पटना से प्रकाशित एक साप्ताहिक पत्रिका मे देश म जमीदारो के अत्याचार के विषय मे एक पत्र छपवाया था।

रेणुका मे सकलित 'मिथिला मे शरत' कविता मे कवि ने अपनी जन्मभूमि का वर्णन इन शब्दो मे किया है—

हे जन्मभूमि ! शत बार धन्य,
तुम सा न 'सिमरियाघाट' अन्य।
तेरे खेतों की छबि महान,
अनियन्त्रित आ उर में अजान,
भावुकता बन लहराती है
फिर उमड़ गीत बन जाती है।

* * *

'बाया' की यह कृश विमल धार,
गंगा की यह दुर्गम कछार,
कूलों पर कांस-परी फूली
दो दो नदियां तुझ पर झूलीं।

कल-कल कर प्यार जताती हैं
छू पार्श्व सरकती जाती है ।'[1]

इन्हीं परिस्थितियों के फलस्वरूप यह 'धरतीपुत्र' समय का पुत्र बन गया जिसने अपने जीवन का सबसे बडा कार्य यह समझा कि वह अपने युग के क्रोध और आक्रोश को अधीरता और बेचैनियों को सबलता के साथ छन्दो मे बाध कर सबके सामने उपस्थित कर दे ।

शिक्षा

दिनकर ने प्राथमिक शिक्षा गाव मे ही प्राप्त की। असहयोग आन्दोलन छिड जाने के बाद वह अपने गाव से ३ मील दूर बारो नामक गाव मे राष्ट्रीय पाठशाला मे जाने लगे। वहा दो साल तक हिन्दी के साथ-साथ उर्दू का अध्ययन भी किया। यह राष्ट्रीय पाठशाला राष्ट्रीयता का अड्डा थी। उसी गाव मे स्थित सरकारी स्कूल को वहा के निवासी नीची नजरो से देखते थे। राष्ट्रीय पाठशाला के विद्यार्थी के रूप में बालक दिनकर सार्वजनिक सभाओ मे वन्देमातरम् गाने के लिए जाते थे। उनका स्वर बडा मधुर और ओजपूर्ण था। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय पाठशाला का पूरा व्यय घर-घर से मुट्ठी भर अनाज माग कर चलाया जाता था। दिनकर भी कभी-कभी 'मुठिया' मागने जाते थे। इसी पाठशाला के साम्प्रदायिकता से मुक्त स्वस्थ वातावरण ने उन्हे उदार दृष्टि प्रदान की। सन् १९२२ में असहयोग आन्दोलन बद होने पर राष्ट्रीय पाठशाला भी टूट गई और दिनकर को राजकीय मिडिल स्कूल मे जाना पडा। परन्तु राष्ट्रीय पाठशाला के दो वर्षों ने उनके व्यक्तित्व के निर्माण में महत्वपूर्ण योग दिया। सरकारी स्कूल से ही उन्होने मिडिल की परीक्षा पास की। मोकामाघाट के एच० ई० स्कूल से सन् १९२८ में मैट्रिक पास करने के बाद वे पटना आए तथा इतिहास मे आनर्स लेकर बी० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। लगभग सन् १९२८–२९ मे श्री बेनीपुरी 'बालक' छोड़कर आ गए थे और उन्होने 'युवक' निकालना शुरू किया था। इन्ही दिनों दिनकर जी मैट्रिक के सर्वश्रेष्ठ हिन्दी विद्यार्थी घोषित किए गए और उन्हे इस उपलक्ष में भूदेव पदक प्राप्त हुआ। अखबारो मे उनका नाम निकला जिससे 'युवक संघ' के प्रमुख कार्यकर्ता सर्वश्री गंगासरन, बेनीपुरी, जनार्दन मिश्र तथा विश्वमोहन सिंह इस प्रतिभावान् युवक की ओर आकर्षित हुए। 'युवक' के उन दिनों तीन हजार ग्राहक थे, और पत्र की उग्र नीति के कारण उस पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। दिनकर जी आरम्भ से ही बड़ी

१. रेणुका, पृ० ५३, तृतीय संस्करण—दिनकर

उग्र कविताए लिखते थे इसलिए 'युवक' के व्यवस्थापक दिनकर के नाम से भेजी हुई कविताओ को अमिताभ के नाम से छापने थे जिससे विद्यार्थी होने के कारण उनका अहित न होने पाए। उस समय भी वे अपनी कविता का पाठ बडे ओज और लालित्यपूर्ण ढग से करते थे। "जैसे मयाने और ओझा के चलते व्यक्ति अपने मे नही रह जाता किसी दूसरी सत्ता से अभिभूत होकर उसका व्यक्तित्व ही दूसरा हो जाता है उसी प्रकार दिनकर भी कविता पढते समय शरीर और मन से कही और पहुच जाते है।"[1] अपने छात्र जीवन मे वे बहुत ही सीधे-सादे ढग से रहते थे। मोटी धोती, मोटी मारकीन का कुरता, कन्धे पर चादर और कभी-कभी देहाती कट का मामूली जूता, यही उनकी पोशाक थी। नौकरी कर लेने के बाद उन्होने कोट पहनना प्रारम्भ किया था। पटना कालेज मे प्रवेश लेने के समय पहली बार उन्होने 'पम्प शू' खरीदा। बी० ए० पास करने तक उन्होने कभी अपने केश-विन्यास की ओर ध्यान नही दिया। उनके बाल काफी छोटे और खुरदुरे रहते थे, जिनके लिए वे तेल और कंघी की जरूरत नही समझते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि अपने विद्यार्थी जीवन में वह चमक-दमक से दूर साधारण और सीधा जीवन व्यतीत करते थे। आठवीं और नवी कक्षा तक वे गणित मे बहुत तेज थे। दूसरे विषयों मे भी वे क्लास के प्रथम छात्र होते थे। ग्यारहवी कक्षा मे आकर उनका ध्यान बीजगणित और रेखागणित से हट गया। अब वे स्कूली पढाई की अपेक्षा कविता और साहित्य पर अधिक ध्यान देने लगे थे। पर कक्षा मे कमजोर विद्यार्थी वे कभी नही रहे। पढने के साथ-साथ वे ओज-पूर्ण कार्य-क्रमो मे भी बड़े उत्साह से भाग लेते थे।

यह दिनकर के जीवन का वह द्वन्द्वग्रस्त समय था जब एक ओर व्यावहारिक बुद्धि उन्हें व्यवस्थित-रूप से जीवन-यापन के मार्गों की ओर बढ़ने की प्रेरणा दे रही थी, और दूसरी ओर ब्रिटिश साम्राज्यवादियो के दमनचक्र से देश मे एक सार्वजनिक सकट और संघर्ष की स्थिति बन गई थी, जो उनकी वैयक्तिक अनुभूतियों को पीछे करके समष्टिगत कर्तव्य-भावना को उभार कर उनके सवेदनशील व्यक्तित्व को चुनौती दे रही थी। उनके व्यक्तिगत जीवन में भी कर्म और वचन का असामजस्य रहा— उनकी अनुभूतिया और वाणी राष्ट्र और समाज के साथ रहीं और विवेक तथा व्यवहार-बुद्धि ने समय की आग से उन्हे बचाए रखा। सन् १९३० ई० मे नमक सत्याग्रह में चार महीने काम करने के बाद उन्होने बी० ए० मे प्रवेश ले लिया और सत्याग्रह का काम छोड़ दिया।

---

१. बाबू गंगासरन सिंह

व्यवसाय

बी० ए० पास करने के बाद अर्थाभाव के कारण मा ने नौकरी करने की आज्ञा दी। अतएव, बहुत इच्छा होने पर भी उनकी आगे की पढाई न चल सकी। और वह नौकरी की खोज करने लगे। इस क्षेत्र मे भी उनको अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडा। यद्यपि उन दिनो भूमिहारो का सरकारी क्षेत्रो मे काफी प्रभाव था, तेजस्वी भूमिहार युवको के सामने रुकावटे अपेक्षाकृत कम थी लेकिन दिनकर के सामने कठिनाई यह थी कि वे कृषक परिवार के थे। जाति के धनी-मानी व्यक्तियों मे से उन्हे कोई नही जानता था, दो-एक से वह मिले भी, लेकिन उनके व्यवहार और बर्ताव से उन्हे निराशा ही हुई। वह वर्ग केवल जमीदार-भूमिहारो की ही सहायता करता था और दिनकर के पास जमीदारी नाम को भी नही थी। विवश होकर उन्हें एक हाई स्कूल मे हेडमास्टरी का पद ही स्वीकार कर लेना पडा। उनका प्रारम्भिक वेतन केवल ५५) था। इस पद पर वह अधिक दिनो तक न टिक सके। स्कूल के चेयरमैन और मन्त्री बडे-बडे जमीदार थे, उनके बीच उनका प्रतिभावान् व्यक्तित्व जैसे घुट-सा रहा था। उनके हृदय मे एक प्रकार की कुठा सदैव बनी रहती थी। इस परिस्थिति से ऊब कर उन्होने सब-रजिस्ट्रारी कर ली। इस पद पर उन्हे कभी ५०) मिलते थे और कभी ६५)। स्थायी नियुक्ति हो जाने पर ८५) मिलते। अक्तूबर, १९३४ मे सितम्बर, १९४३ तक वे सब-रजिस्ट्रार के पद पर कार्य करते रहे। इस बीच भी उन्हे वातावरण बहुत अनुकूल नही मिला। १९३४ से १९३९ के बीच उनका तबादला बाईस बार किया गया। राष्ट्रीय और राजनीतिक कविताए लिखने के कारण सरकार उन्हे विद्रोही समझती थी। दिनकर जी के कथनानुसार ये उनके सुख के दिन थे, अधिकतर उनकी नियुक्ति गावो मे होती थी। ट्राजिट की छुट्टिया मिलती थी, काम भी कम रहता था, अतएव इस अवधि मे उन्होने खूब कविताए लिखीं। सरकारी नौकरी करते हुए भी उन्होने राष्ट्रीय जागरण और विद्रोह की कविताए लिखी, भौतिक परिस्थितियो के वशीभूत होकर सरकारी नौकरी करने की कुठा का निराकरण उन्हे इस सन्तोष की भावना से होता था कि सरकार उन्हे बागी और विद्रोही समझती है।

द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने पर उन्हें फिर मानसिक द्वन्द्व का सामना करना पड़ा। जनता का दुलारा, मानवता और राष्ट्रीयता के गीत गाने वाला कवि कैसे सरकार की युद्ध-नीति का समर्थन करे, परन्तु महायुद्ध मे रूस के प्रवेश करते ही मानों उन्हे युद्ध के समर्थन का बहाना मिल गया। इसी 'तिनके' पर पैर टिका कर वे युद्ध के गीत गाते रहे, लेकिन यहा भी

बातचीत में वह युद्ध का समर्थन करते थे और कविताएं सरकार के खिलाफ लिखते थे। और दोनों ही क्षेत्रों में उनका उद्देश्य सफल हुआ। एक ओर सरकार विरोधी रचनाएं लिखने के कारण वे जनता के लाडले बने रहे और दूसरी ओर उनकी नौकरी भी बरकरार रही।

दिनकर के मन का यह द्वन्द्व सामधेनी की एक कविता में अपनी समस्त करुणा, उद्वेग और विवशता के साथ व्यक्त हुआ है। एक ओर आग्नेय अहंकार तथा भावुक मन और दूसरी ओर जीवन का नग्न यथार्थ, चक्की के इन दो पाटों के बीच पिसती हुई भावनाओं का चित्र इन पंक्तियों में साकार है—

ओ अशेष! निःशेष बीन का एक तार था मैं ही!
स्वभू की सम्मिलित गिरा का एक द्वार था मैं ही!
तब क्यों बांध रखा कारा में?
कूद अभय उत्तुंग शृंग से
बहने दिया नहीं धारा में
लहरों की खा चोट गरजता,
कभी शिलाओं से टकरा कर
अहंकार प्राणों का बजता!

*   *   *

तब क्यों दह्यमान यह जीवन
चढ़ न सका मन्दिर में अब तक
बन सहस्र वर्तिक नीराजन
देख रहा मैं वेदि तुम्हारी
कुछ टिमटिम, कुछ-कुछ अंधियारी

*   *   *

मुझमें जो मर रही, जगत में कहां भारती वैसी?
जो अवमानित शिखा, किसी की कहां आरती वैसी?

*   *   *

तब क्यों इस जम्बाल-जाल में
मुझे फेंक मुस्काते हो तुम
मैं क्या हँसता नहीं देवता
पूजा का बन सुमन थाल में?

*   *   *

कर में उज्जवल शंख, स्कन्ध पर

लिए तुम्हारी विजय-पताका,
अमृत-कलश-वाही धरणी का,
दूत तुम्हारी अमर विभा का !
चलता मैं फेंकते मलीमस पापों पर चिनगारी,
सुन उद्बोधन-नाद नींद से जग उठते नर-नारी।
भूल गए देवता, उदय का महोच्चार था मैं ही—
स्वभूँ की सम्मिलित गिरा का एक द्वार था मैं ही !![1]

सन् १९४२ के आन्दोलन में उनकी पोस्टिंग जिस सब डिवीजन मे हुई वहा के एस० डी० ओ० की हत्या कर दी गई। सरकारी क्षेत्रो मे आतक छा गया। सेना बुलाई गई और दमन-चक्र चलने लगा, राजनीतिक क्रान्ति मे सक्रिय भाग लेने वाले अनेक फरार रात में उनके घर मे आश्रय लेते थे फिर भी वे दमन-चक्र से बचे रहे। यह स्थिति भी थोडे ही दिनो के पश्चात् समाप्त हो गई। पूर्व एस०डी०ओ० की मृत्यु के बाद जिस अफसर की नियुक्ति हुई उसने अपनी सुरक्षा के लिए दिनकर के घर को ही अनुकूल समझा और उन्ही के साथ रहने लगा, और फिर फरारो को आश्रय मिलने का कोई प्रश्न ही नही उठता था। पुलिस-अधिकारियों के हृदय मे भी उनके प्रति एक सम्मान और आतक का भाव था। वे कहा करते थे कि वे अन्धे नही है ; रजिस्ट्रार साहब अनेक बागियो के घर आते-जाते रहते है, हम उनके खिलाफ कार्रवाई कहा करते हैं ?

परिस्थितियो की माग के कारण नौकरी दिनकर छोड नही सकते थे। लेकिन अपनी विद्रोही भावनाओं के कारण उन्हे काफी दिक्कतें उठानी पडी। उन्होंने बी० ए० (आनर्स) उस समय किया था जब बिहार मे आनर्स-ग्रेजुएटो की नियुक्ति डिप्टी कलक्टर के पद पर बडी आसानी से हो जाती थी। परन्तु इतने प्रतिभासम्पन्न होते हुए भी दिनकर का नाम बार-बार छाट दिया जाता था। 'रेणुका' और 'हुंकार' के प्रकाशन के बाद से सरकार उन पर बडी कडी आख रखने लगी थी। जिन दिनों वे सब-रजिस्ट्रार थे, बिहार के जिला मजिस्ट्रेट थे श्री डब्ल्यू० जी० आर्चर। वे आजकल लन्दन मे विक्टोरिया म्यूजियम के क्यूरेटर हैं। साहित्य और कला के पारखी होने के कारण वे दिनकर से बहुत स्नेह रखते थे, इसीलिए उन्होने उनको पटना मे नियुक्त कराने के लिए सरकार को अपनी सिफारिश भेजी। मगर सरकार ने आर्चर को उत्तर दिया कि यह नियुक्ति तभी हो सकती है यदि तुम इस पदाधिकारी का उत्तरदायित्व अपने

१. सामधेनी, पृष्ठ ७, ८, ९—दिनकर

ऊपर लो। आर्चर को आगे कुछ कहने या करने का साहस नही हुआ और उन्होने अपनी सिफारिश वापस ले ली।

सन् १९४८ से ही वे नौकरी से विरक्त होने लगे थे। सन् १९५० मे तो उन्होने एक तरह इस्तीफा ही दे दिया था। उसी समय उनकी नियुक्ति मुजफ्फरपुर कालेज मे हिन्दी विभाग के अध्यक्ष के रूप मे हो गई। कालेज पहुच कर दिनकर को जैसे कुछ खुला वातावरण मिला। अपने अध्यवसाय के बल पर बडी जल्दी ही वे एक प्रख्यात और सुयोग्य प्राध्यापक बन गए। अपने एक मित्र के अनुसार "दिनकर ने कालेज की नौकरी ससदीय मर्यादा के लोभ मे नही छोडी, बल्कि इसलिए छोडी कि सरकारी नौकरी मे उनका मन अब ऊब गया था। पार्लियामेट की मेम्बरी तो एक बहाना बन गई, नही तो नौकरी, शायद वे यो भी एक दिन छोड ही देते। मन से वे उस ऊचाई पर पहुच गए थे जहा मिजाज के पहुच जाने पर नौकरी मे निर्वाह होना कठिन हो जाता है। कालेज की नौकरी के बाद मैंने उनसे पूछा, कहो, अब तो जीवन और समाज से नाराज नही हो ? दिनकर बोले, 'यार कुछ कहते नही बनता। सब ठीक ही है। केवल दो बात है, जो मुझे अब भी नापसन्द हैं। पहली यह कि छात्र मुझे उस दृष्टि से नही देखते जैसे गुरु को उन्हे देखना चाहिए। मैं तो सिर झुकाकर निकल जाता हूँ, लेकिन, मन समझता है कि सैकडो लडको की आखें मेरी पीठ पर चुभ रही है। दूसरी बात यह है कि जब से पढाने का धधा अपनाया है, विद्या मुझे अपनी गहराई मे खीच रही है। मै अनुभव करता हू कि मुझे अभी कितना अधिक और जानना है'।"[1] कहने की आवश्यकता नही कि ये दोनो ही व्याजस्तुतिया है।

दिनकर के राजनीतिक जीवन के कुछ रोचक संस्मरण[2]

"संसद गए दिनकर को एक या दो वर्ष ही हुए थे कि अखबारो मे समाचार छपा, दिनकर मन्त्री बनने वाले हैं। मगर, वे मन्त्री हुए नही। उसके बाद जब भी मैने उनका कलेजा टटोला, मुझे ऐसा लगा कि मन्त्री-पद की चाह कही न कही उनमे मौजूद है। हा, रूस से लौटकर आने के बाद यह ख्वाहिश भी गायब हो गई है। अब मुझे ऐसा लगता है कि जैसे आरम्भिक जीवन में डिप्टी बनने की ख्वाहिश पैदा होकर मर गई, वैसे ही, मन्त्री-पद की चाह भी अब दिनकर मे नही है।

नेता बनने से भी दिनकर घबराते हैं। सभा-सोसाइटियों के लिए जाने पर जब लोग उनका जयकार करते हैं, तब वे क्रुद्ध होकर जयकार करने वालो

१—२ श्री कामेश्वर शर्मा कमल द्वारा दिए गए विवरणों से उद्धृत

को डाटते है। सभाओं मे अपनी प्रशस्ति एव अभिनन्दन सुनना उनको अच्छा नही लगता। टण्डन जी के देहावसान के बाद लोग चाहते हैं कि दिनकर हिन्दी का नेतृत्व सम्हाले। लेकिन, इस काम के लिए भी वे तैयार नही है। और जब उन्हे कोई राष्ट्रकवि कहता है, तब वे कहते है, हमारे राष्ट्रकवि तो अभी मौजूद है। मैं तो महज डिपुटी राष्ट्रकवि हू।

एक बार गगा ब्रिज मुकामा को लेकर बरौनी मे मजदूरो ने हडताल कर दी। प्रान्त के नेता और जिले के अधिकारी सबने सोचा दिनकर यदि इसमे पडे तो हडताल भग हो जाय। दिनकर इस काम के लिए वहा गये भी। लेकिन मैंने देखा, बिल्कुल एक मामूली बात पर नाराज होकर भाग आये। फिर बड़ी मिन्नतो के बाद वे राजी किये जा सके और उनके जाने पर हडताल टूट भी गयी, लेकिन ऐसे अवसरो के लिए दिनकर को उत्साह नही रहता। वे इन कामो को बहुत ही छोटा और तुच्छ समझते है। वे राजनीति मे रह कर भी लीडरी से दूर भागेगे—बहुत दूर।

साहित्यिक को राजनीति मे पडना चाहिये या नही, यह विवाद की बात है। लेकिन, मेरा ख्याल है, राजनीति साहित्यिक से चलती नही। बहुत सम्हल कर चलने पर भी साहित्यिक अच्छी और सच्ची बात बोल ही देता है, किन्तु राजनीति मे यह दोष गिना जाता है। बिहार के बारे मे मशहूर है कि वहा राजनीति जाति के आधार पर चलती है। दिनकर भूमिहार ब्राह्मण है। बिहार के दिवगत मुख्यमन्त्री बिहार-केसरी डा० श्रीकृष्ण सिह भी इसी जाति के थे। सन् १९५७ मे सार्वजनिक चुनाव के बाद नेता के चुनाव मे श्री बाबू के प्रतिद्वन्द्वी बिहार-विभूति स्व० डा० अनुग्रहनारायण सिह हुए। दिनकर दोनो के स्नेहभाजन थे। चुनाव के लिए वे दिल्ली से दौडकर पटना भी आये। पर जब चुनाव समाप्त हो गया और श्री बाबू विजयी घोषित हो गये, तब दिनकर ने बधाई देते हुए श्री बाबू से निवेदन किया कि आप अभी भारी सुयश मे हैं। बुढापे मे आपके मित्र ने आपके साथ सघर्ष लिया और भगवान् ने विजयी बनाकर आपको सुयश दिया। अब उचित यह होगा कि आप अनुग्रह बाबू को बुलाकर कह दीजिये कि मुख्य मन्त्री का कार्य वे ही सम्हाले और आप अवकाश ग्रहण करके दूसरे कामो मे लगे। आपके अवकाश-ग्रहण का इससे और सुन्दर अवसर नही आने का। इसमे आपका यश और काग्रेस का कल्याण है। सारे देश को रोशनी मिलेगी। मगर, श्री बाबू पर इस नेक सलाह की प्रतिक्रिया अच्छी नही हुई। यद्यपि उन्होंने तब भी दिनकर का साथ नही छोड़ा। मगर राजनीति मे ऐसी सलाह के दण्ड कई रूपो मे प्रकट होते है।

गांधीवाद का प्रभाव

सन् १६२० मे १२ साल की उम्र मे दिनकर ने राष्ट्रीय पाठशाला मे नाम लिखाया था। उसी क्रम मे दिनकर के भीतर राष्ट्रीयता अंकुरित और पल्लवित हुई। सन् १६३० मे नमक सत्याग्रह मे उन्होने ३–४ महीने काम भी किया था। लेकिन, जेल न जाकर वे पुन पढने को कालेज लौट आये। नमक सत्याग्रह के समय दिनकर ने एक कविता लिखी थी, जिसमे यह पद था—

यह विस्मय बड़ा प्रबल है,
बल को बलहीन रिझाते।
मरने वाले हँसते है,
आँसू है, बधिक बहाते॥ (सन् १६३०)

फिर, जब बापू ने पूना मे ऐतिहासिक अनशन किया था, तब दिनकर की एक कविता 'विशाल भारत' मे छपी थी। इसमे एक पंक्ति थी—"ईसा चढा क्रूस पर फिर से, दैव हाय, कल्याण करे।" किन्तु इसके पहले तक और कोई कविता उन्होने गाधी जी पर नही लिखी थी। उनकी असली भक्ति हिंसात्मक वीरो पर थी। अशफाक की शहादत पर दिनकर की एक मार्मिक कविता 'युवक' (पटना) मे छपी थी। 'युवक' मे ही उनकी मशहूर 'बागी' शीर्षक रचना भी छपी थी। यह रचना यतीन्द्रनाथ दास की शहादत से प्रभावित थी। 'हुकार' की कविताओ का स्वर अहिंसात्मक नही है। सन् १६२६ में दिनकर ने एक कविता वायसराय की घोषणा पर लिखी थी। यह 'विशाल भारत' से लौट आई यद्यपि उस समय की परिस्थिति के अनुकूल जोश-पूर्ण होने के कारण हम लोगो को रचना बहुत पसन्द थी। राजनीति में दिनकर की मैत्री या सगति भी उन लोगो से थी जो आगे चल कर साम्यवादी या समाजवादी हो गये। जहा तक मुझे याद है, सन् १६४७ के पूर्व तक दिनकर ने गाधी को कविता मे लाने का प्रयास नही किया। और सन् १६४७ में भी उनकी कल्पना तब उद्वेलित हुयी जब गाधी जी हिन्दू-मुस्लिम खूंरेजी के बाद अकेले नोआखाली पहुच गये। हमारी जानकारी मे गाधी जी पर जितनी भी कविताए लिखी गयी, ओज की दृष्टि से दिनकर की कविता उनमे सर्वश्रेष्ठ है। किन्तु, दिनकर बराबर कहते रहे, यह मेरा गाधी है, कांग्रेस वालो का नही, खुद गाधी का गाधी भी नही। यह वह गाधी नही, जैसा वह खुद है। यह वह गाधी है, जैसा उसे मैं देखना चाहता हूं।

दिनकर ने जब बापू कविता लिखी गाधी जी बिहार आये हुए थे और वहा बहुत दिन टिके रहे थे। इस बीच यह कविता गाधी जी के साथ विचरने वाले

बगाल के श्री निर्मल कुमार बोस ने सुनी, हुनर ने सुनी, मृदुला बहन साराभाई ने सुनी, तथा गाधी जी के दल के अन्य लोगो ने भी सुनी । मृदुला जी ने कहा, बापू के मन की ठीक यही दशा थी, जब वे नोआखाली के लिए रवाना हुए थे । मृदुला जी ने बार-बार आग्रह किया कि यह कविता दिनकर बापू को सुना दे, लेकिन दिनकर इसके लिये तैयार नही हुए। एक रोज प्रार्थना-सभा मे दिनकर मौजूद थे । प० गिरीश तिवारी (आजकल बिहार के एक मन्त्री) ने बहुत चाहा कि वे अपनी कविता प्रार्थना-सभा मे सुना दे कि बापू भी सुन ले। लेकिन दिनकर यहा भी राजी नही हुए । उन दिनो मै दिनकर के साथ ही ठहरा हुआ था । मैने बहुत फटकारा कि जिस-तिस को रचना सुनाने मे आनन्द आता है और गाधी जी को तुम सुनाना नही चाहते । तब दिनकर ने अपनी कमजोरी बतलाई । बोले, गाधी को अपना यह रूप पसन्द नही आयेगा । गाधी जी अहिसक जितने भी हो, मगर उनकी दृष्टि आरपार देखती है । मेरे हृदय की कटुता इस कविता मे भरी है । गाधी जी से वह छिपेगी नही । अगर उन्होने सार्वजनिक रूप से मेरी निन्दा कर दी तो हतप्रभ हो जाऊगा । इसलिये, गाधी जी को यह रचना नही सुना सकता ।

जब 'कुरुक्षेत्र' प्रकाशित हुआ था (सन् १९४६) तब उसकी भूरि-भूरि प्रशसा हुई थी । किन्तु, राजेन्द्र बाबू ने 'कुरुक्षेत्र' पर कोई सम्मति नही भेजी । यद्यपि इसके लिए दिनकर ने काफी प्रयास किया था ।

शुद्ध अहिसावादी तो शायद गाधी जी को छोड कर और कोई था ही नही, लेकिन जो लोग वचन से अहिसा के समर्थक थे, उनका समर्थन दिनकर भी वचन से ही करते थे । दिनकर का हार्दिक समर्थन तो उन नवयुवको को प्राप्त था जो काग्रेस के आफीसियल (सत्तारूढ) दल के विरुद्ध लडते थे । जब सन् १९३७ मे काग्रेसी मन्त्रिमण्डल बना तब दिनकर की 'अनल किरीट' कविता निकली । उसमे ये पक्तिया आती है—

ओ मदहोश बुरा फल है, सूरों का शोणित पीने का,
देना होगा तुम्हे एक दिन गिन-गिन मोल पसीने का ।"

उस समय लोगो ने समझा था कि यह चोट सरदार वल्लभ भाई पटेल और उनके दल वालो पर थी ।

सन् १९४६ मे जब श्री जयप्रकाश नारायण जेल से भागने के बाद पहले पहल प्रकट हुए, तब उनका बृहत् स्वागत पटना के मैदान मे किया गया । उस सभा के सभापति तत्कालीन मुख्यमन्त्री डा० श्रीकृष्णसिंह थे । उस सभा मे दिनकर ने अपनी 'जयप्रकाश' नामक कविता पढ कर सुनाई थी । जनता तो

उस कविता को सुनकर उत्साह से गरजने लगी, लेकिन सरकार की आखो मे दिनकर दोषी बन गये। खासकर निम्नलिखित पक्तियो को सुनकर लोगो ने समझा कि दिनकर श्रीकृष्णसिह की जगह पर जयप्रकाश को देखना चाहते है—

"सेनानी करो प्रयाण अभय,
भावी इतिहास तुम्हारा है।
ये नखत अमा के बुझते हैं,
सारा आकाश तुम्हारा है॥"

दिनकर को डेढ साल नौकरी से अलग छुट्टी पर रहना पडा था। उस समय यह कहा जाता था कि श्री बाबू इसलिये नाराज है कि अग्रेजी सरकार दिनकर का तबादला जब युद्ध के प्रचार-विभाग मे कर रही थी, तब दिनकर ने नौकरी से इस्तीफा क्यो नही दे दिया। लेकिन, कुछ जानकार यह मानते थे कि सारी नाराजगी की जड उनकी 'जयप्रकाश' नामक कविता है, जो सत्तारूढ़ काग्रेस दल के खिलाफ पडती है।

स्वय दिनकर ने मुझे १९५३ मे बताया था कि मोरारजी भाई ने उनके मुख से जब 'कुरुक्षेत्र' काव्य सुना, तब उन्होने कहा, "आप तो कम्युनिस्ट मालूम होते है। आप हिसा मे विश्वास करते है?" दिनकर ने जवाब दिया, 'इतनी हिसा के बिना तो १९४२ का आन्दोलन भी गलत था।'"

* * *

दिनकर के व्यवसाय और जीवन का सब से बडा कलक माना जाता है युद्ध-प्रचार-विभाग मे नियुक्ति की स्वीकृति। उनके पास अपने इस कार्य के लिए एक उत्तर है। उस समय कुछ पारिवारिक कारण आ पड़े थे, जिससे उनका साहस टूट गया था, लेकिन उनकी आत्मा ने उसके औचित्य को कभी स्वीकार नही किया। उनके युद्ध-प्रचार-विभाग मे, जाने के बाद शत्रुओ की तो बात ही क्या अनेक मित्रो और प्रशंसको की प्रतिक्रिया भी इतनी खराब रही कि वे घबरा गए। उनके विचार से अपनी आत्मा को दबाने के प्रयास में उनको जिस निराशा और अवसाद का सामना करना पड़ा उसी के कारण वे मधुमेह रोग से ग्रस्त हुए।

दिनकर जी का विश्वास है कि व्यवसाय और साहित्यसर्जना को एक-दूसरे का पूरक नही बनाया जा सकता, उनकी यह उक्ति अपने अनुभवो पर आधारित है। कम से कम काव्य-रचना का काम उन्हे सर्वत्र ही कठिन मालूम होता रहा है। जब वे अध्यापक थे तब भी "कविता आनन-फानन नही लिख सकते

थे ।" वही हाल सब-रजिस्ट्रारी मे भी रहा, प्रचार-अफसरी मे भी और प्राध्यापकी मे भी, ससद मे आने पर भी वही हाल है। कालेज मे पढाते समय उन्हे ऐसा अनुभव हुआ कि इतिहास और आलोचना के क्षेत्र मे काम करने वालो के लिए कालेज बहुत ही अनुकूल क्षेत्र है, लेकिन कविता के लिए वह बहुत अनुकूल नही है। विभागाध्यक्ष या प्रधानाचार्य होकर कविता को जीवित रखना अत्यन्त कठिन है। इस प्रकार उनके व्यक्तित्व मे व्यावसायिक दिनकर अलग है और साहित्यकार दिनकर अलग। उनके व्यक्तित्व का जो पक्ष पहले नौकरी करता था वह अब ससद की सदस्यता कर रहा है, जो साहित्य लिखता था वह साहित्य की रचना कर रहा है। ससद मे आने के १० साल बाद भी दिनकर का साहित्यकार सक्रिय और सजग है। सामान्यत. राजनीति साहित्यकार को निगल जाती है, परन्तु दिनकर उसके अपवाद है, इसका कारण यही है कि उनके व्यक्तित्व के ये दोनो अश एक दूसरे के पूरक नही है, दोनो का अस्तित्व अलग-अलग है और उनकी दृष्टि इस विषय मे बिल्कुल स्पष्ट और निर्भ्रान्त है। फिर भी इस विषय मे उनके मत का साराश यह है कि आज से तीस-चालीस वर्ष बाद किसी प्रसिद्ध कवि को लोग ससद मे नही ला सकेंगे। राष्ट्रपति मनोनीत कर देंगे फिर भी उसमे ससद मे आने का उत्साह नही रहेगा और अगर वह कभी ससद मे आया भी तो यह घटना समाचार बन जायेगी।

काव्य-रचना की परोक्ष तथा अपरोक्ष प्रेरणाएं

सब से प्रथम ग्रन्थ जिसने आगे चलकर दिनकर के कवि-रूप के निर्माण मे योग दिया रामचरितमानस था। अन्य ग्रामो की भाति सिमरिया मे भी रामायण घर-घर धार्मिक ग्रन्थ के रूप मे पूज्य मानी जाती थी। बचपन मे उनके घर के दरवाजे पर लगभग नित्य ही रामायण का पाठ होता। वह लालटेन या मिट्टी के तेल के दिए के पास बैठ कर रामायण का सस्वर पाठ करते और उनके बड़े भाई उसका अर्थ कहते जाते। यह सिलसिला सालो तक चला लेकिन उन्हे यह कार्य कभी बोझ नही मालूम हुआ। रामायण का गान करने मे उन्हे स्वय आनन्द आता था और ग्राम के अन्य व्यक्तियो को उनका पाठ अच्छा लगता था इसलिए उन्हे और भी प्रसन्नता होती थी, परन्तु 'मानस' से उनको काव्य-सर्जना की कोई प्रेरणा मिली ऐसा नही कहा जा सकता। उस समय तो उनकी रुचि प्रायः वैसी ही थी जैसी कि गाव वालो की रुचि रामायण जैसे धर्म-ग्रन्थ मे हो सकती है।

कविता लिखने की मुख्य प्रेरणा उन्हे गाव की रामलीला और नौटकिया

देखकर उत्पन्न हुई। नाटक मे प्रयुक्त गीतो की तर्जों पर वे नये गीत लिख लेते। यह बातें प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के आसपास की है जब उनकी आयु लगभग आठ-दस साल की रही होगी। सन् १९२० ई० मे 'प्रताप' मे प्रकाशित 'एक भारतीय आत्मा' की कविता का उन पर बहुत प्रभाव पडा। यह कविता लोकमान्य तिलक की मृत्यु पर लिखी गई थी। इसे उन्होने उसी समय कठस्थ कर लिया। इसी कविता को हम दिनकर की काव्य-चेतना को उद्दीप्त करने वाली पहली कविता मान सकते है। इसके बाद ही उन्होने पत्र-पत्रिकाओ में ढूढ-ढूढकर कविता पढना आरम्भ कर दिया। देश मे असहयोग आन्दोलन चल रहा था और हर पत्रिका राष्ट्रीय गीतो से भरी रहती थी। उन दिनो जबलपुर से 'छात्र-सहोदर' नामक मासिक पत्र निकलता था जिसके सम्पादक कविवर अचल जी के पिता प० मातादीन शुक्ल थे। दिनकर जी के भाई श्री वसंत सिह जी इस पत्र के ग्राहक थे। दिनकर प्रति मास इस पत्र की बड़ी आतुरता के साथ प्रतीक्षा करते और नये अक को प्राप्त करते ही उसमे प्रकाशित राष्ट्रीय कविताओ को रट डालते। इसके उपरान्त वे समकालीन काव्य-ग्रन्थो की ओर उन्मुख हुए और इसी उत्साह मे भारत-भारती, जयद्रथ-वध, शकुन्तला और किसान का पारायण किया। सब से अधिक प्रभाव उन पर रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक' का पडा। उन्होने पथिक के अनुकरण पर वीरबाला और जयद्रथ-वध के अनुकरण पर 'मेघनाथ वध' नामक दो खण्ड-काव्य लिखना प्रारम्भ किया, लेकिन दोनो ही अधूरे रह गए। सर्गबद्ध खण्डकाव्य के रूप में उन्होने प्रथम काव्य-ग्रन्थ 'प्रण-भग' की रचना की।

जब दिनकर आठवी या नवी कक्षा मे पढ़ रहे थे 'सरस्वती', 'सुधा' और 'माधुरी' उन्हे यदा-कदा देखने को मिल जाती थी। 'मतवाला' वह नियमित रूप से पढते थे, इन्ही पत्रिकाओ के द्वारा उनका परिचय छायावादी कविताओ से हुआ जिसके लिए उन्होंने लिखा है कि "ये कवितायें मेरी समझ मे नही आती थी और मैं अधिकतर इस कविता का विरोध ही करता था।" सन् १९२८ ई० मे मुजफ्फरपुर मे अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन प० पद्मसिह शर्मा के सभापतित्व मे हुआ। उन्होंने छायावादी कविता की कठोर आलोचना की जिसके विरोध मे श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने छायावाद का पक्ष लेते हुए बडा ओजस्वी भाषण दिया, छायावाद को अधिक निकट से समझने की प्रेरणा दिनकर जी को यही से प्राप्त हुई।

मैट्रिक पास करके जब उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए दिनकर पटना गए तब नियमित रूप से हिन्दी पत्र-पत्रिकाये उन्हें प्राप्त होने लगी। उन दिनों

सारे साहित्यिक विवाद अधिकतर सुधा और माधुरी मे प्रकाशित होते थे। छायावादी कविता से परिचय बढने पर भी उसके प्रति 'निश्छल श्रद्धा' उनके हृदय मे नही उत्पन्न हो सकी। दिनकर के सस्कार तुलसी और कबीर की सहज गम्भीरता तथा प्रसाद गुण के आदी थे—छायावाद की दुरूहता के कारण वे उसके साथ एकात्म नही हो सके।

उस समय उनके सबसे प्रिय कवि थे मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और रामनरेश त्रिपाठी। कालेज जीवन मे उनका परिचय शेली और वर्डस्वर्थ से हुआ तथा बगला सीखकर उन्होने रवीन्द्र और नज़रुल की रचनाओ का अध्ययन किया। नौकरी करते समय उन्होने उर्दू सीखी और इकबाल तथा जोश के भक्त बन गए। अपने समसामयिक और परवर्ती कवियो मे से वे उन्ही के अधिक निकट दिखाई देते है जिनकी रचनाओ मे सहजता और सरलता अपेक्षाकृत अधिक है। उनकी "रुचिगत आत्मीयता भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र, बच्चन, नेपाली और नागार्जुन से ही बैठती है।" उनकी रुचि के आधार पर यह निष्कर्ष बडी सरलता से निकाला जा सकता है कि दिनकर आरम्भ से ही स्पष्टता के प्रेमी रहे हे। सबल और स्वच्छ अभिव्यक्ति से विहीन बारीक अनुभूतिया और भाव उन्हे नही जचते। वास्तव मे तथ्य यह है (जैसा उन्होने स्वय कहा है) कि जब उन्होने कविता लिखना आरम्भ किया उन्हे काव्य सम्बन्धी सिद्धान्तो का कोई विशेष ज्ञान नही था। कविता लिखने का उद्देश्य क्या होता है यह भी उन्हे ज्ञात नही था। सुन रखा था कि कविता करने के लिए छद, रस, अलकार और व्याकरण का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए, लेकिन दिनकर इस ओर से उदासीन ही रहे—और जागरूक होकर कवि बनने का प्रयत्न उन्होने नही किया। यही कारण है कि 'रेणुका' और 'हुकार' मे आलोचको को दिनकर की कविता मे शिल्प-तत्व के अभाव का भास हुआ। इन आलोचनाओ के फलस्वरूप उन्होने स्वाध्याय द्वारा अपनी कविता के अभाव को समझने का प्रयत्न किया। उन्होने लिखा है कि "बार-बार आजमाने पर मुझे यह पता लग गया कि कलाकार, कारीगर और पच्चीकार होने की क्षमता मुझमे नही है।" परन्तु उनकी यह उक्ति उनकी विनम्रता मात्र है—'उर्वशी' की चित्र-कल्पना, भाषा-सौन्दर्य और शब्दचित्रो को देखते हुए निर्भ्रान्त यह कहा जा सकता है कि उनकी रचनाओ मे द्विवेदीयुगीन और छायावादी कविता के गुणो का समन्वय और उनकी सीमाओ का तिरस्कार हुआ है। 'रेणुका' और 'हुकार' के रचनाकाल मे इसका बिल्कुल अभाव है, ऐसा भी नही कहा जा

सकता । तत्कालीन काव्य-सृजन की प्रक्रिया का उन्होने स्वय विश्लेषण किया है । "उन दिनो प्रेरणायें मेरे भीतर बडे जोर से आती थी और मैं सजाव-सवार का बहाना बना कर उनको रोक नही पाता था । मैं मकान खडा करने के काम मे इतना व्यस्त हो जाता था कि पत्थरों को छेनी और हथौडी से गढने या विकास करने का कार्य मुझे अप्रिय और फालतू सा लगता था । 'रेणुका' से लेकर 'कुरुक्षेत्र' के काल तक मेरी कल्पना का यह हाल था कि वह प्रतियोगिता के रस्से के समान तनी होती थी और मैं समाधि की उस अवस्था मे निमग्न रहता था जो भीतर से चौगुनी जाग्रत और बाहर से निस्पन्द होती है । भाव जब सुस्पष्टता से अनुभूत होते है तब अभिव्यक्ति में सफाई अपने आप आ जाती है ।"

भाव-समाधि दिनकर की सृजन-प्रक्रिया मे प्रधान स्थान रखती है । भावो की स्वच्छ अनुभूति के लिए वह देर-देर तक ध्यान-योग मे लीन रहते है और कविता लिखना तभी आरम्भ करते है जब उन्हे इस बात का विश्वास हो जाता है कि वे भावो को ठीक-ठीक समझ गए है । कविता लिखने की प्रेरणा प्राप्त करते ही वे प्रयत्नपूर्वक अपने को एक अचेतन-उन्माद की स्थिति मे पहुचा देते है, जिसकी अलौकिकता की अनुभूति मे वे किसी अज्ञात सत्ता के अधीन हो जाते थे । उनके विचार से अभिव्यक्ति की स्वच्छता स्वय ही सौन्दर्य है ।

दिनकर के अनुसार शैली भावो से सर्वथा भिन्न वस्तु नही होती । उनके शब्दो मे "भावो को हम जिस रूप मे प्राप्त करते है, उन्हें जिस शीतलता या ताप के साथ, जिस धूमिलता या स्पष्टता के साथ अथवा जिस उद्वेलित या शमित मनोदशा मे ग्रहण करते है, वही मनोदशा हमारी शैली बन जाती है । और चूकि मेरी कल्पना रस्से के समान इच-इच तनी होती थी इसलिए शब्द भी मुझे वे ही पसन्द आते थे जो इस तनाव को अभिव्यक्त कर सकें । कविता लिखते समय मेरी मनोदशा कैसी होती थी, इसका कुछ अनुमान सहृदय इस बात से लगा सकते है कि प्राय: ही रचना के समय मुझ मे सात्विक भाव (रोमांच, अश्रु, वैवर्ण्य, स्वेद आदि) जाग उठते थे और एक रचना पूरी करते-करते उनकी कई नई आकृतिया हो जाती थी । और यह भी सत्य है कि मेरी जिन कविताओ से पाठक और श्रोता सब से अधिक आन्दोलित हुए, वे ठीक वे ही कविताए हैं जिनकी रचना के समय मैंने सात्विक भावो का सबसे अधिक अनुभव किया था ।"

उनका विश्वास है कि वे 'उर्वशी' के कवि की अपेक्षा 'कुरुक्षेत्र' के कवि के रूप मे अधिक याद किए जाएगे । "रसवती मुझे बहुत प्यारी है, नील कुसुम भी—उर्वशी तो है ही ।" चीन के आक्रमण के बाद 'उर्वशी' सुनाना ही उन्होने

बन्द कर दिया है। अब वह 'परशुराम की प्रतीक्षा' को ही समय की माग समझते है। उनका कहना है "मेरी प्रिय रचना अभी लिखी ही नही गई—जब मैं 'रिल्के' के भाव को तुलसी की भाषा मे लिख सकूगा तभी अपने को सिद्ध कवि मान सकूगा।"

साहित्यिक सम्मान

सन् १९५९ मे दिनकर की साहित्यिक सेवाओ के पुरस्कार स्वरूप उन्हे राष्ट्रपति द्वारा पद्मभूषण की उपाधि प्रदान की गई। सन् १९५३ मे उनके ग्रन्थ 'सस्कृति के चार अध्याय' पर साहित्य अकादमी ने राष्ट्रीय पुरस्कार दिया। सन् १९६२ मे भागलपुर विश्वविद्यालय ने उन्हे डाक्टर आफ लिट्रेचर की (आनरिस कौजा) उपाधि दी। इसके अतिरिक्त समय-समय पर भारत सरकार, उत्तर प्रदेश सरकार, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, साहित्यकार-ससद, इलाहाबाद, तथा बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना द्वारा उनको अनेक पुरस्कार प्राप्त हुए, नागरी प्रचारिणी सभा का द्विवेदी पदक उन्हे दो बार मिला। पहले 'कुरुक्षेत्र' के लिए फिर 'रश्मिरथी' के लिए। 'कुरुक्षेत्र' पर साहित्यकार ससद, प्रयाग द्वारा पुरस्कृत किए जाने के अवसर पर सन् १९४९ ई० मे प्रयाग की गंगा की सैकत भूमि पर साहित्यिको द्वारा सम्मान-समारोह का आयोजन किया गया। इसका सभापतित्व राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने किया था तथा हिन्दी के प्रतिष्ठित कवियो ने उसमे भाग लिया था जिनमे मुख्य थे सर्वश्री सुमित्रानन्दन पत, महादेवी वर्मा, डा० रामकुमार वर्मा, 'हितैषी', श्री नारायण चतुर्वेदी, रायकृष्णदास। इसी अवसर पर इलाहाबाद की 'परिमल' की ओर से अलग मानपत्र भी दिया गया था।

इसी प्रसग मे दिनकर जी की कृतियो का विदेशी और अन्य भारतीय भाषाओ मे जो आदर हो रहा है इसका उल्लेख कर देना भी समीचीन जान पडता है। जापान से निकलने वाले अग्रेजी पत्र 'Orient West' मे कलिंग विजय का अनुवाद प्रकाशित हुआ। 'United Asia' मे उनकी आठ कविताओ का अनुवाद छपा। रूस के 'विदेशी साहित्य ग्रन्थमाला' के अन्तर्गत उनकी कविताओ के सकलन का रूसी अनुवाद १९६३ मे प्रकाशित हो रहा है। 'सस्कृति के चार अध्याय' के प्राचीन खण्ड का अनुवाद जापानी भाषा में हुआ है। इसके अतिरिक्त 'कुरुक्षेत्र' का अनुवाद भी विभिन्न भारतीय भाषाओ मे हो रहा है। कन्नड और तेलुगु मे वह प्रकाशित हो चुका है।

विदेश-भ्रमण

१९५५ मे दिनकर ने वारसा (पोलैण्ड) के अन्तर्राष्ट्रीय काव्य-समारोह मे भारत का प्रतिनिधित्व किया। कुरुक्षेत्र के छठे सर्ग का अनुवाद पोलिश भाषा मे हुआ। वहा की जनता ने उसका जोरदार स्वागत किया। पोलैण्ड से लौटते हुए वे इगलैण्ड, फ्रास, स्विटजरलैण्ड और मिस्र भी गए। जहा काहिरा की साहित्य-गोष्ठी मे डा० ताहा हुसेन भी आए हुए थे। सन् १९५७ ई० में उन्होने चीन के लेखक-सघ के निमन्त्रण पर चीन का भ्रमण किया, वहा के अनेक नगरो मे गए, अनेक कवियो, उपन्यासकारो और नाटककारो से भेंट की। उनसे मिल कर उन्होने चीन के प्रति एक मूल धारणा बनाई कि चीन मे धर्म की रेखा कभी नही रही होगी, वहा की दृष्टि अनाध्यात्मिक है। इसी दौरान मे उन्होने बर्मा और थाइलैण्ड के साहित्यकारो से भी भेंट की। चीन में जिन मुख्य साहित्यकारो से उन्होने भेंट की उनके नाम है—ली-ची, सिग-ए—नाटककार, चाग-को-श्या, हो-चीन-फान, ला-ओ-से, तैन चिन, वा लिन।

सन् १९६१ मे विविध भारतीय भाषाओं के साहित्यिको के प्रतिनिधि मण्डल के साथ उन्होंने रूस का भ्रमण किया। इस प्रतिनिधि मण्डल मे श्री उमाशकर जोशी गुजराती का, जियालाल कौल कश्मीरी का, वरदराजन तमिल का तथा सागर निजामी उर्दू का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। दिनकर जी ने इस प्रतिनिधि मण्डल का नेतृत्व किया था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है रूस में दिनकर के साहित्य का बड़ा मान है। उनकी अनेक कविताओं का अनुवाद रूसी भाषा मे हो चुका है।

व्यक्तित्व

दिनकर के व्यक्तित्व मे धरतीपुत्र का आत्मविश्वास और दृढता, साहित्यकार की अनुभूति-प्रवणता, दार्शनिक का तत्वचिन्तन तथा राजपुरुष का ओज और तेज है। दूसरे शब्दो मे उनके जीवन की कहानी हल, हँसिया, लेखनी और पार्लियामेण्ट की बैठको की कहानी है। उनके बाह्य व्यक्तित्व में भी क्षत्रिय का तेज, ब्राह्मण का अह, परशुराम का गर्जन और कालिदास की कलात्मकता है। उनके इसी व्यक्तित्व के कारण निराला जी उन्हे 'ईरानी' कहा करते थे। गौर वर्ण, उन्नत मस्तक, आर्य नासिका, तेजपूर्ण नेत्र और ऊचे कद के साथ लम्बी पतली उगलियो का सामजस्य ऐसा बैठता है कि उनके कविता पाठ करते समय ऐसा मालूम पडता है जैसे यह परशुराम केवल गरज सकता है फरसा उठाने की सामर्थ्य उसमे नही होगी। उनके हाथ तो लेखनी पकड़ने के लिए ही बनाए

गए जान पडते है।

मैने दिनकर को पहली बार लगभग पन्द्रह बीस-साल पहले लखनऊ मे आयोजित कवि-सम्मेलन मे देखा। लखनऊ के सैलानी विद्यार्थियो के बीच उनका दृढ पौरुष और ओजपूर्ण व्यक्तित्व अलग ही दिखाई दे रहा था। उनका अह करीब-करीब दम्भ सा प्रतीत हो रहा था। हम विद्यार्थियो की ओर वह ऐसे देख रहे थे जैसे कोई गन्धर्व ऊचे उडते विमान पर से नीचे के क्षुद्र महत्वहीन कीडे-मकोडो को देख रहा हो। छात्रा-श्रोताओ की ओर उनका रुख ऐसा था जैसे वह वर्ग वहा अनधिकार बैठा हुआ हो। इसीलिए बहुत दिनो तक विद्यार्थी उनके कविता पाठ की प्रशसा 'शानचू कवि की कविता' कह कर किया करते थे। एक तो कवि-सम्मेलन, दूसरे विद्यार्थी श्रोता, बार-बार उठने का निर्णय करके भी हम छात्राए दिनकर की कविता सुनने का मोह छोड सकने मे असमर्थ हो रही थी—(उन दिनो छात्राओ के बैठने का स्थान सब से अलग होता था और वे प्रोफेसर के आने के बाद ही छात्रो के साथ अपने लिए सुरक्षित सीटो पर जाकर बैठती थी) इतने मे ही दिनकर अपनी 'ठवनि' मे मच पर आए। कक्ष मे उनका स्वर गूज उठा—

"जयप्रकाश, जय जयप्रकाश"

और उसके बाद उनकी कविताओ का वह समा बधा जो कभी भुलाए नही भूल सकता।

अब तक दिनकर-साहित्य के नाम पर मेरा परिचय केवल "मेरे नगपति मेरे विशाल" तक ही सीमित था। कवि-सम्मेलन के बाद लायब्रेरी से उनकी रेणुका और हुकार कुछ सहपाठी साथ-साथ लाये, उन्हे उल्टे-सीधे स्वरो मे चिल्ला कर गाकर पढा, और उसके बाद बात आई गई हो गई।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् दिनकर पार्लियामेट मे आये। परन्तु 'प्रथम दर्शन' के गहरे आतक के कारण उनके साहित्य के प्रशसको को भी उनके निकट जाने की हिम्मत मुश्किल से ही पडती है, वही हाल मेरा हुआ। साहित्यिक और कवि सम्मेलनी मचो के द्वारा ही कवि से परिचय रखने वाले के हृदय पर उसी विशिष्टता का प्रभाव अब भी पडता है। विशिष्ट होना एक बात है लेकिन कभी-कभी दूसरो को ऐसा लगता है कि दिनकर अपनी विशिष्टता को जानते है। उनका गर्वोन्नत मस्तक बोलता हुआ जान पडता है—"अपने समय का सूर्य हूं मैं"। हो सकता है इसका कारण उनका अपने व्यक्तित्व, जीवन-दृष्टि और विचार-दर्शन के प्रति निर्भ्रान्त आत्म-विश्वास हो। दिनकर के साहित्यिक व्यक्तित्व का विश्लेषण इस प्रसग मे मेरा अभीष्ट नही है परन्तु अनेक बार

ऐसा लगता है कि कुरुक्षेत्र के भीष्म, रश्मिरथी के कर्ण, और आज के परशुराम दिनकर के व्यक्तित्व के ही अश है। आत्माभिव्यक्ति-प्रधान रसवती का रूमानी रागी और 'उर्वशी' का पुरुरवा तो उनका अपना अश होगा ही। ओज और कोमलता का ऐसा साथ, साहित्य और व्यक्तित्व दोनो मे जरा कम ही मिलता है। वाल्मीकि की करुणा और दुर्वासा सा क्रोध उनके व्यक्तित्व मे साथ-साथ विद्यमान है।

दिल्ली मे अधिकतर मैंने उन्हें दद्दा (राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त) की बैठक मे ही देखा है। दद्दा ही एक ऐसे व्यक्ति हैं जिनके सामने मैंने दिनकर के स्वर को बिना दृढता खोये हुए धीमा होते देखा है। दद्दा के प्रति श्रद्धा और विनय उनकी असहमति और मत-वैभिन्न से भारी पडती है। अपने समवयस्क सहयोगियो के सामने न उनकी वाणी की प्रखरता कम होती है, न वे अपना मत बदलते है। बहस की गर्मागिर्मी मे व्यंग्य, उपहास, और विनोद सभी का प्रयोग करके वह अपनी बात को ही ऊपर रखते है। उससे नीचे के तबके के लोगो को तो वह केवल आज्ञा दे सकते है। तटस्थ दर्शक का भाव उनमे तब तक आ ही नही सकता, जब तक कि वे जानबूझ कर ही चुप रहने का निर्णय न कर ले।

दीर्घकाल से मधुमेह से पीड़ित होने के कारण कभी-कभी उन पर अवसाद का एक झीना आवरण छा जाता है। उन क्षणो मे भी उनमें दैन्य या उदासी नही होती, वे थके सिह से दिखाई पडते हैं। मुझे याद है कुछ वर्ष पहले दद्दा की बैठक मे सोफासैट की पीठ के सहारे लेटे हुए, उन्होने कहा था—"अब क्या करना है। शरीर रोगी हो गया है तो रहे, उर्वशी काव्य पूरा करना चाहता था कर लिया।" आज सबको ज्ञात है कि उर्वशीकार, अप्सरा लोक को छोड़ कर फिर अपनी पूर्व अग्नि भूमि पर उतर आया है, आज के संकट काल मे, 'परशुराम की प्रतीक्षा' को उनके अवतरण में परिणत करने के लिए दीर्घकाल तक राष्ट्र को उनकी आवश्यकता रहेगी।

दिनकर मूलत. भावप्रवण व्यक्ति हैं। अधिकतर उनकी प्रतिक्रियायें विवेकात्मक न होकर भावात्मक होती हैं इसी कारण उग्रता के प्रति उनका सहज आकर्षण रहा है। भावना-प्रधान व्यक्तित्व होने के कारण ही उनकी बौद्धिकता तथा सहज प्रतिक्रियाओ मे प्राय: विरोध चलता रहता है, और हर समस्या पर दोनो ही पक्ष की मान्यतायें टकराती रहती हैं। परिस्थितिया उनकी भावनाओ को उत्तेजित करने में बिजली के स्विच का काम करती हैं। इस उग्रता के साथ उनका सम्पर्क बौद्धिक अधिक होता है व्यावहारिक कम। वे

कर्त्ता कम है द्रष्टा अधिक । परिस्थितियो की भाति ही व्यक्तित्वो के प्रति भी उनकी प्रतिक्रियाये भाव-प्रधान ही होती है । इस प्रसग मे उन पर श्री जय-प्रकाश नारायण के व्यक्तित्व के प्रभाव का उल्लेख किया जा सकता है । जिस युग के उदीयमान नेता श्री जयप्रकाश नारायण थे दिनकर उसी युग के उदीय-मान कवि थे । युवक सघ के सम्पर्क के कारण वे एक दूसरे के निकट आये । दिनकर बहुत दिनो तक अन्ध श्रद्धा-भक्ति के साथ उन्हे देवता के समान पूजते रहे ।

सवेदनशीलता और द्रवणशीलता भी उनके व्यक्तित्व मे सामान्य से अधिक है । एक बार श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के अध्ययन कक्ष मे टगे हुये 'चन्द्र शेखर आजाद की गिरफ्तारी का चित्र देखकर अन्य लोग उस घटना का वर्णन-विवेचन कर रहे थे, लेकिन, दिनकर की आखो से अविरल अश्रुधार बह रही थी । चर्चा बन्द हो गई लेकिन उनके आसुओ का प्रवाह चलता ही रहा । इसी प्रकार दिल्ली मे आयोजित निराला-जयन्ती समारोह मे सभापतित्व करते हुये उनकी सवेदनात्मकता का दूसरा उदाहरण सामने आया । श्री शिवमगल सिह 'सुमन' द्वारा 'जुही की कली' के पाठ का वह झूम-झूम कर आनन्द ले रहे थे । उसके तत्काल बाद ही 'सरोज-स्मृति' कविता का पाठ आरम्भ हो गया और दिनकर भाव-विभोर होकर आखों पर रूमाल रख कर आसू पोछते रहे । कोमलता और शौर्य के जिस संगम की बात दिनकर बार-बार अर्ध-नारीश्वर के सिद्धान्त की चर्चा करते हुये करते है, वह मानो उनके व्यक्तित्व मे साकार मिलती है ।

अपने मित्रो से साधारण मन्त्रणा करते समय भी उनकी मुद्रा देखने योग्य होती है । मित्र के कान के पास मुह ले जाकर धीरे-धीरे जब वह बाते करते है तो मालूम पडता है नेहरू और पटेल कश्मीर-समस्या पर विचार-विमर्श कर रहे है अथवा चाणक्य चन्द्रगुप्त को कूटनीति का कोई भेद बता रहा है । दिल्ली मे दीर्घकाल से रहते हुये भी उनके व्यवहार मे कृत्रिम शिष्टाचार और आडम्बर नही आ पाया है । अन्तरंग मित्रों मे बात करते समय धरतीपुत्र की अनगढ अकृत्रिम मुद्रायें सहज हो उठती है ।

दिनकर का क्रोध

दिनकर के क्रोध की अनेक कहानिया है । उनके क्रोध का पात्र कोई कभी भी हो सकता है । क्रोध के समय वे छोटे, बडे, समवयस्क किसी का ध्यान नही रखते । लेकिन, क्रोध की लहर आकर चली जाती है, अपने पीछे कोई विष नही

छोड जाती। "इस स्थिति मे उन्हे बच्चो की तरह सम्हालना पडता है। जभी बच्चो की तरह उन्हे सम्हाला गया है, अवश्य सफलता मिली है। वैसे क्रोध का पहला विस्फोट तो उनका ऐसा होता है मानो वे पागल हो गये हो।"[1] उनके निकट मित्रो और सम्बन्धियो का ख्याल है कि दिनकर जितने क्रोधी अब हो गये हैं, उतने पहले नही थे।

दिनकर जी के क्रोध का अनुभव मुझे भी कई बार हो चुका है। एक बार दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दू कालेज मे 'उर्वशी' पर निबन्ध-प्रतियोगिता का आयोजन किया गया था। पुरस्कार वितरण के अवसर पर दिनकर जी सम्मान्य अतिथि के रूप मे निमन्त्रित किये गये थे। । उर्वशी पर अपना मत प्रकट करते-करते उन्होने उर्वशी सम्बन्धी डा० नगेन्द्र के कुछ मन्तव्यो की आलोचना करना आरम्भ कर दिया। डा० नगेन्द्र कुछ कहने के लिए तैयार नही थे, लेकिन श्रोताओ के अनुरोध पर उन्हे उठना पडा। वे दिनकर जी की उठाई हुई बातो का उत्तर देने लगे। डा० नगेन्द्र की बातो पर दिनकर जी को बडा क्रोध आया। सभापति के विलम्ब से आने के कारण संयोग से मैं ही दिनकर जी की पास की कुर्सी पर बैठी थी, मैं धर्मसंकट मे पड गई। एक ओर विभागाध्यक्ष के सम्मान का ध्यान दूसरी ओर सम्मान्य अतिथि का। मैंने बडी मुश्किल से दिनकर जी को सम्हाला। मेरे याचनापूर्ण अनुनय-विनय मे वे बडी कठिनाई से 'उर्वशी' का पाठ करने के लिए तैयार हुए और दूसरे ही क्षण उनका व्यवहार ऐसा हो गया जैसे कुछ हुआ ही नहीं।

दिनकर जी टेलीफोन पर 'कौन है' ऐसे बोलते हैं जैसे किसी सैन्य-चौकी पर तैनात हवलदार अप्रत्याशित रूप से आये हुये अपरिचित अभ्यागत से कडक पर पूछता हो 'हू इज देयर' और बोलने वाले को अपनी विनम्र आवाज मे उन्हे आश्वस्त करना पडता है 'मैं आपका कृपाभिलाषी हूं' 'आपकी दया चाहता हूं' 'मैं मित्र हूं'। दिनकर जी की टेलीफोन सम्बन्धी एक बडी रोचक घटना है। दिल्ली विश्वविद्यालय की एक छात्रा माया शर्मा मेरे निर्देशन मे एम० ए० की परीक्षा के लिए प्रबन्ध लिख रही थी। प्रबन्ध का शीर्षक था 'दिनकर का काव्य-शिल्प'। 'बारदोली-विजय' और 'प्रणभग' ग्रन्थ उसे मिल नही रहे थे। मैंने उसे सुझाव दिया कि वह दिनकर जी को पत्र लिख कर उनसे समय निश्चित कर ले और यदि ये ग्रन्थ उनके पास मिल सकें तो कुछ समय के लिए उनसे मांग ले। उसने उन्हे पत्र लिखा, कृपा और स्नेहपूर्ण उत्तर भी आया, वह बडी आश्वस्त हुई। पार्लियामेट आरम्भ होने पर दिनकर जी

१ श्री कामेश्वर शर्मा

दिल्ली आते है। यह सोच कर कि अब तक माया उनसे मिल चुकी होगी— मैंने उन दोनो ग्रन्थो के बारे मे पूछा। बडे ही संकोच और नैराश्य से उसने कहा, ये ग्रन्थ नही मिलते। मैंने आश्चर्य से पूछा दिनकर जी को फोन किया था ? और सहज बाल सकोच तथा भय से उसने डरते-डरते मुझे बताया 'दिनकर जी इतनी जोर से टेलीफोन पर बोले कि मुझे बडा डर लग गया, मैं उनके पास नही जा सकती।' मेरे बहुत समझाने पर भी वह फिर से दिनकर जी की गरजपूर्ण आवाज सुनने का साहस नही कर सकी और इन दोनो ग्रन्थो को अप्राप्त बता कर अपना काम चला लिया।

११, कैनिंगलेन के फाटक पर पहुचते ही पहली शका मन मे उठती है पता नही दिनकर जी ठीक मूड मे होगे या नही। यदि किसी दिन उनका दुर्वासा प्रबल रहा तो आगन्तुक को ड्राइग रूम में बैठकर इन्तजार करना पडता है, उनकी आज्ञा से, उनका सेवक उसे बुला कर कमरे मे ले जाता है और काम की बात सक्षिप्त रूप से समाप्त कर वह उम्मीद करते है कि अब आगन्तुक महोदय तशरीफ ले जाये। यदि नौकर मुस्कराता हुआ, उसे उनके कमरे में ले जाये तो समझना चाहिये देवता सीधे है। उनका व्यवहार भी उनके मूड पर ही निर्भर रहता है। दबे हुये क्रोध के कारण उनकी रूक्षता, उदासीनता, सतुलित और सीमित वार्तालाप से आने वाले को लगता है कहा आ कर फस गये ? और यदि वे प्रसन्न और प्रकृत हुये तो मालूम पडता है उनकी हसी से कमरे की दीवारे गिर पड़ेंगी।

दिनकर की रचनात्मक शक्ति विरोध और संघर्ष से उद्दीप्त होती है। उनके परिवार के एक प्रमुख सदस्य ने मुझे बताया कि जब वह पत्नी, पुत्र अथवा परिवार के किसी अन्य व्यक्ति या किसी मित्र पर नाराज होते है, तब दरवाजा बन्द कर खूब देर तक लिखते है। उनकी अनेक कवितायें नाराजगी के फलस्वरूप लिखी गई है। कभी-कभी वे मित्रो के आरोपो के उत्तर मे भी लिखी गई है। दिनकर जी ने बताया कि वे अधिकांश रचनाये एक ही बार मे पूरी कर लेते है। 'नई दिल्ली' कविता एक रात मे पूरी की। उनकी प्रसिद्ध कविता 'हिमालय' की रचना की कहानी भी बडी मनोरंजक है। हिमालय का विषय उन्हे अपने आप नही सूझा था। सन् १९३३ ई० मे वे भागलपुर गए हुए थे। उन्ही दिनो श्री काशीप्रसाद जायसवाल के सभापतित्व मे साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हो रहा था। उसी के अन्तर्गत आयोजित कवि-सम्मेलन मे कविता प्रतियोगिता का विषय दिया गया था 'हिमालय'। दिनकर जी अपने एक मित्र के यहा ठहरे थे। घर छोटा था। एक चार हाथ चौड़े बरामदे मे उनकी छोटी

खाट, आधी कमरे के भीतर और आधी बाहर पडी हुई थी। उसी टूटी चारपाई पर बैठ कर लालटेन पास रख के इतनी लम्बी कविता पूरी की। दूसरे दिन सम्मेलन मे उसे पढा और जनता ने बार-बार अनुरोध करके उसे सात बार सुना। इसी प्रकार उन्होने बताया कि यतीन्द्र मोहन दास के उपवास के दिन वह रात भर रोते रहे और पंक्तिया जोडते रहे। बिहार मे इसी कविता से उनका नाम प्रसिद्ध हुआ।

अपनी दिनचर्या की चर्चा करते हुए उन्होने कहा कि "जिन्दगी भर उमग रही कि सुबह उठू पर कभी नही उठ सका। ६ बजे के पहले कभी नही उठ सकता।" दिनकर का जीवन साधना और परिश्रम का जीवन रहा है। दिन मे जीविकोपार्जन के लिए कडा परिश्रम करना पड़ता—रात को अध्ययन और लेखन कार्य करते, इसीलिए प्रात काल जल्दी उठने मे कठिनाई होती। अब लगभग २० वर्षों से रोग पीछे लग गया है इसलिए सुबह उठने के बाद भी तैयार होने मे देर लगती है। परिस्थितियो के वश मे होने के कारण उनका जीवन नियमित कभी नही हो सका। सरकारी नौकरी करते समय कविता और काम साथ-साथ चल जाते थे। पटना मे भी साहित्य-रचना के लिए अवकाश मिल जाता है। कारण, "अहंकारी मित्र मेरे घर नही आते परन्तु दिल्ली में प्रातःकाल से ही मिलने वालो और टेलीफोन का सिलसिला शुरू हो जाता है। श्रेष्ठ कविता लिखने के लिए जो वातावरण चाहिए वह दिल्ली में नही मिल सकता, उन दिनो तो मैं चिट्ठी-पत्री से भी बचता हू, यहा तो कविता लिखने के लिए मूड बनाना पडता है गद्य का काम ठीक-ठीक चल जाता है।"

दिनकर जी बता रहे थे कि "मैं शुरू से ही खाऊ रहा हूं, जो चीजें मुझे अच्छी लगती है मैं उन्हे भरपेट खाना चाहता हू। परन्तु भोजन मैंने हमेशा नियमित रखा है।" इसी समय मेरे मन में एक प्रश्न आया। दस-बारह साल पहले दिनकर जी आकाशवाणी, दिल्ली द्वारा आयोजित कवि सम्मेलन मे अपनी कविता सुना रहे थे 'तान तान फरण व्याल कि तुझ पर मैं बांसुरी बजाऊं।' उनका मुह तमतमा रहा था, आखो मे एक सरूर था और माइक्रोफोन की उपस्थिति की परवाह न कर वे अपनी आदत के अनुसार जोर-जोर से बोल रहे थे—मेरी एक मित्र जो हर साहित्यकार के व्यक्तिगत जीवन को निकट से जानने का दावा करती हैं बोली 'इन्होने शराब पी रखी है।' मैंने शराब के नशे मे चूर व्यक्ति अपनी याद मे कोई नही देखा था, उनकी बात सुन कर मैं चुप हो गई। दिनकर जी ने जब अपने खान-पान की चर्चा चलाई मैं हिचकते हुए अपने मन का प्रश्न ज़बान पर ले आई। उनका स्पष्ट उत्तर था "मैं मदिरा नही

पीता। कभी भी नही पिया। एक-आध बार 'टोस्ट प्रपोज' करने के लिए मुह से ज़रूर लगा ली है इसलिए कसम नही खा सकता नही तो शराब तो मै छूता भी नही, छठे छमासे भी नही। इस तरह की कुछ अफवाहे मेरे कानो मे भी पडी थी लेकिन मै आपको विश्वास दिलाता हू कि मदिरा पीने की तो बात क्या मै छूता भी नही हू। शराब तो मैं उस गोष्ठी मे भी नही पीता जहा मित्र पीने-पिलाने मे बहुत आग्रह और उत्साह दिखाते है। १९५५ तक मास-मछली भी नही खाता था। परन्तु डाक्टरो ने उसे मेरे स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य बतलाया, इसलिए आत्मरक्षा के लिए आवश्यक समझ कर खाना शुरू करना ही पडा। तम्बाकू खाता हू और शायद खाता रहूगा। सिगरेट छोड दिया है बिल्कुल।" तम्बाकू की एक बडी मनोरजक घटना है। सन् १९४५ मे उदयपुर मे अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन हुआ था। दिनकर जी को उसके कवि सम्मेलन का सभापतित्व करना था। वे अध्यक्षीय भाषरा तैयार करके नही ले गए थे। प्रबन्धको ने भाषरा का होना आवश्यक बताया। दिनकर ५ बजे सन्ध्या से भाषरा लिखने बैठे और पन्नो पर पन्ने फाड-फाड कर फेंकते गए, पता चला बिना तम्बाकू के 'मूड' नही आ रहा है। पहले सिगरेट का कागज़ फाड़ कर तम्बाकू निकाली गई किन्तु उससे काम नही चला। ८ बजे रात मे सम्मेलन शिविर से प्रायः ३-४ मील दूर से तम्बाकू के पत्ते लाए गए तब उनका भाषरा पूरा हुआ।

दिनकर के व्यक्तित्व के समान ही उनका रहन-सहन और वेशभूषा भी विशिष्ट है। उनके कमरे की सुरुचिपूर्ण व्यवस्था मे कागजो की अव्यवस्था हर आने वाले का ध्यान आकर्पित करती है जिसमे जरूरी कागज़ खो जाते है और गैर जरूरी सामने रह जाते है। दिल्ली मे उनके पास एक कमरा रहता है। वही उनका अध्ययन कक्ष, मिलने-जुलने का कमरा और शयन-कक्ष है। वही वे अपने सारे काम निबटाते है। दीवान पर मसनद के सिरहाने दस या पन्द्रह की सख्या मे भिन्न-भिन्न प्रकार के कलम रखे रहते है, पता नही उनसे लिखने का चुनाव कैसे किया जाता है। लिखते भी वे उस क्लिप लगी लकडी की तखती पर है जिसे बच्चे इम्तहानी गत्ता कहते है। वेशभूषा मे श्वेत उनका प्रिय रग है। खद्दर का सफैद बुर्राक कुरता, धोती, जरी के किनारे का दुपट्टा उनकी प्रिय पोशाक है। छडी भी प्राय. साथ ही रहती है। विदेशी वेशभूषा शायद वे कभी पहनते हो। रूस जाते समय एक ओवर कोट बनवाया था लेकिन भारत लौटने पर उसे धूप के दर्शन नही होते। जरूरत पड़ने पर भी उसका उपयोग नही किया जाता। वस्त्रो के चुनाव मे सर्वत्र एक सुरुचि का आभास होता है। सर्दी

के दिनो मे विशेष कर जब उनमे कुछ विभिन्नता होती है अचकन के रग का ही मफलर उनके गले मे रहता है ।

काफी पीते हुए बातो के बीच मे दिनकर जी हंसते हुए बोले "मेरी जवानी के तीन आनन्द थे, रवीन्द्र की कविता, काननबाला का अभिनय और जलेबी ।" कहकहे से कमरा गूज उठा ।

मैने विनोद मे कहा, "अच्छा तो काननबाला की परिणति उर्वशी है ।"

"और जलेबी की परिणति यह सैक्रीन पडी काफी ।" हंसी से कमरा फिर भर गया लेकिन उसकी प्रतिध्वनि एक प्रच्छन्न अवसाद का प्रभाव मन पर छोड गई ।

द्वितीय अध्याय

दिनकर के राष्ट्रीय काव्य की पृष्ठभूमि

दिनकर की काव्य-चेतना हिन्दी-काव्य की विविध प्रवृत्तियो की लहरो के साथ न उठी और न गिरी। उसका एक मूल उत्स रहा है। हिन्दी के विविध वादो से अलग उसकी एक स्वतन्त्र सत्ता है। यहा तक कि उनकी राष्ट्रीय कवितायें भी उनके पूर्ववर्ती और परवर्ती कवियो की रचनाओ से भिन्न है। उनके पहले के राष्ट्रीय काव्य की मूल दृष्टि गाधीवादी थी। गाधी-दर्शन की रागात्मक अभिव्यक्ति के फलस्वरूप उसमे अहिसा, बलिदान, और समर्पण का भाव प्रमुख था। 'भारतीय आत्मा', मैथिलीशरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान की रचनाओ मे गाधी की अहिंसात्मक लडाई का व्यावहारिक व्याख्यान था। दिनकर की कविता इस पीढी की राष्ट्रीय कविता से अलग है क्योकि आरम्भ से ही उसमे गाधी-युग के उन युवको की विद्रोही और उग्र मनोवृत्तियो की अभिव्यक्ति हुई है जो दक्षिणपथी काग्रेसियो के विरुद्ध थे और जिनका प्रतिनिधित्व काग्रेस मे और उसके बाहर जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस तथा जयप्रकाश नारायण जैसे युवक कर रहे थे। उनकी राष्ट्रीय कविता अपने समसामयिक अन्य कवियो की रचनाओ के साथ भी नही रखी जा सकती क्योकि नरेन्द्र शर्मा, भगवती-चरण वर्मा, 'अचल' आदि की रचनाओ मे मार्क्सवादी भौतिक दर्शन को जो प्रधानता मिलती है वह दिनकर की रचनाओ मे प्रच्छन्न रूप से भी नही मिलती। 'कुरुक्षेत्र' भी अपनी परम्परा का एक ही काव्य है। युद्ध की समस्याओ पर विचार करते-करते दिनकर ने जो पक्तिया जोडी, उससे हिन्दी मे प्रथम युद्ध-काव्य की रचना हुई। 'रश्मिरथी' ही एकमात्र ऐसी काव्य-कृति है जिसे 'मैथिली-शरण गुप्त की काव्य-परम्परा' के अन्तर्गत रखा जा सकता है। यह तो हुई समष्टि-चेतना के काव्यो की बात। 'रसवन्ती' और 'उर्वशी' को भी काव्य-रूप की दृष्टि से चाहे किसी परम्परा मे रख दिया जाय लेकिन 'रसवन्ती' को छायावादी

और परवर्ती वैयक्तिक कविता के बीच की कडी के रूप में ही स्वीकार किय जा सकता है। उसे दोनो मे से किसी एक के अन्तर्गत नही रखा जा सकना। 'उर्वशी' नई कविता के युग मे लिखी गई पुरानी कविता होकर भी नई है। 'नील कुसुम' मे अवश्य दिनकर ने नए कवियो का 'पिछलगुआ' बनने का प्रयत्न किया है। लेकिन, पिछलगुआ बन कर रहना उनके वश के बाहर की बात है, और नई कविना के सस्कार अर्जित करने के लिए उनके परम्परावादी सस्कार तथा उनकी भारतीयता बाधक होगी, यद्यपि आजकल इस क्षेत्र मे वे नित नया योगदान कर रहे है।

दिनकर की काव्य-चेतना के दो प्रमुख रूप है

(१) व्यक्तिपरक

(२) समष्टिपरक

ये दोनो रूप एक दूसरे की प्रतिक्रिया मे आगे नही आये बल्कि दिनकर के व्यक्तित्व के ये दोनो अश साथ-साथ व्यक्त हुए है। हुकार और सामधेनी की आग, 'द्वन्द्वगीत' का धुआ और रसवन्ती का रस एक साथ एक व्यक्तित्व मे किस प्रकार पोषित और विकसित हुआ यह आश्चर्य का विषय है। लेकिन दिनकर की भावनाओ के इन सभी रूपो का सह-अस्तित्व सत्य है। 'रेणुका' से लेकर अब तक समष्टि और व्यक्तित्व उनकी कविता मे प्राय: साथ-साथ ही चलते रहते है, इसलिए उनकी काव्य-चेतना का विश्लेषण इन्ही दोनो विभाजनो के अन्तर्गत करना उपयुक्त होगा।

इस अध्याय मे दिनकर के समष्टि-चेतना के काव्य की प्रेरक परिस्थितियो और पृष्ठभूमि का विश्लेषण किया जा रहा है। कहने की आवश्यकता नही कि इस चेतना के मूल मे राष्ट्रीयता है। इस राष्ट्रीय चेतना के विकास के मुख्य तीन सोपान है (१) 'बारदोली विजय' से लेकर हुंकार तक की राष्ट्रीय-चेतना, जिसमे विद्रोह और क्रान्ति का स्वर प्रधान है (२) सामधेनी में व्यक्त राष्ट्रीय-चेतना, जिसमें गाधी-नीति, साम्राज्यवादी शोषण तथा अन्य महत्वपूर्ण राजनीतिक घटनाओ की अनुकूल और प्रतिकूल प्रतिक्रियाओ का चित्रण हुआ है। (३) स्वतन्त्रता के पश्चात् की राष्ट्रीय-चेतना जो अन्तर्राष्ट्रीयता, पचशील और मानवतावाद की ओर अग्रसर होते-होते चीनी आक्रमण के द्वारा फिर राष्ट्रीयता की ओर मुड गई है। इसलिए इन तीनो सोपानो की पृष्ठभूमि का विवेचन अलग-अलग किया जा रहा है।

दिनकर जी की माता जी

अपनी बडी पोती कल्याणी को प्यार करते हुए

१९३२ ई० मे दिनकर जी

उर्दू के कवि श्री जोश मलीहाबादी के साथ दिनकर जी

नेपाल यात्रा के समय · डा० शिवमंगल सिंह सुमन और श्री गिरिजाकुमार के बीच दिनकर जी (१९५६ ई०)

दिनकर जी, पण्डित नेहरू, श्री मैथिलीशरण जी और डाक्टर केसकर

बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के रजत-जयन्ती समारोह के सभापति के रूप मे ।

बाई से दाई ओर :— राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद, अर्थमन्त्री डा अनुग्रहनारायण सिह, श्री दिनकर जी राज्यपाल श्री आर आर दिवाकर, मुख्यमन्त्री डा श्रीकृष्णसिह और सम्मेलन के महामन्त्री श्री ब्रजशकर वर्मा

वारसा (पोलैण्ड) के अन्तर्राष्ट्रीय कवि-सम्मेलन मे काव्य-पाठ के बाद क्यूबा के विख्यात कवि श्री निकोलस गिलोन दिनकर जी से लिपट कर उन्हे बधाई देने लगे

मास्को के लेखक-सघ मे रूस के महाकवि श्री सुरकोव के साथ दिनकर जी । बाई ओर रूस के लेखक और भारतीय शिष्टमंडल के अन्य सदस्य खडे है (१९६१ ई०)

पोलैण्ड के राष्ट्रपति और रूसी राजदूत के साथ

पीकिंग (चीन) मे चीनी भाषा के प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री लाओसे के साथ
दिनकर जी (१९५७ ई०)

वारसा (पोलैण्ड) के अन्तर्राष्ट्रीय कवि-सम्मेलन मे काव्य-पाठ

वारसा (पोलैण्ड) के अन्तर्राष्ट्रीय कवि-सम्मेलन में काव्य-पाठ के बाद कवयित्रियो और प्रशंसको के बीच

यूरोप यात्रा से लौटने के बाद पटना रेलवे स्टेशन पर स्वागत। दिनकर जी के ठीक दाए श्री ब्रजकिशोर नारायण और पंडित शिवचंद्र शर्मा खड़े हैं

प्रधानमन्त्री के साथ वार्तालाप

राष्ट्रपति को 'संस्कृति के चार अध्याय' अर्पित करते हुए

राष्ट्रपति से पद्मभूषण का अलंकरण प्राप्त करते हुए

राजनीतिक परिस्थितियाँ

रेणुका और हुंकार के राष्ट्रीयगीतो की प्रेरक शक्तियां (१६२२-३८ ई०)

"मेरी कविता के भीतर जो अनुभूतिया उतरी वे विशाल भारतीय जनता की अनुभूतिया थी, वे उस काल की अनुभूतिया थी जिसके अक मे बैठकर मैं रचना कर रहा था। कवि होने की सामर्थ्य मुझमे शायद नही थी। यह क्षमता मुझमे भारतवर्ष का ध्यान करने से जागृत हुई। यह शक्ति मुझमे भारतीय जनता की आकुलता को आत्मसात् करने से स्फुरित हुई।"[1] दिनकर के उपर्युक्त कथन के प्रकाश मे उनके युग की परिस्थितियो का विश्लेषण उपयुक्त होगा।

दिनकर जी की राष्ट्रीयता गाधी-युग की विद्रोही राष्ट्रीयता है। सामान्यत भारतीय राष्ट्रीयता की परिभाषा काग्रेस की राष्ट्रीय नीति के घेरे मे आबद्ध करके की जाती है परन्तु वास्तव मे उसका विस्तार काग्रेस-नीति के घेरे से बाहर, कही अधिक है। दिनकर ने जब हिन्दी-काव्य-जगत् मे पदार्पण किया, भारतीय राजनीति मे एक हलचल मची हुई थी और सम्पूर्ण देश मे क्रान्ति की आग सुलग रही थी। काग्रेस के परम्परावादी, तथा दक्षिणपथी राजनीतिज्ञो की नीति के विरुद्ध, जवाहरलाल और सुभाषचन्द्र जैसे सेनानी, अपनी आवाज उठाने लगे थे। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् ब्रिटिश सरकार के दमनचक्र के आतक के अवसाद पर पैर रख कर जनता फिर नये युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गई थी। देश के युवक विशेष रूप से जागरूक हो गए थे। सारे देश मे युवक-समाजो की नीव पडी, जिनमें स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए क्रान्तिकारी, हिसात्मक मान्यताओ और पद्धतियों के विवेचन-विश्लेषण के साथ ही देश के सामाजिक और आर्थिक प्रश्नो और समस्याओं पर भी विचार-विमर्श होता था। इन्ही के द्वारा जनता को सुभाष और जवाहर जैसे सेनानी मिले, जिनके एक सकेत पर शिक्षित युवक-समाज ब्रिटिश सरकार की नीव हिलाने के लिए तूफान खड़ा कर देते थे। ये दोनो ही युवक काग्रेस के अधिवेशनो मे क्रान्तिकारी और अतिवादी प्रस्ताव प्रस्तुत करने के कारण दिनोदिन लोकप्रिय हो रहे थे। उन्ही दिनो श्री जवाहर-लाल नेहरू सोवियत सघ के दसवे वार्षिकोत्सव मे सम्मिलित हुए और वहा से सामाजिक न्याय और आर्थिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों मे दीक्षित होकर लौटे। रूसी-व्यवस्था का उनके मस्तिष्क पर बहुत गहरा प्रभाव पडा। इसी समय से उनका दृढ विचार बन गया कि भारतीय राष्ट्रीयता को ससार की अन्य प्रगति-वादी सत्ताओं के साथ-साथ ही विकसित किया जा सकता है। गाधी-युग मे इन

१. चक्रवाल—भूमिका, पृष्ठ ग—दिनकर

समाजवादी मान्यताओ की ओर आकर्षित होना शिक्षित नवयुवको के लिए बहुत स्वाभाविक था।

दूसरी ओर सुभाषचन्द्र बोस जनता का आह्वान देश के लिए आग मे कूद पडने को कर रहे थे। उनके विचार-दर्शन मे शका और सशय के लिए कही अवकाश नही था। उनके अनुसार देश की सब बुराइयो का कारण थी राजनीतिक पराधीनता। इससे अविलम्ब मुक्ति ही भारत की समस्याओ का एकमात्र उपचार हो सकती थी। सन् १६२७ मे उन्होने एक नवयुवक समाज का सगठन किया, जिसमे अविलम्ब, पूर्ण स्वतन्त्रता को अपना लक्ष्य घोषित किया, मजदूरो और किसानो के मताधिकार की माग की और राष्ट्रीय आन्दोलन मे उनके सक्रिय योग पर बल दिया। बगाल और बिहार के युवक उनके इस आह्वान पर अपना सर्वस्व होम देने को तैयार हो गए। इन दोनो युवक नेताओ के विषय मे प्रो० कोटमन के विचारो को उद्धृत करना इस प्रसग मे अनुपयुक्त न होगा।[1]

उधर श्री योगेश चैटर्जी के नेतृत्व मे हिन्दुस्तान रिपब्लिकन ऐसोशियेशन के क्रान्तिकारी सदस्य, बगाल, बिहार और उत्तरप्रदेश मे विध्वस, विद्रोह और अग्रेजी अफसरो की हत्याओ का सगठन करने मे व्यस्त थे। उनका लक्ष्य था भारतवर्ष मे सघात्मक गणतन्त्र की स्थापना करना। ६ अगस्त, १६२५ को काकोरी की दुर्घटना हुई। मुरादाबाद-लखनऊ लाइन पर स्थित काकोरी स्टेशन के निकट, इस सस्था के सदस्यो ने सरकारी खजाना लूट लिया। इस संगठन के मुख्य सूत्रधार थे श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल जिन्हे पहले भी बनारस षडयन्त्र केस मे लम्बी सजा मिल चुकी थी। काकोरी केस के अपराधियो को बहुत कडी सजाये दी गईं लेकिन उस दण्ड से भारत की विद्रोहाग्नि और भी प्रज्ज्वलित हो उठी।

मजदूर-किसान आन्दोलन

दूसरी ओर साम्यवादी पार्टी के प्रयासों के फलस्वरूप ट्रेड-यूनियन आन्दोलन जोर पकड रहा था। जनवरी सन् १६२७ मे किसान-मजदूर दल की स्था-

१ It is interesting to know what impression they made on the ruling class. Prof. Coatman, An Ex-Police Officer wrote about Jawaharlal "as a fisher wherever the waters are troubled" and he had one secret ambition, which is to rival Lenin or Stalin in the history of communism. "It seems that history will write him (Nehru) down as a pinchbeck Lenin, and he has a younger and dangerous rival for the plaudits of the mob in a would-be Mussolini in Bengal Mr. Subhas Chandra Bose holds the Bengali extremists on his side.

Coatman, J—Years of Destiny, P. 95-96.

पना हुई, जिसकी शाखाये बम्बई, कलकत्ता तथा अन्य व्यापारीय केन्द्रो मे खुली । श्री० एम० एन० राय ने काग्रेस के राजनीतिज्ञो को 'बुर्जुवा' करार दिया, और उन पर विदेशी राजसत्ता के साथ मिल कर मजदूर वर्ग का 'दुरुपयोग'करने का आरोप लगाया । उन्होने गाधी और मोतीलाल नेहरू की नीति का खण्डन किया और 'इन्कलाब जिन्दाबाद' का नारा अपनाया । इस प्रकार किसानो और मजदूरो के जीवन मे जागृति की एक नई लहर आ गई । सन् १९२७ मे बगाल-नागपुर रेलवे के कार्यकर्ताओ की लम्बी हड़ताल चली । अनेक स्थानो पर रेल गिराने के प्रयास किये गये । केवल बम्बई की कपडा मिलो मे ही लगभग ६० हडताले हुई । गुजरात मे 'बारदोली' के सत्याग्रह ने सम्पूर्ण देश के कृषको मे चेतना की लहर उत्पन्न कर दी । बारदोली के किसानो ने सरदार वल्लभ भाई पटेल के लौह नेतृत्व मे, भूमिकर से छूट प्राप्त करने के लिए सरकार के विरुद्ध सत्याग्रह किया । इस नि शस्त्र युद्ध की असाधारण विजय के विषय मे श्री राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी 'आत्मकथा' मे लिखा है ।[१] मध्यवर्ग की शिक्षित जनता भी विरोध और क्रान्ति के ही पक्ष मे थी, क्योकि उसे काउसिल चेम्बर की सदस्यता का लोभ नही था । उधर व्यापारी वर्ग भारतीय मुद्रा के स्थिरीकरण-बिल के कारण असन्तुष्ट था ।

'साइमन कमीशन' का बहिष्कार

भारतीय नेताओ और जनता की एक विशेषता यह रही है, कि जब उसे बाह्य सकट का सामना करना पडता है, कुछ समय के लिए सारे मतभेद मिट जाते है लेकिन सकट समाप्त होने पर अस्थायी रूप से पाटी हुई खाइया दुगनी चौडी हो जाती है । साइमन कमीशन के बहिष्कार की घटना भी प्राय इसी प्रकार की है । सन् १९१९ के ऐक्ट मे एक आयोग (Statutory commission) की नियुक्ति की व्यवस्था थी जिसे दस साल के बाद अपनी रिपोर्ट देनी थी लेकिन बाल्डविन की प्रतिक्रियावादी सरकार ने उसकी नियुक्ति बिना कारण बताये एक साल के लिए स्थगित कर दी । इस सम्मेलन मे किसी भारतीय को नही सम्मिलित किया गया । यद्यपि उस समय लार्ड अरुणकुमार सिन्हा ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की लार्ड-सभा के और श्री सकलतवाला साधारण सभा के सदस्य

---

१. This struggle justified the observation made by some foreigners that by disarming his own people Mahatma Gandhi had disarmed the British.

Rajendra Prasad—At the feet of M. Gandhi, PP. 162-63.

थे। तत्कालीन सेक्रेटरी ऑफ स्टेट लार्ड बर्कनहेड एक विजेता के समान विजित देश भारत पर निरकुश नीति को आरोपित कर रहे थे। १६२७ मे उन्होने ऑक्सफोर्ड के विद्यार्थियो को जो सन्देश दिया था उसे भारतीय जनता भूली नही थी।[1]

कमीशन मे सुधारवादी और मजदूर दल के प्रतिनिधित्व और सहयोग के कारण भारतीय राजनीतिज्ञो का विश्वास ब्रिटिश सुधारवादी और समाजवादी मान्यताओ से उठ गया था। कमीशन के सामने कोई निश्चित लक्ष्य भी नही था इसलिए भारत के बौद्धिक वर्ग के सभी क्षेत्रो से इसके विरुद्ध आवाज उठी। काग्रेस मे जवाहरलाल नेहरू ने इसके बहिष्कार का प्रस्ताव रखा और सदस्यो का पहली बार साथियो (कामरेड) कह कर सम्बोधित किया। डा० अनसारी के सभापतित्व मे इसके बहिष्कार और विरोध प्रदर्शन का प्रस्ताव पास किया गया तथा पूर्ण स्वतन्त्रता को भारतीय आन्दोलन का ध्येय घोषित किया गया। भारत के राष्ट्रवादी मुसलमानो की ओर से मोहम्मद अली जिन्ना ने इसका विरोध किया। इस आयोग का सामना करने के लिए भारत के समस्त राजनीतिक और साम्प्रदायिक दल एक साथ मिल कर खडे हो गए। उनके आपसी मतभेद कुछ समय के लिए बिल्कुल मिट गए। सर बेसिल ब्लैकट के दुष्टतापूर्ण व्यग्य वचन इस प्रसग मे उल्लेखनीय है।[2]

३ फरवरी, सन् १६२८ को साइमन आयोग का स्वागत हडतालो, काले झण्डो और 'लौट जाओ' के नारों से किया गया। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा मे लिखा है कि "साइमन आयोग के सदस्य नई दिल्ली के 'वेस्टर्न होटल' मे ठहरे थे। रात के समय, आसपास के खण्डहरो मे गीदडो की बोली सुनकर वे यह समझे कि रात को भी भारतीय जनता उनके पीछे लगी हुई है"। देश भर के नगरो मे जनता और पुलिस मे टक्कर हुई। अनेक स्थानो पर निहत्थी जनता पर लाठिया बरसाई गई। लाहौर मे स्थिति चरम सीमा पर पहुच गई जहा लाला लाजपतराय के नेतृत्व मे सहस्रो की सख्या मे जनता आयोग के विरुद्ध शान्त प्रदर्शन कर रही थी, लालाजी पर एक अग्रेज

---

१. India is our Prize possession, we, in England, have to live on it; the Indians may live in it...It is the test for you, the younger generation to hold India to the last drop of your blood.

२. "The spider (Congress) may be hungry, but, why should the fly (Mr. Jinnah) be in such a hurry."

Coatman, P. 194.

पुलिस अफसर ने प्रहार किया। हृदय-रोग से पीडित होने के कारण इस चोट को वे झेल न सके। लाहौर की जनता अपने प्यारे नेता के अपमान का बदला लेने को पागल हो उठी।

बगाल और पजाब मे आतकवादी दल फिर से सक्रिय हो गया। भगतसिह और उनके साथियो ने असेम्बली मे बम फेक कर सारे देश मे तहलका मचा दिया। लाला लाजपतराय की मृत्यु के लिए उत्तरदायी ठहराए जाने वाले सहायक पुलिस सुपरिण्टेन्डेण्ट मिस्टर साडर्स की हत्या कर दी गई। भगतसिह को अद्भुत लोकप्रियता मिली। राष्ट्र-सम्मान के सरक्षक के रूप मे वे प्रत्येक भारतवासी के हृदय मे देवता की तरह स्थापित हो गये। आतकवादियो की इस लोकप्रियता से काग्रेस और ब्रिटिश सरकार दोनो के कान खडे हो गये।

काग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन मे फिर विरोध की सशक्त आवाज उठी। इस समय पं० मोतीलाल नेहरू काग्रेस के प्रधान थे। उनके पुत्र जवाहरलाल नेहरू तथा सुभाषचन्द्र बोस के विरोध के कारण वातावरण में बडी सनसनी थी। ये दोनों युवक श्री एस० श्रीनिवास आयगर के नेतृत्व मे सचालित 'इण्डिपेण्डेन्स लीग के मन्त्री थे। उन्होने सरकारी सस्थाओ से पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद, असहयोग और उनके बहिष्कार की नीति अपनाई तथा स्वतन्त्र धारा सभायें, और प्रशासन स्थापित करने की योजना बनाई (Sinn Fein Policy) यह भी एक प्रकार से असहयोग ही था लेकिन गाधीजी इसका नेतृत्व नही कर रहे थे। भारत का बौद्धिक और युवक वर्ग इस प्रकार के कार्यों का पक्षपाती था, परन्तु गाधी की नीति मे रोडा अटकाने वाले इन दोनों युवको की जीभ पर ताला लगा दिया गया। गाधी जी ने उन्हे लगभग प्रतारणा सी देते हुए कहा कि केवल लच्छेदार भाषा और कल्पना की उडानो से स्वतन्त्रता नही मिल सकती। कांग्रेस के इस अधिवेशन मे गाधी जी को भारत के भाग्य का विधाता, निर्णायक और निर्देशक घोषित कर दिया गया।

मई, सन् १९२९ मे ब्रिटिश चुनाव मे मजदूर दल विजयी हुआ। भारतीय नेता, मजदूर दल की नीति की सम्भावनाओ के प्रति बहुत आशावादी थे, जिसके विपरीत परिणाम के फलस्वरूप लाहौर कांग्रेस मे ब्रिटेन के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करना अनिवार्य हो गया। सन् १९२९ मे भारत की आन्तरिक स्थिति और भी विद्रोहपूर्ण हो गई थी। मध्यवर्ग के युवक हिंसा-नीति की ओर झुक रहे थे। मजदूरो की स्थिति अनुदिन बिगडती ही जा रही थी। मजदूरो के इकतीस प्रमुख नेताओ पर सम्राट के विरुद्ध ध्वसात्मक कार्यवाही करने का आरोप लगाया गया। उन्हे, चार साल तक, बिना मुकदमा चलाये मेरठ-जेल मे

सडाया गया। न उनकी जमानते स्वीकार की गई और न जूरी द्वारा उनके मुकदमो का निर्णय कराया गया। यह सिद्ध करने के लिए कि वे रूस के साम्यवादी नेताओ से मिल कर भारत मे साम्यवादी शासन-व्यवस्था लाने का प्रयास कर रहे थे, सरकार ने अठारह लाख रुपयो का अपव्यय किया। केवल नौ नेताओ को छोड कर सभी को दीर्घ सश्रम कारावास अथवा आजीवन कारावास का दण्ड मिला।[1]

मजदूर नेताओ के प्रति इस दमन नीति के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन के दक्षिणपंथियो की प्रतिक्रिया बडी कटु हुई, अपनी प्रतिक्रियावादी नीति के बावजूद मजदूरो मे लगी हुई आग से वे भी उत्तेजित हो उठे। उधर ब्रिटेन की मजदूर दल की सरकार की नीति से भी भारतीय नेताओं को बडी निराशा हुई। गाधी जी औपनिवेशिक स्वराज्य स्वीकार करने को भी तैयार हो गए, लेकिन ब्रिटेन, भारत का मोह छोड सकने मे असमर्थ था।

लाहौर काग्रेस का अधिवेशन बडे कुठित और उत्तेजनापूर्ण वातावरण मे हुआ। जवाहरलाल के अध्यक्ष चुने जाने पर यह सिद्ध हो गया कि काग्रेस के वयस्क सदस्य भी अग्रेज सरकार के विरुद्ध प्रत्यक्ष कदम उठाने को तैयार हो चुके है। जवाहरलाल नेहरू ने अपने अध्यक्षीय भाषण मे घोषणा की कि उनका विश्वास गणतन्त्र और समाजवाद मे है। साम्राज्यवादी व्यवस्था पर उन्होने कडी चोट की, परन्तु साथ ही गाधी की अहिसात्मक नीति का ही प्रतिपादन किया। अब तक उनका विश्वास हो गया था कि अग्रेजो की दमन नीति और शक्तिशाली सैन्य से लोहा लेने योग्य सैन्य-सगठन तथा विद्रोह पराधीन भारत मे असम्भव था। उन्होने कहा कि "भारत की स्वतन्त्रता का सघर्ष ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध एक खुला षडयन्त्र है।" पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति इस अधिवेशन मे भारत का लक्ष्य घोषित किया गया। तथा अखिल भारतीय काग्रेस कमेटी को 'सविनय अवज्ञा' आन्दोलन आरम्भ करने का अधिकार प्रदान किया

---

१. Neither the judges who tried them, nor the judges of the Allahabad High Court to whom the case went in appeal could establish a positive case against the accused. The sentences were considerably reduced and nine of them were given the benefit of doubt and acquitted. The real purpose of the Govt. appears to be to disorganise the communist movement.

India in 1932-33, PP. 50-51.

गया। श्रीनिवास आयगर तथा सुभाष चन्द्र बोस ने काग्रेस-प्रस्ताव का विरोध किया। उनके अनुसार यह प्रस्ताव बडा कमजोर था। उन्होने ब्रिटिश सरकार के निरंकुश शासन से मुक्ति पाने के लिए प्रजातन्त्रीय काग्रेस पार्टी की नीव डाली तथा श्री चितरजनदास को अपना निर्देशक बनाया। मत-वैभिन्न्य और दृष्टि का पार्थक्य रहते हुए भी इन प्रगतिवादी नेताओ ने काग्रेस के कार्यक्रम और नीति का समर्थन किया। परन्तु काग्रेस के प्रस्ताव के विरुद्ध उनके मन का क्षोभ मिटने के स्थान पर बढता ही गया।

२६ जनवरी, सन् १६३० को घोषित किया गया कि कांग्रेस का लक्ष्य 'पूर्ण स्वराज्य' की प्राप्ति है। इसी अधिवेशन मे निरकुश ब्रिटिश सत्ता पर भारत के आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक जीवन के पतन और ध्वस का आरोप लगाया गया और उसके पजो से मुक्त होने की प्रतिज्ञा दुहराई गई। सम्पूर्ण देश मे उत्तेजना और उत्साह की लहर फैल गई। १७२ सदस्यो ने व्यवस्थापिका सभाओ की सदस्यता से त्यागपत्र दिया। इस घोषणा के साथ ही सरकार का दमन-चक्र भी तेजी से चलने लगा। सुभाष-चन्द्र बोस तथा उनके साथियो को श्रमपूर्ण कारावास का दण्ड दिया गया।

साबरमती आश्रम से लगभग २०० मील पर स्थित दण्डी ग्राम मे गाधी जी ने नमक सत्याग्रह करने का निश्चय किया। वल्लभ भाई पटेल जब गाधी जी की यात्रा से पूर्व ही वहा जा रहे थे, उन्हे बन्दी बना लिया गया जिससे गुजरात में विद्रोह की आग लग गई। लगभग ७५,००० किसानो ने साबरमती पर एकत्रित होकर भारत की आजादी के लिए मर मिटने की प्रतिज्ञा दुहराई। १२ मार्च, १६३० को गांधी जी ने अपनी यात्रा आरम्भ की। ६ अप्रैल को, जलियान वाला बाग के शहीदो के स्मृति-दिवस के अवसर पर उन्होने नमक कानून तोडा। एक ब्रिटिश समाजवादी श्री एच० एन० ब्रेक्सफर्ड उन दिनो भारत मे ही थे। उन्होने कहा, कि नमक कानून का भग भारत मे राजनीतिक क्रान्ति का प्रथम सोपान है। परन्तु ऐसे भी लोग थे जो पतीली मे समुद्र का पानी उबाल कर ब्रिटिश सरकार को मिटाने की कल्पना का उपहास करते थे। दण्डी ग्राम की यात्रा के पहले महात्मा गाधी ने राष्ट्र को आजादी के लिए मर मिटने की प्रेरणा दी थी। भारतीय जनता ने उनका आदेश स्वीकार करके नमक-कानून तोडा, विदेशी वस्त्रो के बहिष्कार के लिए सत्याग्रह किया, धरना दिया। १४ अप्रैल को जवाहरलाल नेहरू की गिरफ्तारी के बाद आन्दोलन ने और भी जोर पकडा। बम्बई नगर मे गधो को विदेशी वस्त्रो से सजा कर सड़कों पर घुमाया गया। उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश मे खुदाई

खिदमतगारो ने बडा विशाल जुलूस निकाला, वहा के आन्दोलन ने इतना गम्भीर रूप धारण किया कि उनको वश मे लाने के लिए भारी शस्त्रो का प्रयोग किया गया। अठारहवी गढवाल राइफल के सैनिको ने पठान-विद्रोहियो पर हथियार चलाने से इन्कार कर दिया। कठिन प्रयास के बाद पेशावर की स्थिति को पुन सम्हाला जा सका। गाधी जी की गिरफ्तारी के बाद तो बहुत से नगरो मे मार्शल-लॉ लगाने की नौबत आ गई। उत्तेजना को दबाने के लिए सैनिको, हवाई जहाजो और सशस्त्र गाडियो का उपयोग किया गया। जून के महीने मे लगभग ५०० टन विस्फोटक का प्रयोग सीमान्त प्रदेश मे हुआ। लोहे से मढी हुई लाठिया जनता पर निर्दयता से बरसाई गईं। सारी भूमि लाशो और घायलो से पट गई। नि:शस्त्र सत्याग्रहियो के ध्वस और सहार से जनता की आग ठण्डी होने के बदले और भी भडक उठी। छात्र, मजदूर, किसान, वकील, व्यापारी, सरकारी नौकर, सब, विदेशी वस्त्रो, और शराब की दूकानो पर सत्याग्रह करने के लिए निकल पडे। व्यापारी वर्ग ने इस आन्दोलन को चलाने के लिए दिल खोल कर आर्थिक सहायता दी, जिससे स्वयसेवको और स्वयसेविकाओ का व्यय उठाने की उचित व्यवस्था हो सकी। जनता के इतने अधिक सहयोग की कल्पना सरकार को बिल्कुल नही थी। उसे यह विश्वास नही था कि यह अहिंसात्मक विद्रोह इतना व्यापक रूप ग्रहण कर लेगा। इस आन्दोलन के अनेक शुभ परिणाम हुए। सूती वस्त्रो का आयात बहुत कम हो गया। सोलह ब्रिटिश कारखाने बन्द हो गए। भारतीय मिलों मे दुगना कार्य होने लगा। लंकाशायर का व्यापार बिल्कुल मन्द पड़ गया। ब्रिटिश सरकार का दमनचक्र और भी बढ गया और भारतीय जनता के साथ पाशविक बर्ताव किए जाने लगे। इसी बीच कांग्रेस को अवैधानिक घोषित कर दिया गया। मोतीलाल नेहरू गिरफ्तार कर लिए गए और १८ मुद्रण कार्यालय बन्द कर दिए गए। सम्पूर्ण देश मे आसुरी अत्याचार का बोलबाला हो गया। यहा तक कि स्त्रियो और बालको को भी सरकार के क्रोध की भट्ठी में भुनना पडा। पाठशालाओ के अन्दर घुसकर पुलिस ने अध्यापको और छात्रो पर हृदयद्रावक अत्याचार किए। गुजरात के किसानो को अपनी दृढता और देशभक्ति का विशेष रूप से बहुत बडा मोल चुकाना पडा। दीर्घकालीन कारावास और सम्पत्ति की जब्ती आए दिन की घटना बन गई। पुलिस का आतंक और जुल्म चरम सीमा पर पहुच गया। लेकिन भारत की जनता का निश्चय दृढ बना रहा। बगाल, बिहार और उड़ीसा मे विदेशी वस्त्र का आयात ९५% कम हो गया। पजाब, उत्तर-

प्रदेश और गुजरात मे लगान आन्दोलन आश्चर्यजनक सफलता के साथ चला। मध्य प्रान्त मे वन-सत्याग्रह भी आशातीत रूप से सफल हुआ। सीमान्त प्रदेश मे खुदाई खिदमतगार अनुशासित और अहिंसावादी सत्याग्रह आन्दोलन चलाते रहे। काग्रेस की ओर से घायलो की देखभाल करने के लिए अस्थायी चिकित्सालय खुलवाए गए, 'युद्ध-भूमि' से उन्हे ले जाने के लिए मोटर गाडियो का प्रबन्ध किया गया। सन् १९३० के अन्तिम महीनो मे आन्दोलन की गति धीमी पड गई और भारत के बौद्धिक वर्ग का ध्यान पहली गोल मेज सभा पर केन्द्रित हो गया।

काग्रेस आन्दोलन के साथ ही अन्य राजनीतिक दल भी सक्रिय रूप से राष्ट्र की लडाई मे भाग लेते रहे। अप्रैल सन् १९३० मे श्री सूर्यकुमार सेन के नेतृत्व मे चटगाव का शस्त्रागार लूट लिया गया। शस्त्र लूट कर क्रान्तिकारी पास की पहाडियो मे छिप गए और लुकछिप कर हत्याओ और लूट का अपना कार्यक्रम सक्रिय रूप में चलाते रहे। काफी संख्या मे क्रान्तिकारियो को शस्त्र समर्पित करना पडा लेकिन उसमे से बहुत से बच कर निकल गए जिन्होने आगे चल कर क्रान्तिवादी नीति से सरकार को दहला दिया। गाधी जी की गिरफ्तारी के बाद इन्ही आतकवादियो ने अपनी क्रान्ति के द्वारा शोलापुर पर पूर्ण अधिकार कर लिया था, जहा फिर से ब्रिटिश अधिकार जमाने के लिए सरकार को बाहर से सैन्यशक्ति बुलानी पडी थी। उधर बम्बई मे ८० मिलो ने एक साथ हडताल कर दी। बी० बी० एण्ड सी० आई रेलवे तथा जी० आई० पी० रेलवे के मजदूरो ने भी उनका साथ दिया। कच्चे माल मे मूल्य-वृद्धि होने के कारण किसानो की स्थिति भी सुधरने के स्थान पर बिगड रही थी और असन्तोष-प्रदर्शन के उत्तर मे उन्हे गोलियो और लाठियों के उपहार मिल रहे थे। मध्यवर्गीय नवयुवक अब भी हिंसात्मक आन्दोलनो की ओर ही आकृष्ट हो रहे थे। ऐसा कहा जाता है कि सन् १९३० के अन्तिम दिनो मे तो हालत यह थी कि कोई सप्ताह बिना बम-प्रहार और हत्या के नही जाता था। इस सम्बन्ध मे लार्ड जेटलैण्ड के कथन को प्रमाण रूप मे ग्रहण किया जा सकता है।[१] जब पहली गोलमेज सभा

---

१. In 1930 there was an alarming recrudescence of the terrorist movement in various parts of India and notably in Bengal. On 4th Oct. two Bengali girls in their teens, armed with pistols, shot dead an English Magistrate. The Inspector General of Police was likewise murdered. An attempt was also made on the life of Mont Morency, The Governor of Panjab ''

लन्दन मे चल रही थी भारत मे हर दिन अग्रेज अफसरो की हत्या के प्रयत्न हो रहे थे। बगाल इस प्रकार के आतकवादी कार्यो का मुख्य केन्द्र था।

उच्च मध्यवर्ग और पूजीपति वर्ग इस संघर्ष का अन्त चाहता था। श्री तेजबहादुर सप्रू और जी० आर० जयकर ने गांधी जी की समझौते की नीति पर चल कर गोलमेज सभा मे भाग लेने का सुझाव दिया। वे मोतीलाल नेहरू, जवाहरलाल नेहरू और गाधी जी से जेल मे मिले, परन्तु काग्रेस और सरकार मे समझौता न हो सका। कान्फ्रेन्स मे सम्प्रदायवादी और प्रतिक्रियावादी, सरकारी पिट्ठू मनोनीत हुए, जो सरकार की बजाई हुई धुन पर कठपुतलियो की तरह नाचते रहे।

२५ जनवरी १९३० को गाधी जी बिना किसी शर्त के रिहा कर दिए गए। सुधारवादी नेताओ के प्रभाव और दबाव से महात्मा गाधी समझौते के लिए तैयार हो गए। जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस इस बार भी किसी समझौते के विरुद्ध थे।[१]

दोनो ओर से कुछ शर्तों की स्वीकृति के साथ, ५ मार्च सन् १९३१ को गाधी-अर्विन समझौता हुआ। देश के उग्र नेता तथा नवयुवक इस समझौते के विरुद्ध थे। उग्र नेताओ ने इस समझौते को भारतीय राष्ट्रीयता की पराजय और अग्रेज सरकार की विजय माना। गाधी पर महान शक्तिशाली जन-आन्दोलन और स्वतन्त्रता की लडाई मे आत्म-समर्पण का आरोप लगाया गया। जवाहरलाल नेहरू ने यहा भी गाधी जी का विरोध किया।[२]

काग्रेस के कराची अधिवेशन के समय वातावरण और भी बोझिल हो गया। गाधी जी वाइसराय से भगतसिह तथा उनके साथियो को क्षमा दिलाने मे असमर्थ रहे। उनकी फासी के कारण सारे देश मे क्रोध और क्षोभ छाया हुआ था। २४ मार्च को अखिल भारतीय स्तर पर भगतसिह शोक-दिवस मनाया गया और २९ मार्च को काग्रेस का अधिवेशन आरम्भ हुआ। इन्ही दिनो गणेशशकर विद्यार्थी भी मारे गये। कराची मे रक्त के प्रतीक लाल वस्त्र पहने

---

१. Jawahar Lal was positively against a Compromise but his influence counted for little against the pressure of Politicians and wealthy aristocrates who were dying for a settlement and surrounding the Mahatma "

Subhas Chandra Bose—The Indian Struggle, P. 280.

२ Except for Jawahar Lal Nehru, every member of the Working Committee welcomed the pact.

Rajendra Prasad—Autobiography. P. 331

हुए नवयुवक समाज के सदस्यो ने गाधी जी का स्वागत काले झडो और मुर्दाबाद के नारो से किया। गाधी जी ने बडे विवेक और धैर्य से काग्रेस के प्रतिनिधियो और जनता की उत्तेजना को शान्त किया। जवाहरलाल नेहरू के मन की आग उस दिन भी व्यक्त हो गई जब उन्होने कहा कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए हमे अभी न जाने कितने भगतसिंहो का बलिदान देना होगा।

लार्ड वेलिंगटन के वाइसराय होने पर ब्रिटिश सरकार की दमन-नीति ने बडा भयकर रूप धारण कर लिया। लार्ड अर्विन की समझौते की नीति के स्थान पर राष्ट्रीय-आन्दोलन के दमन की नीति अपनाई गई। लार्ड कर्जन के बाद किसी वाइसराय ने इतनी कठोर नीति का अनुसरण नही किया था। गाधी-अर्विन समझौते की शर्तें भग की जाने लगी। बगाल, गुजरात और सीमान्त प्रदेश मे दमन-चक्र बडी निर्दयता के साथ चलने लगा। सरकार की तलवार हर समय जनता के सिर पर लटकी रहती थी। जुलाई के अन्त मे तो स्थिति और भी बिगड गई। एक विद्यार्थी ने बम्बई के कार्यवाहक गवर्नर सर अरनेस्ट हॉटसन पर गोली चला दी। यह घटना उस समय हुई जब श्री हॉटसन फर्गुसन कालेज मे एक सम्मान्य अतिथि के रूप मे गए हुए थे। वे भाग्य से ही बच गए। कुछ ही दिनो के बाद अलीपुर के डिस्ट्रिक्ट जज को गोली मार दी गई। गाधी जी ने उस समय अपना मन्तव्य प्रकट किया कि "भगतसिंह की उपासना और उनके मार्ग के अनुसरण से देश को अपरिमित हानि पहुच रही है।"

सरकार काग्रेस की मांगो को जिस प्रकार अनसुना कर रही थी उससे यही निष्कर्ष निकाला गया कि दूसरी गोलमेज सभा मे काग्रेस का भाग लेना राष्ट्र के हित मे नही होगा। २५ तथा २८ अगस्त को महात्मा गाधी शिमला मे वाइसराय से मिले तथा सरकार ने केवल महात्मा गाधी को इगलैण्ड भेजने का निर्णय किया तथा जनता के प्रति किए जाने वाले अत्याचार और अनाचार को बन्द करने का वचन दिया। २९ अगस्त, १९३१ को, गाधी जी ने इगलैण्ड के लिए प्रस्थान किया।

उन दिनो ग्रेट ब्रिटेन मे आर्थिक सकट की घोषणा की जा चुकी थी और शासन की बागडोर विभिन्न राजनीतिक दलो के प्रतिनिधियो द्वारा निर्मित राष्ट्रीय सरकार के हाथ मे थी। दूसरी गोलमेज सभा का भी कोई अच्छा परिणाम नही निकला। गांधी जी भारत और इगलैण्ड के बीच जिस सम्मान-पूर्ण समानाधिकार के आधार पर बात करने गए थे, उसे ब्रिटिश सरकार ने नही स्वीकार किया। ब्रिटेन के द्वारा प्रस्तावित सुधारो और परिवर्तनो को उन्होने निस्सार और खोखला बता कर छोड़ दिया। ६ दिसम्बर को वे भारत

के लिए रवाना हो गए। उनके भारत पहुचने के पहले ही देश-विदेश मे एक खबर फैल गई कि गाधी जी अब फिर सत्याग्रह आरम्भ करेगे। इटली और रोम होते हुए वे २८ दिसम्बर को भारत पहुचे, और ४ जनवरी १६३२ को उन्हे पूना जेल मे डाल दिया गया।

जितने दिन महात्मा गाधी इग्लैण्ड में रहे, भारत मे स्वतन्त्रता आन्दोलन और संघर्ष के दमन का हर सम्भव प्रयत्न किया गया। उत्तरप्रदेश मे किसान-आन्दोलन और सीमान्त प्रदेश में खुदाई खिदमतगार पहले से भी अधिक जोर पकड रहे थे। बंगाल के हिजली कैम्प मे गोली चलाई गई जिसमे दो नज़रबन्द मारे गए और बीस घायल हुए। गांधी जी के भारत पहुचने के पहले ही खान भाइयो तथा प० जवाहरलाल नेहरू को बन्दी बना लिया गया। सत्याग्रह आन्दोलन फिर दुगनी शक्ति के साथ आरम्भ हो गया। वाइसराय ने गाधी जी से भेट करने से इन्कार कर दिया और सरकार का दमन-चक्र भी दुगने वेग से चलने लगा।

साम्यवादी दल के नेतृत्व मे किसानो और मजदूरो के आन्दोलन से सरकार बहुत भयभीत थी। आन्दोलन और विरोध जैसे राष्ट्र के एक-एक अग मे उबल रहा था। जिसका उत्तर सरकार गोलियो और मशीनगनो से दे रही थी। राष्ट्रीय पाठशालाओ, किसान सभाओ, नवयुवक समाजो, छात्र सभाओ, काग्रेस के अस्पतालो इत्यादि पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया, उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली गई—साधारण जनता को त्रस्त और भयभीत करने के लिए पुलिस और फौज तैनात कर दी गई। राजनीतिक बन्दियो को बिना मुकदमे और फैसले के अण्डमन भेज दिया जाने लगा।

मैक्डानल्ड अवार्ड के द्वारा प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओ की संख्या दुगनी निर्धारित कर दी गई, तथा केन्द्रीय और प्रान्तीय धारासभाओ मे साम्प्रदायिक आधार पर प्रतिनिधियों की सख्या का निर्धारण किया गया। मुसलमानो को विशेषाधिकार दिये गए और अल्पसख्यक जातियो के लिए पृथक् निर्वाचन की व्यवस्था हुई। इस व्यवस्था ने समस्त भारतवर्ष को विभिन्न साम्प्रदायिक टुकडो मे बाट दिया; जिससे भारत की बहुसंख्यक जनता मे बहुत असन्तोष फैला। पजाब और बगाल मे हिन्दुओ का प्रतिनिधित्व उनकी जनसख्या के अनुपात के अनुसार नही था। बगाल और असम मे हिन्दुओ के मूल्य पर योरोपियनो को अधिक प्रतिनिधित्व मिला। अछूत जातियो को हिन्दुओ से अलग करने के सिद्धान्त से महात्मा गाधी के हृदय को गहरा धक्का लगा और २० सितम्बर को उन्होंने आमरण अनशन की प्रतिज्ञा की। महात्मा गाधी की प्राण

रक्षा के प्रयास मे महामना मदनमोहन मालवीय ने पूना मे हिन्दू नेताओ की सभा बुलाई। इस सभा के निर्णयो को अंग्रेज सरकार के स्वीकार करने पर गाधी जी ने अपना अनशन तोड दिया। अखिल भारतीय अस्पृश्यता सभा तथा हरिजनोद्धार सभाओ का सगठन किया गया। गाधी जी का ध्यान राजनीतिक सघर्ष से हट कर इस सामाजिक वैषम्य पर केन्द्रित हो गया। जब थोडे से भारतीय प्रतिनिधियो के साथ तीसरी गोलमेज़ सभा की अगणित समितियो का वाद-विवाद चल रहा था, भारत के कारागृहो मे राजनीतिक बन्दियो पर निर्दयता से कोडे बरसाए जा रहे थे। आन्दोलन की गर्मी धीरे-धीरे कम हो चली थी और ८ मई, १९३३ को गाधी जी की मुक्ति के पश्चात् आन्दोलन समाप्त कर दिया गया। इसी समय उन्होने आत्मपरिष्कार के उद्देश्य से २१ दिनो का अनशन व्रत आरम्भ किया। सन् १९३४ मे आन्दोलन पूर्ण रूप से समाप्त हो गया। काग्रेस ने जनता को अहिंसात्मक असहयोग और सविनय अवज्ञा आन्दोलन के लिए बधाई दी। अभी तक जो काग्रेस के सदस्य देश की मुक्ति के लिए अपनी शक्ति रचनात्मक कार्यों मे लगा रहे थे, अब आत्म-निषेध और वैकल्पिक आत्म-सयम की कला और सौन्दर्य का पाठ पढने लगे।

काग्रेस के उग्र दल मे गाधी जी की इस नीति से बडी निराशा फैली। गाधी के उदात्त आदर्श, उनकी राजनीति की गहरी आध्यात्मिकता और रहस्यात्मक कार्य-प्रणाली उनकी समझ से बाहर की बात थी। सुभाषचन्द्र बोस ने वियना से एक सन्देश भेजा, जिसमे गाधी के प्रति अविश्वास व्यक्त करते हुए कहा गया था कि गाधी की सविनय अवज्ञा नीति की असफलता, राजनीतिक नेता के रूप मे गाधी की असफलता है।[१] १९३३ मे प० नेहरू जेल से बाहर आए। उन्होने काग्रेस की नई नीति पर बडा रोष और क्रोध प्रगट किया तथा बडे जोरदार, सशक्त और आक्रोश भरे शब्दो मे गाधी जी की नीति का खण्डन किया और पूँजीपतियो तथा सामतवादियो की मुट्ठी से बाहर निकलने के लिए जनता का आह्वान किया। कलकत्ते मे किए गए उनके कुछ भाषणो को राजद्रोह का प्रमाण सिद्ध करके उन्हे फिर जेल मे डाल दिया गया। श्री के०एफ० नारीमन ने गाधी-नीति की कड़ी आलोचना की।[२]

---

१. The nation does not need lip-sealed mummies who always shake their heads like spring dolls, perpendicularly or horizontally according as the Mahatma pulls the strings straight or side ways. *Subhas Chandra Bose—Indian Struggle, P. 368.*

२. ' How can we induce Gandhiji to rid himself of his almost incorrgible habit...This perpetual blundering, blending of religion and politics ?

'साम्प्रदायिक अवार्ड' भारत की राष्ट्रीयता पर एक कठोर आघात था, महात्मा गाधी का रुख बड़ा अनिर्णयात्मक था, काग्रेस ने न तो इसे स्वीकार किया और न छोडा। सुभाषचन्द्र बोस जैसे उदार-दृष्टि और धर्म-निरपेक्ष राजनीतिज्ञ भी इसके प्रति बडे क्षुब्ध हुए।[1]

मार्च सन् १९३३ मे ब्रिटिश सरकार ने एक श्वेत पत्र निकाला जिसमे भावी भारत के लिए आयोजित सुधारो का विवरण दिया गया था। दक्षिणपथी काग्रेसी शासन मे भाग लेने के पक्ष मे थे परन्तु नेहरू और बोस के नेतृत्व मे उग्र दल ने इसका घोर विरोध किया। समाजवादी और साम्यवादी दल जिनका स्वर अब काफी ऊचा हो गया था, इसके घोर विरोधी थे और स्वतन्त्रता-संग्राम को चलाने के पक्ष मे थे। सन् १९३५ मे प० नेहरू को उनकी पत्नी के चिन्ताजनक स्वास्थ्य के कारण छोड दिया गया। जर्मनी जाने के पहले उन्होने राष्ट्र को रचनात्मक कार्यो द्वारा दृढ बनने का सदेश दिया। पत्नी की मृत्यु के बाद जब वे उनकी अस्थिया लेकर भारत लौटे, तो १९३६ मे काग्रेस अधिवेशन के अध्यक्ष-पद से भाषण देते हुए उन लोगो को चेतावनी दी जो सरकारी पदो पर अपनी आख लगाए बैठे थे। इस बार भी सुभाष बाबू ने पद-स्वीकृति को 'पराजय और आत्मसमर्पण' का ही नाम दिया। जयप्रकाश नारायण और आचार्य नरेन्द्रदेव के नेतृत्व मे समाजवादी सदस्यो ने अनेक बार विरोध प्रदर्शन के लिए अधिवेशन की कार्यवाहियो का बहिष्कार किया। उन्होने काग्रेस से त्याग-पत्र भी दे दिया। परन्तु सरदार वल्लभ भाई पटेल, राजगोपालाचार्य, भूलाभाई देसाई इत्यादि वरिष्ठ और वयस्क नेताओ की वाणी के सामने इन युवा सदस्यो की नही चली और काग्रेस ने विभिन्न प्रदेशो मे मन्त्रिमण्डल बनाना स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार हम देखते है कि दिनकर का युवाकाल भारतीय इतिहास का वह युग था जब भारत की राष्ट्रीयता और देशभक्ति ब्रिटिश-साम्राज्यवाद से लोहा ले रही थी। मध्यवर्ग मे शासन-सत्ता के प्रति घोर अविश्वास था और वे विदेशी राज के शिकजो से मुक्ति पाने के लिये हर प्रकार का बलिदान करने के लिए सन्नद्ध थे। दिनकर उसी मध्यवर्ग के एक सवेदनशील युवक थे, जो जवाहर, सुभाष, जयप्रकाश और नरेन्द्रदेव के साथ था, जो बिना स्वराज्य प्राप्ति के एक क्षण भी चुप नही बैठना चाहता था परन्तु गाधी के व्यक्तित्व

१. It was because of the insistence of the Muslim members who were "holding a pistol at the Working Committee" that the Congress was forced into such a ridiculous attitude

Subhas Chandra Bose—Indian Struggle, P. 360.

की आध्यात्मिक प्रेरणा के सामने जनता की आग धीमी पड गई। गाधी के व्यक्तित्व की प्रबलता की तुलना लेनिन से करते हुए श्री सी० एफ० ऐण्ड्रूज ने जो विचार व्यक्त किया वह द्रष्टव्य है।[1] परन्तु यह तथ्य भी ध्यान मे रखने के योग्य है कि काग्रेस द्वारा शासन मे भाग लेने के निर्णय की बडी विरोधपूर्ण प्रतिक्रिया हुई और इससे सम्प्रदायवादी व्यक्तियो और सस्थाओ को समर्थन मिला। इसी युग मे लिए गए गलत निर्णयो के कारण आगे चल कर भारत के विभाजन की नौबत आई।

दिनकर की सहानुभूति आरम्भ से ही उग्रदल के विरोधो और विद्रोहो के साथ थी। 'रेणुका' मे सकलित राष्ट्रीय गीतो और 'हुकार' तथा 'सामधेनी' की प्रेरणा के बीज इन्ही विरोधो मे है। गाधी के सविनय अवज्ञा आन्दोलन, अछूत आन्दोलन, चर्खा और तकली-प्रचार मे नही। नोआखाली यात्रा के पूर्व उन्होने गाधी के व्यक्तित्व और सिद्धान्तो पर न कोई कविता लिखी थी और न गाधीवाद को समय का समाधान माना था। अपने ही शब्दो मे उन्होने गाधी की पूजा सदैव 'अगारो' से की थी।

उपर्युक्त ज्वालामयी परिस्थितियो ने दिनकर का मार्ग प्रशस्त कर दिया। 'रेणुका' के प्रारम्भिक राष्ट्रीय गीतो मे उनका मन सशय-ग्रस्त रहा। युग की तमिस्रा मे किस ज्योति की रागिनी गाएं, यह प्रश्न उनके सामने था, लेकिन शीघ्र ही, युग की चतुर्दिक जागृति ने उनका दिशा-निर्देश करके, शृङ्गी फूक कर, महान प्रभाती-राग गाने की प्रेरणा दी, प्रभाती, जिससे सुप्त भुवन के प्राण जाग उठे, जो आवाज भारतीय मानस मे सोते हुए शार्दूल को चुनौती भेज सके, जो युगधर्म के प्रति भारतीय जनता को जागरूक कर सके, जिसको सुन कर युग-युग से थमी हुई भारतीय जनता के निर्बल प्राणो मे क्रान्ति की चिनगारिया उड़ने लगे। रेणुका के राष्ट्रीय गीत इतिहास और सस्कृति के आवरण मे लिखे गए। अपने पूर्ववर्ती राष्ट्रीय कवियो की परम्परा का अनुसरण करके उन्होने भी इतिहास को काव्य मे ध्वनित करने की चेष्टा की, वर्तमान की चित्रपटी पर अतीत को सम्भाव्य बनाना चाहा —

प्रियदर्शन इतिहास कंठ में
आज ध्वनित हो माव्य बने,

---

1. The one remarkable likeness between them lies in their volcanic energy of personality surging up from the very depths of their natures with ever new creative urge. They have both been able to fashion millions of human lives according to their will." *India and the Simon Report, P. 10*

वर्तमान की चित्रपटी पर
भूतकाल सम्भाव्य बने ।[1]

युगदर्शन की पहली प्रतिक्रिया ने दिनकर को छायावाद के रगीन, झिलमिले वातावरण और कुहासे से बाहर निकाला । उनकी कविता ने आकाश-कल्पनाओ, चन्द्रकिरणो और इतिहास के खण्डहरो से निकल कर वनफूलो की ओर जाने का आग्रह किया, धान के खेतो मे काम करती हुई कृषक सुन्दरियो के स्वर मे अटपटे गीत गाना चाहा, और सूखी रोटी खाकर भूख मिटाने वाले किसान की तृष्णा बुझाने के लिए गगाजल बनने की आकाक्षा प्रकट की । अपने युग के किसान-आन्दोलनो के प्रभाव से उन्होने आकाश का मार्ग छोड कर पृथ्वी से सम्बन्ध स्थापित किया ।

भारतीय जनता के लिए साम्प्रदायिक अवार्ड एक बडी कड़ुवी घूट के समान था, जिससे रोग के उपचार की नही, उसके बढ जाने की ही सम्भावना थी । परिगणित अथवा शोषित वर्ग के नाम पर हिन्दू जनता को खण्डित कर दिया गया, और ऐसे विशेष मत-क्षेत्रो का निर्माण किया गया, जिसमे केवल शोषित कहलाने वाली जनता को ही मताधिकार प्राप्त हो सकता था, इसके साथ ही उन्हे चुनाव के साधारण क्षेत्रो मे भी मताधिकार मिला हुआ था । ब्रिटिश साम्राज्यवादियो की जिस कूटनीति और षड्यन्त्रो से भारत की बहुसख्यक जनता को खण्ड-खण्ड करने की योजना बनाई गई थी, उससे महात्मा गाधी को बहुत निराशा हुई । उन्होने उसकी अखण्डता की रक्षा के लिए अनशन किया। सम्पूर्ण भारत मे असन्तोष की जो लहर फैली उससे दिनकर भी प्रभावित हुए। रेणुका की बोधिसत्व कविता इसी अछूतोद्धार आन्दोलन की प्रेरणा से लिखी गई । गाधी की अहिंसा नीति के विरोधी होते हुए भी उन्होने भारतीय सामाजिक व्यवस्था की मूल विषमताओ पर कुठाराघात किया । उसी के फलस्वरूप उन्होने घृणा सिखा कर निर्वाण दिलाने वाले दर्शन की भर्त्सना की, धन पर आधृत धर्म की विषम व्यवस्थाओ पर व्यग्यपूर्ण आघात किया ।

पर गुलाब जल में गरीब के अश्रु राम क्या पायेंगे ?
बिना नहाए इस जल मे क्या नारायण कहलायेंगे ?
मनुज मेघ के पोषक दानव आज निपट निर्द्वन्द्व हुए ?
कैसे बचें दीन, प्रभु भी, धनियों के गृह में बन्द हुए ?[2]

अन्धविश्वासी रूढ़िवादी पण्डितो ने गाधी की इस नीति का कर्कश विरोध

१. रेणुका—दिनकर, मंगल आह्वान
२. रेणुका—दिनकर, पृष्ठ १८

किया। उन्हे धर्म का खण्डनकर्ता मान कर उनके प्राण लेने की चेष्टाए की गईं। इसी प्रकार की एक घटना देवघर (बिहार) मे हुई। दिनकर ने व्यापक युगधर्म की याद दिला कर बोधिसत्व का आह्वान इन शब्दो मे किया—

जागो, गांधी पर किए गए नरपशु-पतितो के वारों से,
जागो, मैत्री निर्घोष! आज व्यापक युगधर्म पुकारो से।
जागो, गौतम! जागो महान!
जागो अतीत के क्रान्ति गान![1]

जब स्वदेशी आन्दोलन द्वारा व्यापारिक शोषण पर आधृत साम्राज्य-वाद की नीव हिलने लगी, लकाशायर और मैनचेस्टर के व्यापार का दिवाला निकलने लगा, तब अग्रेजो ने रक्तपात, त्रास और दमन-नीति का सहारा लिया। बन्दूको और किरिचो के जोर पर व्यापारिक क्रान्ति के विधायको का मुह बन्द करने का प्रयत्न किया जाने लगा। 'कस्मै देवाय?' कविता मे इस शोषण के मर्मस्पर्शी चित्र खीचे गए है—

शुभ्रवसन वाणिज्य-न्याय का,
आज रुधिर से लाल हुआ है,
किरिच नोंक पर अवलम्बित
व्यापार-जगत बेहाल हुआ है।[2]

किसानो के आर्थिक शोषण और किसान-आन्दोलन को दबाने के लिए किए गए अमानुषिक और पाशविक कार्यो का प्रतिशोध लेने के लिए दिनकर ने 'भूषण' की भावरंगिणी और लेनिन की क्रान्ति-चेतना का आह्वान किया—

देख, कलेजा फाड़ कृषक दे रहे हृदय-शोणित की धारें,
बनती ही उन पर जाती हैं, वैभव की ऊंची दीवारें।
धन-पिशाच के कृषक-मेघ में नाच रही पशुता मतवाली,
आगन्तुक पीते जाते है, दीनों के शोणित की प्याली—
उठ भूषण की भावरंगिणी! लेनिन के दिल की चिनगारी!
युग-मर्दित यौवन की ज्वाला! जाग-जाग री क्रान्तिकुमारी![3]

रेणुका मे क्रान्ति की जो चिनगारिया धीरे-धीरे सुलग रही थी, हुकार मे उन्होने प्रज्वलित अग्नि का रूप धारण कर लिया। दिनकर अतीत का आचल छोड कर वर्तमान मे आए। दो महान् शक्तियो के वज्रसंघात की चिनगारिया

---

१. रेणुका, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १६
२. " " पृष्ठ ३०
३. " " पृष्ठ ३२

सम्पूर्ण भारत-भूमि पर फैल गई। एक ओर ब्रिटिश साम्राज्य की लौह, सहारक और ध्वसक शक्ति और दूसरी ओर भारतीय जनता के त्याग का अपार बल, ज्वालाओ से घिरे हुए रुधिर-सिक्त वातावरण मे उन्होने क्रान्ति के गीत गाए, पराधीन देश के कवि की भावनाए, प्रकाशन और मुद्रण पर लगे हुए प्रतिबन्धो के कारण विवश और असहाय हो उठी। उसी विवशता का अनुभव करते हुए उन्होने लिखा—

जहाँ बोलना पाप, वहां क्या गीतों से समझाऊं मै ?

* * *

चौराहे पर बंधी जीभ से मोल करूं चिनगारी का ?[1]

परन्तु उनके आक्रोश ने ब्रिटिश-दमननीति को चुनौती दी। उन्होने "गला फाड-फाड कर गाया, चिल्ला-चिल्ला कर गाया"—

वर्तमान की जय, अभीत हो खुल कर मन की पीर बजे,
एक राग मेरा भी रण मे, बन्दी की जंजीर बजे।
नई किरण की सखी, बासुरी के छिद्रों से लूक उठे,
सांस सांस पर खड्ग-धार पर नाच हृदय की हूक उठे।

उन्होने नव जागृति-काल के जलते हुए तरुणो और मूक होकर अत्याचार सहती हुई सशक्त जनशक्ति को क्रान्ति की चुनौती दी—

नये प्रात के अरुण ! तिमिर उर में मरीचि-सधान करो,
युग के मूक शैल ! उठ जागो, हुंकारो, कुछ मान करो।[2]

'असमय आह्वान' मे व्यक्त अन्तर्द्वन्द्व केवल दिनकर के मन का ही द्वन्द्व नही है, उनके युग के युवक वर्ग का द्वन्द्व है, जो जीवन मे राग और रण का सामना एक साथ कर रहे थे। दिनकर ने रजनीबाला के अवतस और मंजीर, विधु के मादक शृङ्गार, से सम्बन्ध तोड कर रजत शृङ्गी से भैरव नाद फूका।

मृत्तिका-पुत्र दिनकर ने विवस्वान के प्रकाशपुज को चुनौती दी—

ज्योतिर्धर कवि में ज्वलित सौर-मण्डल का,
मेरा शिखण्ड अरुणाभ, किरीट अनल का।
रथ मे प्रकाश के अश्व जुते है मेरे
किरणो मे उज्ज्वल गीत गुथे है मेरे।[3]

'हाहाकार' कविता मे उनकी दृष्टि चारों ओर फैले हुए शोषण, अत्याचार और

---

१. हुकार, आमुख, पृष्ठ १—दिनकर
२. वही, पृष्ठ २
३. वही, पृष्ठ १६

राजनीतिक दमन पर केन्द्रित हुई। विजित, पराजित और शोषित की सहिष्णुता तथा शाति का उपहास करते हुए उन्होने कहा—

टांक रही हो सुई, चर्म पर, शान्त रहे हम, तनिक न डोले,
यही शांति, गरदन कटती हो, पर हम अपनी जीभ न खोलें!
शोणित से रंग रही शुभ्र पट, संस्कृति निठुर लिए करवालें,
जला रही निज सिंहपौर पर, दलित-दीन की अस्थि मशालें।

* * *

वे भी यहीं दूध से जो अपने श्वानों को नहलाते है।
ये बच्चे भी यहीं, कब्र मे "दूध-दूध!" जो चिल्लाते है।[1]

'अनल किरीट' मे उन्होने जनशक्ति को अत्याचारी शासक वर्ग की टक्कर मे मर मिटने की चुनौती दी। 'भीख' मे भगवान से लहू की आग, मन का तूफान, असन्तोष की चिनगारी, शोणित के अश्रु और अगार मागे जिससे क्रान्ति की ज्वाला फूट सके।

'पराजितो की पूजा' और 'कल्पना की दिशा' इस प्रसग मे विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये दोनो ही कविताए उस समय के आसपास लिखी हुई थी जब गाधी ने सत्याग्रह-आन्दोलन रोकने की आज्ञा दे दी थी—जब सुभाष, जवाहर, और जयप्रकाश का खौलता हुआ खून गाधी की शान्ति और समझौते की नीति से ठण्डा किए जाने को तैयार नही था। जिस सविनय अवज्ञा-आन्दोलन के लिए काग्रेस के अध्यक्ष ने भारतीय जनता को उसकी दृढता और अपराजेय शक्ति के लिए बधाई दी थी, उग्र दल के युवक नेता उसे गाधी तथा भारत की पराजय मानते थे, उनका उष्ण रक्त साम्राज्यवादी सत्ता को निकाल बाहर करने के लिए उबल रहा था—दिनकर ने भी इसे, भारत की पराजय ही माना। पराजितो द्वारा विजयादशमी का पूजन उन्हे व्यग्य सा लगा, उन्हे लगा कि गाधी की नीति भारत की जवानी को, उसकी खिलती ज्वाला को मिट्टी मे मिला रही है, गोरा बादल की मा और जौहर की रानी का तेज प्रशमित कर उनके साथ अन्याय कर रही है। उनके मन की ज्वाला, तलवार चलाने पर प्रतिबन्ध के कारण घुटने लगी, मन का तूफान अवरुद्ध होकर बोल उठा—

जीवन का यह शाप, सेवते हम शैलो के मूल रहें,
बर्फ गिरें रोज, बेबस खिलते-मुरझाते फूल रहें
बंधी धार, अवरुद्ध प्रभंजन, वन-देवी श्रीहीन हुई,

---

१. हुकार, पृ० २८—दिनकर

एक एक कर बुझी शिखाएं, वसुधा वीर-विहीन हुई ।[1]

'कल्पना की दिशा मे' उन्होने गाधी-नीति के विरुद्ध खुल कर आवाज उठाई । इसी कविता मे उन मान्यताओ की स्थापना हुई जिसने दिनकर को 'कुरुक्षेत्र' की प्रसिद्धि दी, जिस दर्शन को अस्वीकार करने के कारण बाबू राजेन्द्रप्रसाद ने उस ग्रन्थ पर अपनी सम्मति नही दी । जब गाधी ने अग्रेजो की तोप का उत्तर तकली और चरखे से देने का निश्चय किया दिनकर ने लिखा—

ऊब गया हूं देख चतुर्दिक अपने
अजा-धर्म का ग्लानि-विहीन प्रवर्तन,
युग-सत्तम संबुद्ध पुनः कहता है,
ताप कलुष है, शिखा बुझा दो मन की ।

* * *

तुम कहते हो शिखा बुझा दो, लेकिन,
आग बुझी, तो पौरुष शेष रहेगा ?

यही पर उन्हे गाधी की आध्यात्मिकता रक्षणीय प्रतीत हुई । इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वे उस प्रचण्ड 'महामानव' के अन्वेषी बने जो अपनी बाहो पर स्वर्ग को उठा सके, जिसकी सासो पर प्रभजन नाच उठे, जिसके इगित पर इतिहास बदल जाय, जो रणारूढ होने पर 'त्रस्नु' धर्म का पाठ करने न बैठ जाय । द्विधा और व्यामोह जिसे मृषा तर्क से न बाध सके । इस महामानव की कल्पना उन्होने इस रूप मे की—

शैल-शिखर सा प्रांशु, गंभीर जलधि-सा,
दिनमणि-सा समदृष्टि, विनीत विनय-सा,
झंझा-सा बलवान, काल-सा क्रोधी,
धीर अचल-सा, प्रगतिशील निर्झर-सा ।[2]

काग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच समझौता-वार्ता असफल होने पर भारत मे साम्प्रदायिक दगो की एक लहर-सी आ गई । सगठित और असगठित रूप मे हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे का खून पीने को हिंस्र पशु बन गए । 'तकदीर का बटवारा' नामक कविता मे इस स्थिति के प्रति क्षोभ और पीडा तथा विवशता व्यक्त हुई है । पराधीनता की हथकड़ियो और बेडियो से जकडी हुई कौम की तकदीर के बटवारे पर उसका मन क्रोध और लज्जा से भर उठा—

---

१. हुकार, पृष्ठ ५२
२. वही, पृष्ठ ६८

बेबसी में कांप कर रोया हृदय, शाप-सी आहें गरम आईं मुझे,
माफ करना, जन्म लेकर गोद में, हिन्द की मिट्टी, शरम आई मुझे।
बोलना आता नही तकदीर को, हिन्द वाले आसमां पर बोलते।
खूं बहाया जा रहा इन्सान का, सींग वाले जानवर के प्यार मे।
कौम की तकदीर फोड़ी जा रही, मस्जिदो की ईंट की दीवार मे।[1]

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की पृष्ठभूमि मे लिखित एक कविता भी हुकार में सकलित है, जिसमे दिनकर ने द्वितीय महायुद्ध होने की भविष्यवाणी की। प्रथम और द्वितीय महायुद्धो के बीच इटली में मुसोलिनी और जर्मनी मे हिटलर कट्टर राष्ट्रवाद के सकीर्ण दायरे मे युद्ध को जीवन और शान्ति को मृत्यु का नाम दे रहे थे। विश्व के वातावरण मे उनका आतक छाया हुआ था। राष्ट्र-सभा (League of Nations) के सक्रिय सदस्य होते हुए भी मुसोलिनी ने अपनी महत्वाकाक्षाओं के क्रूर सपनो को सत्य करने के लिए अबीसीनिया पर हमला कर दिया। यह हमला विश्व की अन्य शक्तियो के लिए एक चुनौती, और प्रजातन्त्रवादी सिद्धान्तो पर प्रथम कुठाराघात था। फासिस्ट मान्यताएं व्यक्तिवाद, समाजवाद तथा प्रजातन्त्रवाद की विरोधी तो थी ही, शान्ति-विरोधी भी थी। इसी शान्ति-विरोधी नीति का अन्तर्राष्ट्रीय जगत पर भारी प्रभाव पडा जिसने लीग आफ नेशन्स द्वारा प्रतिपादित विश्व-शान्ति के सिद्धान्तो को चुनौती दी। इस मान्यता के अनुसार राष्ट्र के गौरव का एकमात्र साधन है युद्ध और राष्ट्र-गौरव की कसौटी है, शक्ति-अर्जन, साम्राज्य-विस्तार। फासिस्ट विचारदर्शन का मूल मंत्र था 'खतरा उठाते हुए जिओ,' 'हर प्रकार के बलिदान और त्याग के लिए तैयार रहो।' इस मन्त्र की दीक्षा इटली के हर बच्चे और युवक को दी जाती थी। अबीसीनिया पर इटली का आक्रमण दुर्बल-शान्ति पर हिंस्र सैनिक-राष्ट्र का आक्रमण था। इसी आक्रमण से उत्तेजित होकर दिनकर ने 'मेघ रन्ध्र मे बजी रागिनी' कविता लिखी। इटली से भी अधिक भयकर शक्ति जर्मनी मे राइन-तट पर विकसित हो रही थी, जहा हिटलर अपनी तानाशाही सनक मे आकर आर्य राष्ट्र के मगल-चिह्न 'स्वस्तिक' को यहूदियो के खून मे नहला कर कलकित कर रहा था, इसी कविता मे दिनकर ने संसार को विश्वयुद्ध की ओर ढकेलने वाले इस दानव तानाशाह पर भी प्रहार किया—

बहते चले आज खुल खुल कर लंका के उनचास पवन।

---

१ हुकार, पृष्ठ ७०

चोट पड़ी भूमध्य 'सिन्धु' में 'नील तटी' में शोर हुआ।[1]

* * *

राइन तट पर खिली सभ्यता, हिटलर खड़ा मौन बोले।
सस्ता खून यहूदी का है, नाजी निज स्वस्तिक धोले।[2]

राष्ट्र-सभा की नीति पर भी उन्होने चोट की। अबीसीनिया पर इटली के आक्रमण से राष्ट्र-सभा की आधारभूत शान्ति-नीति को बड़ा गहरा धक्का पहुचा। आक्रमणकारी और आक्रान्त दोनो ही देश उसके सदस्य थे। इटली तो उसके सस्थापक देशो मे से एक था और विश्व-शान्ति का मुख्य रक्षक माना जाता था। ब्रिटेन और फ्रास, इटली की इस विश्वासघाती नीति का केवल नैतिक विरोध कर रहे थे, अबीसीनिया को आर्थिक और सैनिक सहायता देने मे वे देश असमर्थ थे। अबीसीनिया के साथ सहानुभूति रखते हुए भी वे इटली का कुछ भी नही बिगाड सके और वह इटली का उपनिवेश बन कर रह गया। दिनकर ने इसी स्थिति का चित्रण करते हुए लिखा—

बुझा रहे ज्वाला सांसों से कर से आग लगाते है।
हुआ बिधाता बाम, जेनेवा बीच सुधी चकराते है।[3]

कुरुक्षेत्र और सामधेनी काल की पृष्ठभूमि (१९३९—४५)

काग्रेस मन्त्रिमण्डलो की स्थापना के बाद, कुछ दिनो के लिए, भारत ने स्वतन्त्रता से सास ली, लेकिन जल्दी ही इसके विरुद्ध अनेक प्रतिक्रियाए आरम्भ हो गई। एक ओर मन्त्रिमण्डलो को पग-पग पर सरकार द्वारा लगाए गए व्यवधानो का सामना करना पड़ता था, दूसरी ओर दूसरे राजनीतिक दलो की ओर काग्रेस की उदासीनता का बडा भयकर परिणाम हुआ। १९३७ के चुनाव के बाद प० नेहरू ने घोषणा की कि भारत मे केवल दो राजनीतिक दल हैं काग्रेस और ब्रिटिश। मिस्टर जिन्ना ने उनका खण्डन करते हुए 'मुस्लिम दल' के स्वतन्त्र अस्तित्व की घोषणा की। उधर देशी नरेश अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए अग्रेजो के पिट्ठू बने हुए थे। इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीयता के दो महत्वपूर्ण शत्रु सामने आ गए थे। मुसलमानी नेतृत्व और भारतीय नरेश। काग्रेस मे आन्तरिक सघर्ष भी इस समय प्रबल हो उठे थे। इस प्रकार एक सयुक्त मोर्चे के अभाव मे भारत की शक्ति

१. हुकार, पृष्ठ ४२
२. वही
३. वही

अपेक्षाकृत बहुत कम हो गई थी ।

भावी कार्यक्रम और नीति को लेकर काग्रेस मे ही दो दल बन गए। सन् १६३८ मे श्री सुभाषचन्द्र बोस काग्रेस के प्रधान चुने गये । हरिपुरा अधिवेशन मे उन्होने द्वितीय महायुद्ध द्वारा मिले हुए अवसर का सदुपयोग करके हिसात्मक क्रान्ति द्वारा अग्रेजो के हाथ मे शक्ति छीन लेने का सुझाव दिया ।[१] समाजवादी और साम्यवादी दल ने भी उनके स्वर मे स्वर मिला कर गाधी की समझौतावादी और सुधारवादी नीति का विरोध किया । उन्होने भारत के लिए प्रस्तावित सघात्मक राज्य का भी विरोध किया । अप्रैल, सन् १६३८ मे अखिल भारतीय समाजवादी सम्मेलन मे श्री एम० आर० मसानी ने राष्ट्रीय और मजदूर आन्दोलन को नये सिरे से सगठित करके ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक सयुक्त मोर्चा बनाने का सुझाव दिया ।[२] परम्परावादी दल के प्रमुख नेता राजाजी, वल्लभभाई पटेल और राजेन्द्रप्रसाद का गाधीजी मे अन्ध विश्वास था, वे न सरकार को चुनौती देने के लिए तैयार थे, और न भारत छोडने की तिथि निश्चित करना उचित समझते थे । उनके विचार मे इग्लैण्ड के विरुद्ध कोई ऐसा कदम उठाना ठीक नही था जिससे यूरोप की तानाशाही शक्तियो को बढावा मिलता । वे इंग्लैण्ड के साथ सम्मानपूर्ण सहयोग के पक्ष मे थे । यह कदाचित् पहला अवसर था, जब पं० जवाहरलाल नेहरू ने पुरातनवादी दल को अपना नैतिक सम्बल दिया, और भारत की समस्याओ को अन्तर्राष्ट्रीय पृष्ठभूमि मे रख कर देखा ।[३]

नरम दल द्वारा मनोनीत डा० पट्टाभि सीतारमैया को पराजित करके श्री सुभाषचन्द्र बोस दूसरी बार काग्रेस के अध्यक्ष बने । त्रिपुरी अधिवेशन मे पं० गोविन्दवल्लभ ने बहुत बडे बहुमत से यह प्रस्ताव स्वीकृत करवा दिया कि काग्रेस के अध्यक्ष को कार्य-समिति के सदस्यो का चुनाव गाधी जी की सम्मति से करना होगा । इसके बाद ही सुभाषचन्द्र बोस ने काग्रेस की अध्यक्षता से त्यागपत्र देकर फार्वर्ड ब्लाक की स्थापना की, जिसके अन्तर्गत क्रान्तिकारी शक्तियो का सगठन किया जा सके ।

१. Indian Annual Register, 1938, Vol 1. PP. 336-48

२ Indian Annual, PP 382-392

३ Nehru was implacable in his opposition to Nazism and Fascism. He visited Europe in 1938 and declined the invitation of Hitler to visit Germany as on a previous occasion he had turned down the request of the Italian Duce to meet him on his return to China much against the will of Bose, the President, who did not want India to incur the hostility of Japan.

Moraes—Jawahar Lal Nehru, PP 252, 270, 274

विश्वयुद्ध मे सहयोग और असहयोग के प्रश्न को लेकर उठे हुए वाद-विवादो और उनके परिणामो का विस्तृत विवेचन यहा करना अनावश्यक और अप्रासगिक है। केवल इतना कह देना उचित होगा कि सरकार द्वारा काग्रेस की शर्तों के अस्वीकृत हो जाने से उसकी प्रतिष्ठा पर काफी आच आई और जनता मे अपना प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए १७ अक्तूबर, १९४० को व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन का आरम्भ गाधी जी द्वारा मनोनीत आचार्य बिनोवा भावे ने किया। सैद्धान्तिक भूमि का त्याग यहा भी नही किया गया। युधिष्ठिर की सन्तान ने धर्मयुद्ध के नाम पर युद्ध का विरोध निःशस्त्र होकर, केवल नारे लगा कर किया जिससे शत्रु के शत्रु लाभ न उठा सके। गाधी की नीति इस समय केवल युद्ध-विरोधी नारे लगा-लगा कर विरोध-प्रदर्शन करना था, कार्य करना नही। सत्याग्रहियो को यह ध्यान रखना पडता था कि वे कोई ऐसा कार्य न करे जिससे सरकार की शक्ति को हानि पहुचे। लेकिन सरकार की नीति दमन की ही रही। ३१ अक्तूबर को प० नेहरू को ४ साल का सश्रम कारावास दण्ड मिला। सरकार के इस कार्य से सारे देश मे क्रोध और उत्तेजना की लहर फैल गई। इस दण्ड के अनौचित्य के विषय मे प्रधानमन्त्री चर्चिल ने भी भारत के वाइसराय को पत्र लिखा।[1] जनवरी सन् १९४१ तक पहुचते-पहुचते लगभग २२५० व्यक्ति इस सम्बन्ध मे दण्डित हुए।

इन्ही दिनो विश्वयुद्ध मे इगलैण्ड को कठिन परिस्थितियो का सामना करना पडा। रूस पर जर्मनी के आक्रमण से मध्यपूर्व-एशिया खतरे मे पड गया। अपने घर मे नजरबन्द सुभाष बाबू अग्रेजो को धोखा देकर भाग निकले। जापान के विश्वयुद्ध मे सम्मिलित हो जाने पर खतरा भारत के दरवाजे पर ही आ गया, इन परिस्थितियों से बाध्य होकर सरकार को अपनी दमन-नीति को कुछ हल्का करना पडा। भारतीय महासागर में जापान की जल-शक्ति का आतक छा गया, बगाल और मद्रास पर युद्ध के बादल मडराने लगे। इन सब परिस्थितियो से बाध्य होकर ब्रिटेन के युद्धकालीन मन्त्रिमण्डल ने इस समस्या पर विचार करने के लिए श्री स्टैफर्ड क्रिप्स को नियुक्त किया, और क्रिप्स मिशन के असफल होने के बाद 'भारत छोडो' आन्दोलन आरम्भ हुआ जिसमे 'करो या मरो' का आदर्श सामने रखा गया। अगस्त १९४२ को काग्रेस का बम्बई

---

१. As you know, I have always felt that a man like Nehru should be treated as a political detenu and not as a criminal and welcomed every mitigation of his lot

The Second World War, V-III, P. 748.

अधिवेशन समाप्त हुआ, और ९ ता० को प्रात:काल वहा एकत्रित सब नेताओ को गिरफ्तार करके अज्ञात स्थानो पर भेज दिया गया। सरकारी प्रतिबन्धो के कारण काग्रेस द्वारा निर्धारित निर्णय भी जनता को ठीक तरह से ज्ञात नही हो पाए, जनता क्रोध और उत्तेजना से पागल हो उठी, और सरकार ने विकराल दानव का रूप धारण कर उन्हे आग की भट्ठी मे भून डालने का निर्णय कर लिया। एक ओर रेलवे स्टेशन, डाक तार टेलीफोन के तार काट-काट कर गिराए जाने लगे और दूसरी ओर से नर-मुण्डो और लाशो से सड़कें पाट दी गईं। बिहार और उत्तरप्रदेश मे यह ज्वाला बडे ही भयंकर रूप मे फैली। बलिया शहर पर बम-वर्षा की नौबत आ गई। इस आन्दोलन का दमन करने मे लगभग तीन महीने लग गए। साम्यवादियो के अतिरिक्त और सब दलो ने आन्दोलन मे भाग लिया। सतारा और मिदनापुर मे विद्रोही जनता ने स्वतन्त्र-राष्ट्रीय सरकार भी बना ली थी। जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व मे समाजवादी दल गुप्त रूप से सशस्त्र सघर्ष का सचालन करता रहा। सरकार का रुख भी बडा कठोर रहा। सुरक्षा के पहरेदार, सैनिक और पुलिस लुटेरे हिंस्र बन गए, उन्होने जनता, बच्चो और स्त्रियो के साथ अमानुषिक अत्याचार किए। भारी जुर्माने लगाए गए। सरकार की बेईमानी तथा व्यापारी पूजीपतियो के भ्रष्टाचार के कारण बगाल मे भारी अकाल पड़ा, जिसमे पन्द्रह-बीस लाख मनुष्यो की मृत्यु हुई। नफाखोरो ने लगभग १५० करोड का मुनाफा कमाया।

इस काल की एक और बहुत महत्वपूर्ण घटना थी—सुभाषचन्द्र बोस द्वारा आजाद हिन्द सेना का निर्माण। दिसम्बर, सन् १९४१ मे जापान ने युद्ध मे प्रवेश किया। उस समय, मलाया मे नियुक्त अमरीकी, आस्ट्रेलियन और अग्रेजी सैन्य विभागो के साथ लगभग ६० हजार भारतीय सैनिक और उच्च पदाधिकारी भी थे। पराधीन देश होने के कारण उनके तथा अन्य देश के सैनिको मे वेतन और अन्य सुविधाओ की दृष्टि से बहुत भेद-भाव रखा गया था। जापानियो ने बडी आसानी से मलाया पर अधिकार कर लिया। इन्ही दिनो बंगाल के क्रान्तिकारी नेता श्री रासबिहारी बोस ने जापानी सैन्याधिकारियो से मिल कर युद्ध मे बन्दी भारतीय सिपाहियो की एक देशभक्त सेना बनाई। इस प्रकार सितम्बर, सन् १९४२ मे भारतीय सेनानायकों के नेतृत्व मे 'आजाद हिन्द सेना' बनी। मलाया, बर्मा, हांगकांग, जावा इत्यादि देशो मे अनेक प्रवासी भारतीय उसमे सम्मिलित हुए। सुभाषचन्द्र बोस जो जनवरी, १९४१ मे अंग्रेजों की नजरबन्दी से निकल भागे थे, अफगानिस्तान होते हुए जर्मनी पहुचे थे, और वहा से जापान आ गए, उनके नेतृत्व मे 'आजाद हिन्द सेना' एक महत्वपूर्ण

और बलशाली सैन्य संगठन बन गई। २६ जून, सन् १९४५ को भारत के प्रति रेडियो सदेश भेजते हुए आजाद हिन्द रेडियो से उन्होने घोषित किया कि आजाद हिन्द सेना कोई पराधीन और शक्तिहीन सेना नही थी। उसके नायक धुरीराष्ट्रो की सहायता से भारत को अग्रेजो की दासता से मुक्त करने की योजना बना रहे थे। अपनी योजना का औचित्य सिद्ध करने के लिए उन्होने इतिहास-पुष्ट प्रमाण दिए और गाधी की नीति के अव्यावहारिक आदर्शवाद की कटु आलोचना की।[१]

१९४३ से लेकर १९४५ तक भारतीय जनता को अनेक कठिनाइयो, और कुठाओ का सामना करना पडा। सरकार के संरक्षण मे चलती हुई चोरबाजारी और भ्रष्टाचार से साधारण जनता पीडित थी। कांग्रेस के प्रमुख नेता जेल मे थे। १९४४ मे गाधी जी के मुक्त हो जाने पर भी राजनीतिक गुत्थी सुलझी नही थी। गाधी जी 'भारत छोडो' प्रस्ताव की समाप्ति को स्वीकार करने के लिए तैयार नही थे। मई, १९४५ मे युद्ध समाप्त हुआ। जून मे काग्रेस के नेता छोड़ दिए गए। और सारे देश मे उत्साह की नई लहर आ गई। पडित नेहरू तथा सरदार पटेल ने जनता को उसकी अजेय शक्ति और साहस के लिए बधाई दी।[२]

इन्ही दिनो लाल किले मे बन्दी आजाद हिन्द सेना के सेनानायको का मुकदमा शुरू हुआ। इन वीरो को मु त कराने का दायित्व काग्रेस ने लिया, जब आजाद हिन्द सेना के वीरो की शौर्य-गाथाए प्रकाश मे आई, सारी जनता का प्यार उन पर उमड पडा। उसी समय हवाई-दुर्घटना मे भारत के परमवीर सपूत सुभाष की मृत्यु के समाचार से सम्पूर्ण भारत पर अवसाद के बादल छा गए। उनके कठिन प्रवास की दुखद कहानियो को सुन कर यह अवसाद क्रोध मे बदल गया। भारतीय सेना मे भी भयंकर आक्रोश के चिह्न दिखाई देने

१. (A) Even a Washington in America or Garibaldi in Italy with their national armies and volunteers could not dispense with foreign aid

(B) India's main difficulty was that her leaders did not teach their people to hate their enemies. They were trying to "fight Fascism abroad by shaking hands with the representatives of imperiali·m at home. *Netaji, His life and work, PP 357-58.*

२. "The events in Satara, in Bihar, in Midnapore, elsewhere in Bengal and in the United Provinces, he said, "have added a glorious chapter in the history of the peoples' fight for independence," Sardar Patel said that the Congress was not prepared to alter even a comma of the 'Quit India' Resolution "Not only that," said he "the Congress would soon have to say 'Quit Asia' instead of 'Quit India'."

Dr. Raghuvanshi—Indian Nationalist Movement and Thought, P. 246.

लगे। इस प्रकार युद्ध समाप्त होते-होते, भारत मे फिर क्राति की उत्तेजना चारो ओर व्याप्त हो गई।

'सामधेनी' और 'कुरुक्षेत्र' की रचना उपर्युक्त पृष्ठभूमि मे हुई।

'सामधेनी' की राष्ट्रीय कविताएं प्राय: १९४१ से १९४६ के बीच मे लिखी गई हैं, अधिकतर रचनाओ मे तत्कालीन राजनीतिक स्थितियो और चेतना का प्रभाव दिखाई पडता है। सामधेनी की दूसरी कविता 'तिमिर मे स्वर के बाले दीप, आज फिर आता है कोई' मे उस घोर सकट काल मे जनता की भावनाओ के ज्वालामुखी का चित्रण है। ऊपर से शान्त और मौन, अन्तर मे अंगार तथा ज्वाला—दिनकर इसी अगार के तूफान और हलाहल के दुर्जय विस्फोट को घटित देखना चाहते थे। पर क्रान्ति की आग धुधुवा कर रह जाती थी। 'भारत छोडो' प्रस्ताव पास करने वाले राष्ट्र के अग्रणी नेता जेल मे बन्द थे, दिनकर ने उस घुटनभरी अग्नि का चित्रण इस प्रकार किया है—

सुलगती नहीं यज्ञ की आग,
दिशा धूमिल यजमान अधीर,
पुरोधा-कवि कोई है यहां?
देश को दे ज्वाला के तीर!
धुओं में किसी वह्नि का आज निमन्त्रण लाता है कोई [१]।

१९४३ मे लिखी गई कविता 'मजिल दूर नही है' मे विषम परिस्थितियो और भयंकर अत्याचारो से पीडित, जनता को आशा बधाई गई है, उसे सान्त्वना देने का प्रयास किया गया है। 'आग की अग्नि मे' सन् बयालीस के भयकर अत्याचारो से त्रस्त और परास्त जनता का चित्रण है। जिसका कुचला हुआ तेज दमन के तिमिर मे लुप्त हो रहा था। उस तेज की पुनर्प्राप्ति के लिए दिनकर ने भगवान से चढती जवानियो का शृङ्गार मागा। दमन के पहाड को सामने पाकर, क्रान्ति के अवरुद्ध प्रवाह को मार्ग देने के लिए, बल-पुज केसरी की झुकी हुई ग्रीवा को फिर से उन्नत करने के लिए भगवान के विस्फोट और तूफान की भीख मागी। आखो में आंसू के स्थान पर चिनगारियां और लहू मे विष का सचार मागा, वह विभा, वह शक्ति मांगी जो अपने अनल-विशिख से आकाश को जगमगा दे। जवानी का झण्डा, 'जवानी' और 'साथी' में भी समय की यही आग व्यक्त है। आजाद हिन्द सेना के शौर्य और बलिदान की कहानी 'सरहद के पार' और 'फलेगी डालो मे तलवार' नामक कविता मे की गई है। इन

१. सामधेनी, पृष्ठ ६—दिनकर

कविताओं का उद्देश्य प्रशस्तिमात्र नही, जनता के हृदय मे क्रान्ति की आग उत्पन्न करना था, पहली कविता मे यह आग आजाद हिन्द सेना के एक साधारण सिपाही की वाणी से फूटी है—

> **यह झंडा, जिसको मुर्दे की मुट्ठी जकड़ रही है,**
> **छिन न जाय, इस भय से अब भी कस कर पकड़ रही है;**
> **थामो इसे, शपथ लो, बलि का कोई क्रम न रुकेगा**
> **चाहे जो हो जाय, मगर, यह झंडा नहीं झुकेगा।**[1]

आजाद हिन्द सेना के निर्माण के बाद असख्य प्रवासी भारतीयो ने अपने प्राण और सर्वस्व सुभाषचन्द्र बोस के चरणो पर समर्पित कर दिया। उनके शौर्य की नई-नई कहानियां रोज कही जाती थी तथा उनके भारत आने की चर्चा प्राय· दिन-रात हुआ करती थी। दिनकर ने उनके आगमन की आशाभरी सम्भावना इन शब्दो मे की—

> **देश के दरवाजे पर रोज, खड़ी होती ऊषा ले माल।**
> **कि जाने तुम आओ किस रोज, बजाते नूतन रुद्र विषाण,**
> **किरण के रथ पर हो आसीन, लिए मुट्ठी मे स्वर्ण विहान।**[2]

इसी रुद्र का पावन नाम लेकर उनकी लेखनी ने अपने गान बोए, गान जिसमे भारतवर्ष के उबलते हुए क्रोध और प्रतिशोध की आग थी, जिस आग को वे असि-वृक्ष के रूप मे पल्लवित देखना चाहते थे, जिसमे अगारो और चिनगारियों के फूल खिलें।

द्वितीय महायुद्ध मे, जब तक धुरीराष्ट्र और मित्रराष्ट्र भाग ले रहे थे, भारत का साम्यवादी दल उसे साम्राज्यवादी युद्ध मानता रहा, लेकिन, रूस पर जर्मनी का आक्रमण होते ही उसे जनता का युद्ध कहा जाने लगा। द्वितीय महायुद्ध मे सहायता देने के लिए भारत की ओर से रखी गई शर्तों के अस्वीकृत हो जाने पर भारतीय नेताओ ने 'भारत छोडो' प्रस्ताव पास किया जिसके परिणामस्वरूप १९४२ की क्रान्ति हुई, परन्तु साम्यवादी दल विद्रोह का विरोध और युद्ध का समर्थन करता रहा। जब सम्पूर्ण देश अग्निकुण्ड बन रहा था, और अग्रेजो को निकाल बाहर करने के लिए प्राण की बाजी लगाए हुए था भारतीय साम्यवादी मन, वचन और कर्म से खुल कर नौकरशाही के सहायक बन रहे थे। दिनकर ने इसी स्थिति को लक्ष्य करके 'दिल्ली और मास्को' कविता लिखी। इस कविता के पहले भाग मे विश्व मे बढती हुई 'लाल लहर' के

१. सामधेनी. पृष्ठ ६७—दिनकर
२. वही, पृष्ठ ६०—दिनकर

भीषण प्रकाश, भयानक विप्लव तथा उसकी शक्ति का चित्रण हुआ, दूसरे भाग मे भारत मे साम्यवादी दल की नीति पर व्यग्य कसा गया है—

चिल्लाते है 'विश्व , विश्व' कह जहां चतुर नर ज्ञानी,
बुद्धि-भीरु सकते न डाल जलते स्वदेश पर पानी।
जहां मास्को के रणधीरो के गुण गाए जाते,
दिल्ली के रुधिराक्त वीर को देख लोग सकुचाते।[1]

तीसरे भाग मे राजनगरी दिल्ली के कलक का चित्रण करते हुए दिनकर ने उसे स्वदेश-हृदय पर गरल उड़ेलने वाली नागिनी, वीरविहीन देश की गिरी हुई तलवार, पौरुष का मरण, 'देश का कलक' इत्यादि विशेषणो से आभूषित किया। चौथे भाग मे सन् बयालीस की क्रान्ति मे ही उन्होने साम्य का सत्य रूप देखा। साम्यवादियो को पहले देश की पराधीनता और विषमता की प्राचीर तोडने की चुनौती दी, और सन् बयालीस के विद्रोह की गम्भीरता और सार्थकता का प्रतिपादन किया।

यह जो उठी शौर्य की ज्वाला, यह जो खिला प्रकाश,
यह जो खड़ी हुई मानवता, रचने को इतिहास,
सो क्या था विस्फोट अनर्गल ? बाल कुतूहल नर प्रमाद था ?
निष्पेषित मानवता का यह क्या न भयंकर तूर्य-नाद था ?
इस उद्वेलन बीच प्रलय का था पूरित उल्लास नहीं क्या ?
लाल भवानी पहुंच गई है भरत भूमि के पास नहीं क्या ?[2]

पाचवे खण्ड मे इसी क्रान्ति की अग्नि मे समिध अर्पित करने के लिए साम्यवादियो का आह्वान किया गया। छठवे खण्ड मे देवी के 'शिवा' और चण्डी रूपो का समन्वय करते हुए कवि ने धर्म और ध्वज की रक्षा के लिए हिंसात्मक क्रान्ति का गीत गाया—

कर मे त्रिशूल, कमंडल,
दिव्य-शोभिनी, सुरसरि-स्नाता,
राजनीति की अचल स्वामिनी,
साम्य-धर्म-ध्वज-धर की माता
भरत भूमि की मिट्टी से शृङ्गार सजाने वाली
चढ़ हिमाद्रि पर विश्व-शान्ति का शंख बजाने वाली।[3]

रूस का अन्धानुकरण करके भारत के सम्मान और गौरव पर आघात

१. सामधेनी, पृष्ठ ६१—दिनकर
२. वही, पृष्ठ ६३
३. वही, पृष्ठ ६३

पहुचाने वाले साम्यवादियो के प्रति उन्होने सदेश दिया—

> दिल्ली के नीचे मर्दित अभिमान नही केवल है,
> दबा हुआ शत-लक्ष नदो का अन्न-वस्त्र धन-बल है।
> दबी हुई इसके नीचे भारत की लाल भवानी,
> जो तोड़े यह दुर्ग, वही है समता का अभिमानी।[१]

'हे मेरे स्वदेश' नोआखाली और बिहार के दगे के समय लिखी गई। जब एक ओर से कुटिल राजनीतिज्ञ मजहब और ईमान की रक्षा के नाम पर निरपराध हिन्दू जनता का सिर कटवा रहे थे और दूसरी ओर से प्रतिशोध की भावना से उतने ही भयानक काण्ड किए जा रहे थे—दिनकर के पास इस स्थिति के चित्रण के लिए लज्जा, ग्लानि और विवशता के अतिरिक्त कुछ नही था। कुछ राजनीतिक नेताओ की धर्मान्ध कुटिलता और कुछ के द्वारा की गयी अतीत की भूलो के फलस्वरूप भारत साम्प्रदायिकता की आग मे जल रहा था—कूटनीतिज्ञ भेडियो की महत्वाकाक्षाओ का मूल्य इन्सान की ज़िन्दगी से चुकाया जा रहा था—

> यह विकट त्रास! यह कोलाहल!
> इस वन से मन उकताता है,
> भेड़िये ठठा कर हँसते है,
> मनु का बेटा चिल्लाता है![२]

धर्मान्धता-जन्य विकट पागलपन के कारण भारत की स्वतन्त्रता के स्वप्नो के पख जलने लगे। आन्तरिक सघर्षो और वैमनस्य के कलक से देश का मस्तक नीचा हो गया। इन खाक मे मिलते हुए आदर्शों की रक्षा के लिए दिनकर ने विवश आक्रोश के गीत गाए—

> जलते हैं हिन्दू-मुसलमान,
> भारत की आँखें जलती है,
> आने वाली आजादी की
> लो दोनो पांखें जलती है।
> वे छुरे नही चलते, छिदती
> जाती स्वदेश की छाती है,
> लाठी खाकर भारत माता
> बेहोश हुई जाती है।[३]

---

१. सामधेनी, पृष्ठ ६५
२. सामधेनी, पृष्ठ २८
३. वही, पृष्ठ ३१

इसके अतिरिक्त द्वितीय महायुद्ध से उत्पन्न वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय विवशताओ, विभीषिकाओ और विषमताओ के कारण दिनकर युद्ध की समस्या पर विचार करने को बाध्य हुए। 'कलिग विजय' पहली कविता है जिसमे दिनकर ने हिसा को स्वीकार नही किया। परन्तु, यह स्वीकृति अस्थायी थी, 'कुरुक्षेत्र' मे वे फिर अपनी पुरानी मान्यताओ पर लौट आए तथा शारीरिक और मानसिक शक्ति के समन्वय और सतुलन मे ही मानव के पूर्ण विकास की कल्पना थी।

स्वतन्त्रता-परवर्ती राष्ट्रीय काव्य की पृष्ठभूमि

'बापू' काव्य की पृष्ठभूमि मे दो घटनाए प्रधान है—बापू की नोआखाली यात्रा, और उनका निर्वाण। 'बापू' उनके शब्दो मे विराट के चरणो मे वामन का दिया हुआ क्षुद्र उपहार है।

नोआखाली यात्रा की पृष्ठभूमि मे भारत की साम्प्रदायिक समस्या का एक लम्बा इतिहास था। विभिन्न प्रान्तो के प्रशासन से काग्रेस का इस्तीफा, मुस्लिम लीग के लिए वरदान सिद्ध हुआ। प्राय: उन सभी प्रान्तो मे जिन्हे मुसलमान पाकिस्तान के अन्तर्गत रखना चाहते थे, मुस्लिम लीग की शक्ति दिन पर दिन बढती गई। व्यवस्थापिका सभा के विश्वासपात्र होने पर भी सिन्ध के प्रधान-मन्त्री अल्लाबख्श को त्यागपत्र देना पडा। उनका दोष केवल इतना था कि उन्होने काग्रेस की नीति के अनुसार खान-बहादुर का सम्मान छोड़ दिया था। उनके अवसरवादी सहयोगी हिदायतुल्लाह मुस्लिम लीग मे चले गए और गवर्नर की सहायता से मुख्यमन्त्री बने रहे। आसाम की धारासभा के यूरोपी सदस्यो की सहायता से मोहम्मद सदाउल्लाह के नेतृत्व मे लीगी मन्त्रि-मण्डल बन गया। बगाल में फजलुलहक का संयुक्त मन्त्रिमण्डल बना और उसके बाद बहुत जल्दी ही नजीमुद्दीन का लीगी मन्त्रिमण्डल स्थापित हो गया। सन् १९४३ मे उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश में भी लीग का मन्त्रिमण्डल बन गया। इस प्रकार ब्रिटिश सरकार मुसलमानो की हठधर्मी, सकीर्णता और स्वार्थनीति का लाभ उठा कर उनकी पीठ ठोक काग्रेस को नीचा दिखाती रही। भारत की स्वतन्त्रता के मार्ग मे दुर्बलकाय दानव पहाड़ बन कर खडा हो गया। 'भारत छोड़ो' के स्थान पर उसने 'भारत काटो तब छोडो' का नारा लगाया। उसके मजहबी पागलपन के सामने अनेक तर्क और विवेकपूर्ण प्रस्ताव असफल हो कर रह गए। श्री राजगोपालाचार्य ने रूस के सविधान पर आधृत काग्रेस-लीग-सहयोग के लिए जो फ़ारमूला सामने रखा, उसे भी मि०जिन्ना ने रद्द कर

दिया । अखण्ड भारत की स्वीकृति भी उन्हे मान्य नही थी । इस विषय पर गाधी जी के साथ भी उनकी वार्ता दीर्घकाल तक बिना किसी परिणाम के चलती-चलती एक दिन टूट गई । गाधी-जिन्ना वार्ता की असफलता के बाद देश का वातावरण बडा ही सकटपूर्ण हो गया । कही-कही तो गृहयुद्ध की चर्चा भी चलने लगी ।

'कैबिनेट मिशन' के प्रस्तावो को ठुकरा कर मुस्लिम लीग ने १६ अगस्त, १९४६ को 'शस्त्र प्रयोग' द्वारा पाकिस्तान बनाने का प्रस्ताव पास किया, साम्प्रदायिक दानव ने अपना मुखौटा उतार कर खाकसारो, तथा मुस्लिम राष्ट्रीय सेना के सदस्यो, को तलवार उठा कर मजहब की रक्षा करने की चुनौती दी । सुहरावर्दी के नेतृत्व मे, लीगी मन्त्रिमण्डल की छत्रछाया और संरक्षण मे हिन्दू जनता, बलि के बकरो की तरह कटवाई गई । तीन दिन तक बगाल मे दिन-रात यह नरमेध इस्लाम के नाम पर चलता रहा, नोआखाली मे मजहबी पागल-पन मे मनुष्य भेडिए बन गए, जिनके हाथ मे तलवार और आखो मे हिंसा की चिनगारिया थी, जिनसे फूटी हुई ज्वाला मे असहाय हिन्दू भस्म हो रहे थे । शासनतन्त्र तटस्थ निरपेक्ष देख रहा था—जैसे ये हिंस्र पशु उन्ही के छोडे हुए हों, ऐसा लग रहा था कि सारा देश इस हवनकुण्ड मे होम दिया जाएगा । साम्प्रदायिकता के विषधरो की जहरीली फुफकार मे मानवता भस्म हो जाएगी । महात्मा गाधी की आध्यात्मिक शक्ति और निर्भय व्यक्तित्व ही पीडित जनता का एकमात्र नैतिक सम्बल रह गया था । 'बापू' कविता की रचना उसी समय हुई जब बापू नोआखाली की यात्रा कर रहे थे ।

दिनकर ने सदैव ही 'बापू' की पूजा अगारो और चिनगारियो से की थी । उनके उच्च सैद्धान्तिक आदर्शो को पृथ्वी की कमजोरियो में ढाल लेना उनके मत में असम्भव था । अगार की पूजा करते हुए भी, गाधी की अथाह करुणा के सागर की गम्भीरता और प्रेम के अमृत-प्रवाह के प्रति अपार श्रद्धा का व्यक्ती-करण उन्होने किया—

पर तू इन सब से परे; देख
तुमको अंगार लजाते है,
मेरे उद्वेलित-ज्वलित गीत
सामने नहीं हो पाते है ।[1]

* * *

लज्जित मेरे अंगार, तिलक—
माला भी यदि ले आऊं मैं,

किस भांति उठू इतना ऊपर ?
मस्तक कैसे छू पाऊं मै ?[१]

'वज्रपात' तथा 'अघटन घटना क्या समाधान' मे गाधी जी की निर्मम और पागलपन से भरी हत्या के मार्मिक चित्रों ने, जनता के रोते हुए हृदय का प्रतिनिधित्व किया—

धरती विदीर्ण हो सकती है
अम्बर धीरज खो सकता है,
बापू की हत्या हुई, किसी भी दिन
कुछ भी हो सकता है।[२]

परन्तु इस अगाध श्रद्धा के पीछे दिनकर का 'हिन्दू' भी शकाग्रस्त होकर बोल रहा है। गाधी के मार्ग से समस्या के व्यावहारिक समाधान के प्रति उनके मन मे यहा भी शका है—

दानवता से मै भी अधीर,
नर पर मेरा भी सहज प्यार,
मै भी चाहता पकड़ पाऊं,
इस अमिट प्रेम का क्षीण तार।
पर, हाय, प्रणय के तार छोर
बस एक हमारे कर मे है,
क्या अन्य छोर भी इसी तरह
आबद्ध अपर अन्तर मे है ?
उत्तर दे सकता कौन ? शान्त,
मेरे शंकाकुल कुटिल हृदय !
जब तक शंकाएं शेष, नही
दर्शन दे सकता तुझे प्रणय।[३]

स्वतन्त्रता के पश्चात् लिखे हुए प्रमुख ग्रन्थ है 'रश्मिरथी', 'नीलकुसुम', 'नए सुभाषित', 'उर्वशी' और 'परशुराम की प्रतीक्षा'। रश्मिरथी परम्परा के मोह से लिखा हुआ प्रबन्ध-काव्य है, जिसमे कुन्ती के अवैधपुत्र, अथवा 'सूतपुत्र' कर्ण की गौरव-गाथा का गान हुआ है। कर्ण के चरित्र के इन दोनो ही अशो के द्वारा दो सामाजिक प्रश्नो को उठाया गया है, इसकी पृष्ठभूमि मे कोई विशेष ऐतिहासिक

---

१. बापू, पृष्ठ ३
२. वही, पृष्ठ ६०
३. वही, पृष्ठ १६

घटना नही है, बल्कि इसकी मूल प्रेरणा सामाजिक है। नीलकुसुम की कुछ रचनाओ की पृष्ठभूमि मे भारत की राजनीति के विविध पक्षो, पचशील के सिद्धान्तो तथा अन्य सामयिक घटनाओ को ग्रहण किया गया है। इस प्रसग मे 'जनतन्त्र का जन्म' कविता उल्लेखनीय है जो २६ जनवरी, १९५० को भारत के गणतन्त्र के निर्माण के अवसर पर लिखी गई थी। इसी कविता की प्रसिद्ध पक्ति है—

'सिहासन खाली करो कि जनता आती है' [1]

'किसको नमन करू मैं', 'राष्ट्रदेवता का विसर्जन' और 'हिमालय का सदेश' कविताओ मे दिनकर राष्ट्रवाद की सीमा का अतिक्रमण कर विश्वबन्धुत्व की ओर बढ रहे थे, तथा नये सुभाषित की कुछ कविताओं मे वर्तमान व्यवस्थाओ की विषमताओ पर हल्के-फुल्के छीटे डाल रहे थे कि चीन के आक्रमण ने उन्हे फिर राष्ट्रवाद की ओर मोड दिया। इस आक्रमण का इतिहास और उससे सम्बद्ध घटनाए हमारे मस्तिष्क मे बिलकुल ताजी है। उनका उल्लेख इस प्रसग मे अनावश्यक जान पडता है। यहा केवल एक तथ्य स्मरणीय है कि दिनकर का आक्रोश केवल चीन की आसुरी वृत्ति के प्रति नही है, वे चीन के आक्रमण के लिए भारतीय राजतत्र और विचार दर्शन को उत्तरदायी मानते है। सत्ताधारी राजनीतिज्ञो की निर्वीर्य शान्ति नीति, उनके अनुसार चीन के इस दुस्साहस के लिए उत्तरदायी है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' की पृष्ठभूमि मे चीन के आक्रमण की घटना उतनी नही है जितनी उसके लिए उत्तरदायी परिस्थितिया। इस कविता मे गाधीवाद के नाम पर चलती हुई कृत्रिम आध्यात्मिकता तथा निर्वीर्य कल्पनाओ का खण्डन और विरोध किया गया है। भारत की शान्ति और तटस्थ नीति की अव्यावहारिकता और भ्रात अध्यात्मप्रधान दर्शन का विरोध किया गया है। तथा राजनीतिक सत्ताधारियो के भ्रष्टाचारो तथा आन्तरिक अव्यवस्थाओ की ओर इगित किया गया है। कही-कही पर उनकी अभिव्यक्ति आवश्यकता से अधिक उग्र और कटु हो गई है :—

घातक है, जो देवता सदृश दिखता है,
लेकिन, कमरे मे गलत हुकुम लिखता है।
जिस पापी को गुण नहीं, गोत्र प्यारा है,
समझो उसने ही हमें यहां मारा है।
जो सत्य जान कर भी न सत्य कहता है।
या किसी लोभ से विवश मूक रहता है।

---

१. नील कुसुम, पृष्ठ ५८—दिनकर

'उस कुटिल राजतंत्री कदर्य को धिक है,
यह मूक सत्या हन्ता कम नही बधिक है।[1]

इस प्रसग मे शोचनीय तथ्य यह है कि ये उक्तिया एक सैनिक के मुख से कहलाई गई है जिसे सोचने-विचारने का नही केवल लडने, मारने और मरने का अधिकार है। सैनिक-अनुशासन की दृष्टि से इस कविता की विधा आपत्ति-जनक है।

परन्तु चीन का आक्रमण वह घटना है जिसने दिनकर की यह आस्था दृढ कर दी है कि लाल लपट से गाधी की, भारत की और भारतीय सस्कृति की रक्षा करने के लिए हमे सैन्य-शक्ति का पूर्ण सहारा लेना पडेगा, अपने जीवन दर्शन मे युद्ध को भी उतना ही प्रधान स्थान देना होगा जितना परमार्थ और मानवतावाद को। मानवतावाद, भारत का साध्य-लक्ष्य होगा, और सैन्य-शक्ति उसका साधन।

१. परशुराम की प्रतीक्षा, पृष्ठ ३—दिनकर

तीसरा अध्याय

दिनकर की काव्य-चेतना का विकास-१

प्रयोगकालीन काव्य-चेतना

दिनकर की काव्य-चेतना अभाव से भाव, निषेध से स्वीकृति और निवृत्ति से प्रवृत्ति की ओर अग्रसर हुई है। आरम्भिक दिनों मे उनके सामने काव्य-रचना के अनिश्चित और अनेक मूल्य थे। बिहार के विद्रोही राष्ट्रीय चेतना के अग्निमय वातावरण मे उनके कवि-रूप का निर्माण हुआ, माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी और मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओ द्वारा उन्हे राष्ट्रीय कविता के सस्कार प्राप्त हुए, छायावाद के युवक कवियो की रेशमी झिलमिला-हट से भी उनका कल्पनाशील, युवा व्यक्तित्व प्रभावित हुए बिना नही रह सका। यही कारण है कि 'रेणुका' मे हमे उनकी काव्य-चेतना के अनेक सूत्र मिलते है। उसके पहले लिखी गई रचनाओ (बारदोली-विजय और प्रण-भग) मे पूर्वकालीन राष्ट्रीय और आख्यानात्मक काव्य-परम्पराओ का ही अनुसरण हुआ है। इसलिए 'रेणुका' को दिनकर की प्रयोग-कालीन रचना माना जा सकता है, जिसमे उनके मूल्य निश्चित नही हो सके है। अन्त मुखी और बहिर्मुखी काव्य-प्रवृत्तियो मे किस ओर उनका झुकाव अधिक है यह स्पष्ट नही होता। एक ओर क्रान्ति का प्रलयकारी स्वर है तो दूसरी ओर छायावाद की कुठा, वेदना और नैराश्य भी है। 'रेणुका' के इन्ही सूत्रो का विकास दिनकर की परवर्ती काव्यकृतियो मे हुआ है इसलिए उनका विस्तृत और पृथक्-पृथक् विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है। उन सूत्रो के पाच मुख्य रूप हैं :

१. राष्ट्रीय चेतना
२. यथार्थवादी कला-चेतना
३. निवृत्ति-मूलक वैयक्तिक चेतना
४ कल्पना-प्रधान सौन्दर्य-चेतना
५. शृङ्गार-चेतना और नारी-भावना।

विकास की दृष्टि से इन सभी प्रतिपाद्य विषयों के दो सोपान माने जा सकते है। प्रथम वह स्थिति, जब कवि की प्रतिक्रियाए मूलत भाव-परक है। इसके अन्तर्गत कुरुक्षेत्र के पूर्व लिखी गई प्राय सभी रचनाए रखी जा सकती है। राष्ट्रीय चेतना के काव्य 'रेणुका' और 'हुकार' दिनकर की भावप्रवणता के परिणाम हैं, 'द्वन्द्वगीत' और रसवन्ती मे भी वैयक्तिक भावनात्मक प्रतिक्रियाओ की ही अभिव्यक्ति हुई है। 'कलिंग विजय' मे द्वन्द्वगीत की वैयक्तिक करुणा और व्यथा ने समष्टिजन्य रूप ग्रहण किया है। यहा तक दिनकर एक भावप्रवण कवि है विचारक कवि नही, 'कुरुक्षेत्र' मे वे पहली बार विचारक और द्रष्टा के रूप मे आते है और कविता के प्रति उनकी भावात्मकता बुद्धि से सपुष्ट होकर अभिव्यक्ति पाती है। राष्ट्रीय-सास्कृतिक और ऐतिहासिक प्रतिपाद्य के प्रति उनके मूल्य निश्चित और स्थिर हो जाते है, कुरुक्षेत्र के अतिरिक्त सामधेनी, बापू और परशुराम की प्रतीक्षा मे भी दिनकर का अग्निमय भाव बुद्धि-सपुष्ट है। अधिकतर, विचारक कवि का भावपक्ष गौण और दुर्बल पड जाता है, परन्तु दिनकर की कविता मे बुद्धि, भाव को शीतल नही बनाती, उनको उद्‌बुद्ध करके उन्हे दृढता और शक्ति प्रदान करती है। 'द्वन्द्वगीत' की निवृत्ति-भावना कुरुक्षेत्र के विचारप्रधान कर्म-मूलक दर्शन मे सदा के लिए खो गई। दूसरी ओर 'रसवन्ती' की कोमल-सुकुमार शृङ्गार-भावना की परिणति विचार-सपुष्ट होकर 'उर्वशी' के कामाध्यात्म-दर्शन के रूप मे हुई। रेणुका की यथार्थवादी सामाजिक भावना ही स्वतन्त्रता के बाद, फैले हुए राजनीतिक भ्रष्टाचार, आर्थिक और सामाजिक वैषम्य के प्रति फिर से जागृत हो उठी है। 'नए सुभाषित', 'नीम के पत्ते', और 'परशुराम की प्रतीक्षा' मे सकलित अनार्की जैसी कविताओ के आक्रोश और व्यग्य को रेणुका की अतिम कविताओ मे व्यक्त सामाजिक यथार्थवादी भावनाओ का नया रूप माना जा सकता है। दिनकर की शेष रचनाए हैं, रश्मिरथी, नीलकुसुम तथा सीपी और शख। रश्मिरथी, द्विवेदीयुगीन प्रबन्धकाव्य-परम्परा का काव्य है जिसके आख्यान और चरित्र-चित्रण मे दिनकर की मुख्य प्रवृत्तिया स्वत उभर आई है। नीलकुसुम का परिधान नई कविता का है परन्तु काव्य-चेतना प्रायः उनकी अपनी पुरानी ही है। सीपी और शख देश और विदेश के मान्य कवियो की रचनाओं का अनुवाद है, इसलिए काव्य-चेतना के विकास के प्रसंग मे उस कृति का अधिक महत्व नही है।

ध्वंसक क्रान्ति

जैसा कि पहले कहा जा चुका है दिनकर की प्रारम्भिक रचनाएं अधिकतर

भावावेश प्रेरित है। यदि रोमान्टिक काव्य के विषय मे यह मान्यता स्वीकार कर ली जाए कि वह सम्भावनाओ को देख कर नही चलता, उसमे वाछनीय-अवाछनीय, सम्भावना-असम्भावना का प्रश्न नही उठता, तो यही कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय-प्रतिपाद्य की ओर भी दिनकर की प्रारम्भिक दृष्टि रोमान्टिक कवि की ही रही है। रेणुका मे उनकी राष्ट्रीय भावना का सूत्रपात ही हो सका है निर्धारण नही। उसके तीन मुख्य रूप है। प्रथम रूप है ध्वसक क्रान्ति के आह्वान का, जिसकी प्रतिनिधि कविता है ताण्डव। 'रुद्र' केवल प्रतीक मात्र है। रुद्र का आह्वान जनता की रौद्र-भावनाओ का आह्वान है। जिसे कवि अपने विस्फोटक स्वर द्वारा अत्याचार, आडम्बर और अहंकार का नाश करने की चुनौती देता है। यह ध्वस और विनाश सम्भावनाओ की ओर ध्यान नही देता। कवि बुद्धि द्वारा उसे सतुलित नही करता, उसके ध्यान-योग मे तो केवल शृ'गीनाद, प्रलय के बादल, अग्नि और तूफान, डगमगाते हुए पर्वत है—जो हिसक क्रान्ति के प्रतीक है। यह क्रान्ति, यह ज्वाला अव्यवस्था फैला सकती है—आग लगा सकती है परन्तु समस्या का अन्तिम समाधान नही बन सकती। प्रलय या नाश की स्थिति स्थायी रूप से काम्य नही हो सकती परन्तु रेणुका का राष्ट्रवादी कवि सतुलन नही जानता, वह केवल नाश और विध्वस ही देख सका है, निर्माण की कल्पना उसकी दृष्टि मे नही है। अभी तक इस क्षेत्र मे दिनकर पूर्ण भावनावादी है, बुद्धिवाद उनके निकट नही है। भावो को बुद्धि से सतुलित करने की कल्पना वे नही करते। रेणुका मे व्यक्त उनकी वीरता अधी वीरता है और उनकी क्रान्ति अन्धी क्रान्ति। 'ताण्डव' कविता के पाठ की एक रोचक कहानी है। २६ दिसम्बर, १६३३ को देवघर के शंकर मन्दिर मे सान्ध्य-शृङ्गार के समय दिनकर जी ने इस कविता का पाठ किया और १५-१-३४ को बिहार मे भयकर भूकम्प आया। कविता के अलौकिक प्रभाव पर तो कोई अन्धी आस्था वाला व्यक्ति ही विश्वास कर सकता है, लेकिन उसका प्रतीकात्मक महत्त्व अवश्य स्वीकार किया जा सकता है। वह नाश जिस पर नव-निर्माण की नीव न पड सके, जो भूकम्प और बाढ बन कर ही रह जाये, स्थायी महत्त्व की वस्तु तब तक नही हो सकता जब तक उसकी परिणति किसी उदात्त लक्ष्य मे न होती हो। ताण्डव की क्रान्ति मे इस उदात्त लक्ष्य का बिल्कुल अभाव नही है, प्रलय के बादलो की गड़गडाहट, अग्नि वर्षा की ज्वाला, पर्वतों की डगमगाहट मे उसका वह स्वर प्रच्छन्न होते हुए भी शक्तिपूर्ण है—

लगे आग इस आडम्बर में,
वैभव के उच्चाभिमान में,

अहंकार के उच्च शिखर में,
स्वामिन् अन्धड आग बुला दो
जले पाप जग का क्षण-भर मे[१]

राष्ट्रीय भावना के विश्लेषण की दृष्टि से रेणुका की दूसरी महत्वपूर्ण कविता है हिमालय। इस कविता मे उनकी तत्कालीन राष्ट्रीय चेतना के विभिन्न तत्व सयुक्त रूप मे मिलते है। कही-कही उसमे 'ताण्डव' की-सी आग है—

कह दे शंकर से आज करें
वे प्रलय नृत्य फिर एक बार।
सारे भारत मे गूंज उठे,
हर हर बम का फिर महोच्चार[२]

'कस्मै देवाय ?' मे भी क्रान्ति की धात्री कविता से आग बरसाने का आह्वान किया गया है—

क्रान्ति-धात्रि कविते ! जागे, उठ
आडम्बर मे आग लगा दे,
पतन, पाप, पाखण्ड जलें,
जग मे ऐसी ज्वाला सुलगा दे।[३]

अतीत के प्रति मोह और वेदना

अतीत के प्रति मोह और वेदना को भी दिनकर की राष्ट्रीय चेतना का प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है। रेणुका मे इस पक्ष को बहुत प्रधानता दी गयी है। अतीत की ओर आसक्ति से देखने की प्रवृत्ति को दिनकर ने छायावादी सस्कार माना है। 'छायावादी कविता का मूलाधार भावुकता थी और भावुकता जब वर्तमान से असन्तुष्ट हो जाती है तब, स्वभावत वह अतीत की ओर लालसा से दौडती है।'[४] दिनकर के अतीत-मोह का स्रोत तो राष्ट्रीय-सास्कृतिक और छायावादी दोनो ही काव्य-धाराओ मे था परन्तु उसके प्रति करुणा और अवसाद के भाव मूलतः छायावादी कविता से ही प्राप्त हुए थे इसमे कोई सन्देह नही है। 'हिमालय', 'मिथिला', 'पाटलिपुत्र की गंगा' इत्यादि कविताए इस भाव-धारा की प्रमुख रचनाए है, जिनमे सामान्यत. भारत का,

१ रेणुका, पृष्ठ ३, तृतीय संस्करण—दिनकर
२ वही पृष्ठ ७, तृतीय सस्करण—दिनकर
३. वही, पृष्ठ ३१
४ काव्य की भूमिका, पृष्ठ ४२—दिनकर

और विशेषत बिहार प्रदेश की ऐतिहासिक गरिमा, प्राकृतिक सौन्दर्य, भौगोलिक महत्व और सास्कृतिक वैभव की अभिव्यक्ति की गई है। मिथिला, कपिलवस्तु, वैशाली, पाटलिपुत्र, गडकी, लिच्छवी, विद्यापति, बोधिसत्व इत्यादि का गान करते हुए कवि-हृदय उसी मे रम जाता है।

व्यापक राष्ट्रीयता

यद्यपि दिनकर की समष्टि चेतना प्रदेश से देश और देश से विश्व की ओर उन्मुख हुई है परन्तु राष्ट्र के नाम पर उनके सामने सम्पूर्ण देश रहता है। देश की सस्कृति, देश का भूगोल, देश की समृद्धि का समग्र चित्रण इन पक्तियो मे है —

सुखसिन्धु, पंचनद, ब्रह्मपुत्र,
गंगा यमुना की अमिय धार,
जिस पुण्यभूमि की ओर बही,
तेरी विगलित करुणा उदार।

*　　*　　*

तू तरुण देश से पूछ अरे,
गूजा कैसा यह ध्वंस-राग ?
अम्बुधि-अन्तस्तल-बीच छिपी
यह सुलग रही है कौन आग।[1]

'कस्मै देवाय' कविता मे भी इसी व्यापक राष्ट्रीयता को अभिव्यक्ति मिली है—

धर्म भिन्नता हो न, सभी जन
शैल-तटी में हिल मिल जाएं,
ऊषा के स्वर्णिम प्रकाश में
भावुक भक्ति-मुग्ध-मन गाएं।[2]

भाव-प्रवण व्यक्ति की दृष्टि व्यक्तिपरक होती है, वह वहा अधिक टिकती है जहा उसकी भावनाओं का निकट सम्बन्ध होता है, दिनकर के प्रान्तीय प्रेम के पीछे भी यही तथ्य निहित है, लेकिन इस प्रेम और राग के नाम पर उनकी राष्ट्रीय भावना का रूप अनुदार और सकीर्ण नही होने पाया है।

'मिथिला' और 'पाटलिपुत्र की गंगा' मे भारत के ऐतिहासिक गौरव और वर्तमान वैषम्य का चित्रण हुआ है। वह मिथिला जो जनक और कपिल की

---

१. रेणुका, पृष्ठ ७—दिनकर
२. वही, पृष्ठ ३४

जन्मभूमि है जहां की नारी-रत्न सीता ने विश्व मे नारीत्व का आदर्श स्थापित किया, जहा विद्यापति के मधुर गीत गुजरित हुए थे, आज पतझड की उदास कोयल के समान अवसाद-ग्रस्त, क्षीण प्रभा और हत आभा होकर खडहर मे अपने सुहाग की लाली ढूढती फिरती है। 'पाटलिपुत्र की गगा' मे भी मगध और वैशाली का गौरव-गान है तथा अतीत के माध्यम से वर्तमान को जगाने का प्रयास किया गया है। उसमे शृङ्गी का भैरवनाद नही, हारे हुए देश के युवक की करुणा है, जो अपने निस्तार का मार्ग न पाकर याचनाओं और प्रार्थना का सहारा लेता है।

यद्यपि इस याचना मे अवसाद का स्वर प्रधान है, लेकिन अतीत के गौरव की करुण स्मृति द्वारा वर्तमान की समस्याओ के समाधान का उद्देश्य भी उनमे निहित है, जिसे छायावादी नही द्विवेदीयुगीन कविता की प्रवृत्तियो के अन्तर्गत ही रखा जा सकता है।

'रेणुका' की ध्वसक क्रान्ति के स्वर मे उस युवक वर्ग का प्रतिनिधित्व हुआ था जो भगतसिंह की उपासना मे पागल था, ब्रिटिश सरकार की दमन-नीति से जिसका खून उबल रहा था। दिनकर के स्वर का यह पागलपन 'हुकार' मे खुल कर अपनी चरम सीमा पर पहुचा है। 'रेणुका' मे केवल उसकी मान्यताओ का निर्माण हो रहा था, वे राजनीति के विभिन्न पक्षों को प्रयोग रूप मे अपनी कविताओ मे स्थान दे रहे थे।

तत्कालीन राजनीतिक समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण

दिनकर की राष्ट्रीय-चेतना की प्रेरक परिस्थितियो का विश्लेषण करते हुए प्रस्तुत विषय की ओर सकेत किया जा चुका है। इस दृष्टि से रेणुका की तीन कविताए महत्वपूर्ण है—'बोधिसत्व', 'कस्मै देवाय' और 'बागी'। प्रथम कविता अछूतोद्धार-आन्दोलन को स्वर प्रदान करने के लिए लिखी गई है—जो अब तक राजनीतिक समस्या का रूप ग्रहण कर चुका था। साम्प्रदायिक 'अवार्ड' के द्वारा भारत की जनता को विभाजित करके अपनी सत्ता बनाए रखने की सरकारी नीति से गाधी जी का ध्यान अस्पृश्यों की ओर गया, जिन्हे हिन्दुओं से पृथक् कर दिया गया था, इस प्रकार अछूतो की समस्या अब सामाजिक समस्या न रह कर राजनीतिक समस्या बन गई थी। दिनकर ने बोधिसत्व का आह्वान करके उनसे धर्म के सत्य रूप की प्रतिष्ठा करने की प्रार्थना की—

जागो, गांधी पर किए गए नरपशु पतितों के वारों से,
जागो, मैत्री-निर्घोष ! आज व्यापक युगधर्म-पुकारों से।

जागो गौतम ! जागो महान !
जागो, अतीत के क्रांति-गान !
जागो, जगती के धर्म-तत्व !
जागो, हे ! जागो बोधिसत्व ![1]

'कस्मै देवाय' मे वे इतिहास-लोक छोड़ कर वर्तमान मे आए। प्रियदर्शन अतीत मे शान्ति की खोज करने मे असफल होकर उन्होने वर्तमान की समस्याओं पर विचार आरम्भ किया। इसी कविता को कुरुक्षेत्र के छठे सर्ग की भूमिका माना जा सकता है, जहा कवि ने विज्ञान की तलवार से खेलने वाले मनुष्य की मूर्खता का उपहास किया है, उसके दुरुपयोग के मूल मे मानव-समाज के नाश के बीज देखे है—कस्मै देवाय मे उस परवर्ती विकसित विचार-धारा का प्रथम सूत्र मिलता है—

जो मंगल उपकरण कहाते
वे मनुजों के पाप हुए क्यों ?
विस्मय है, विज्ञान विचारे
के वर ही अभिशाप हुए क्यों ?[2]

इसी कविता मे देशव्यापी किसान-आन्दोलन, साम्प्रदायिक दगे, ब्रिटिश साम्राज्यवाद की आर्थिक शोषण नीति इत्यादि विषय उन्होने ग्रहण किए, और लाखो कराहते हुए क्रौंचो की करुणा से प्रेरित कवि-वाणी को युग-वाणी मे परिवर्तित करने की कामना प्रकट की—

लाखों क्रौंच कराह रहे हैं
जाग आदि कवि की कल्याणी ?
फूट फूट तू कवि कंठों से
बन व्यापक निज युग की वाणी।[3]

इसके अतिरिक्त 'कुरुक्षेत्र' के उस व्यापक मानवतावाद के बीज भी इस कविता मे मिलते हैं जहा कवि, मस्तिष्क की दौड और प्रतियोगिता को त्याज्य तथा गर्हित घोषित करके, हृदय के गुणों पर आधृत समाज और विश्व की कल्पना करता है, वह विश्व जहा मनुष्य का श्रेय कटु और आग्नेय विज्ञान नहीं होगा, जहां हृदय-देश पीछे छूटा हुआ न होगा, जहा उसका श्रेय, प्रणय की वायु,

१. रेणुका, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १६
२. रेणुका, पृष्ठ ३०
३. वही, पृष्ठ ३२

आसुओ की धारें, और आत्मा का किरण-अभियान होगा। इन्ही मान्यताओ का पूर्व रूप हमे रेणुका की इन पक्तियो मे मिलता है—

खींच मधुर स्वर्गीय गीत से
जगती को जड़ता से ऊपर
सुख की सरस कल्पना सी तू
छा जाये कण-कण में भू पर।

क्या होगा, अनुचर न वाष्प हो
पड़े न विद्युत दीप जलाना,
मै न अहित मानूंगा, चाहे
मुझे न नभ से पंथ चलाना।[1]

हिंसात्मक मार्ग की स्वीकृति

राष्ट्रीय-चेतना के इन विविध रूपो के अतिरिक्त दिनकर की 'मूल चेतना' का एक सूत्र रेणुका मे भी मिलता है। सामान्यत यह कहा जाता है कि रेणुका मे दिनकर इतिहास के मोह मे ही फसे रहे है, यथार्थ वर्तमान मे उतर कर नही आये, परन्तु एक आध स्थल रेणुका मे भी ऐसे है जिनसे यह प्रमाणित होता है कि विभिन्न प्रयोगो के बावजूद दिनकर की मान्यता एक विशिष्ट दिशा की ओर झुक रही थी, और वह थी स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए हिंसात्मक मार्गों की स्वीकृति की। उन दिनो बगाल तथा बिहार, क्रान्तिकारी आन्दोलनो के मुख्य केन्द्र थे। दिनकर के भाव-प्रवण व्यक्तित्व पर उनकी उग्र नीति का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था, इसलिए गाधी पर पूर्ण श्रद्धा और आस्था रखते हुए भी गाधी की अहिसा नीति को पूर्ण रूप से वे कभी स्वीकार नही कर सके थे, हुकार मे उनकी यह नीति स्पष्ट और प्रखर रूप मे व्यक्त हुई, 'रेणुका' मे भी इस प्रकार के सकेतो का अभाव नही है। 'हिमालय' कविता की ये पक्तियां इस कथन के प्रमाण रूप मे ली जा सकती है। अध्यात्म और तप की अस्वीकृति और शौर्य तथा क्रान्ति की स्वीकृति हिमालय की इन पक्तियो मे व्यक्त है—

रे, रोक युधिष्ठिर को न यहां,
जाने दे उनको स्वर्ग धीर,
पर, फिरा हमें गांडीव-गदा,
लौटा दे अर्जुन-भीम वीर।

* * *

१. रेणुका, पृष्ठ ३३

तू मौन त्याग, कर सिंहनाद,
रे तपी ! आज तप का न काल।
नव-युग-शंखध्वनि जगा रही
तू जाग, जाग, मेरे विशाल।[1]

रेणुका की राष्ट्रीय-चेतना के विकास मे उनकी 'बागी' कविता का महत्व-पूर्ण स्थान है। इसकी रचना सन् १९२९ मे हुई। सशस्त्र क्रान्ति की तैयारी करने के अभियोग मे अग्रेज सरकार ने यतीन्द्रनाथ दास, भगतसिंह, बटुकेश्वर दत्त और उनके बीसियो साथियो को जेल मे बन्द कर रखा था। आजादी के इन दीवानो के साथ जेल मे बहुत बुरा बर्ताव किया जाता था जिसके फलस्वरूप वहा के बन्दियो ने अनशन कर दिया। अनशन तुडवाने के लिए सरकार ने उन पर जो जुल्म किए उससे सारे देश का वातावरण उत्तेजनापूर्ण हो उठा—माखनलाल चतुर्वेदी और मैथिलीशरण गुप्त जैसे वयस्क साहित्यकार भी क्षुब्ध हो उठे—फिर दिनकर तो उन दिनो जवान थे। १४ सितम्बर को यतीन्द्रनाथ शहीद हुए—उसी दिन रात भर जाग कर उन्होने २०० पक्तियो की एक लम्बी कविता लिखी जिसमे से आठ पक्तिया 'युवक' मे प्रकाशित हुई। आश्चर्य की बात यह है कि इस प्रकार की अमानुषिक हत्या पर दिनकर का क्रोध नही, उनकी करुणा जागी, उनके आसू ही बहते रहे, आक्रोश के स्वर मे वे गरजे नही। 'रेणुका' की राष्ट्रीय चेतना मे करुणा और अवसाद का स्वर केवल अतीत से सम्बद्ध कविताओ मे ही नही वर्तमान परिस्थितियो से प्रेरित रच-नाओ मे भी मिलता है। समाधान के लिए वे बाहुबल अथवा मनोबल के स्थान पर ईश्वर की सहायता का सहारा लेते है, उनकी आवाज मे निर्बल जाति के युवक की दबी, सहमी और रोती हुई आवाज की भर्राहट है। इस प्रकार मूलत रेणुका की राष्ट्रीय भावना मे या तो आक्रोश है जो प्रलय के स्वप्न देखता है—अथवा निर्बल जाति के युवक की करुणा और अवसाद है जो असहाय आसू बहाता है। 'रेणुका' मे उनकी राष्ट्रीय चेतना का प्रारूप बनता है, जिसकी रेखाए आगे चल कर पूर्णरूप से काटपीट कर परिवर्तित कर दी जाती हैं। अतीत के मोह का स्थान वर्तमान राजनीतिक समस्याए ले लेती है—ध्वसक क्रान्ति मे केवल शोर नही रह जाता, उसमे कर्मठता और क्रियाशीलता आ जाती है और अवसाद का स्थान विचार-सपुष्ट समर्थ आक्रोश ले लेता है।

यथार्थवादी कला-चेतना

'रेणुका' के प्रतिपाद्य विषयो की दूसरी प्रमुख धारा वह है जिसमे उनकी

---

१ रेणुका, पृष्ठ ७, ८

काव्य-चेतना कला के यथार्थ मूल्यो की ओर उन्मुख होती है। इस भाव-धारा की प्रतिनिधि कविताए है 'कविता की पुकार', 'कला, तीर्थ और कवि'। दृष्टि-कोण अधिकतर राजनीतिक प्रतिपाद्य के आवरण मे लिपटा हुआ है। कविता की पुकार मे उनकी कविता छायावाद के स्वप्निल नील कुजो से बाहर आकर, नालन्द और वैशाली के खण्डहरो से बाहर वनफूलो की ओर जाने की कामना करती है, कल्पना और इतिहास को छोड कर यथार्थ और वर्तमान से सम्बन्ध स्थापित करना चाहती है। शृङ्गार और वैभव से विमुख होकर तृण-कुटियो मे प्रवेश करना चाहती है—

> **विद्युत छोड़ दीप साजूंगी, महल छोड़ तृण-कुटी प्रवेश**
> **तुम गांवो के बनो भिखारी, मै भिखारिणी का लूं वेश।**

छायावाद की बौद्धिक कल्पना और अप्सरा-लोक को छोड कर वह गाव के सहज अकृत्रिम वातावरण मे उतरना चाहती है—जहा स्वर्णाचला सध्या-श्याम परी खेतो मे उतर रही हो, हरी घास को रोदती हुई गाए रोमन्थन करती हुई आ रही हो। वह ग्रामबाला के रूप, सौन्दर्य और सुहाग के गीत गाना चाहती है—

> **पनघट से आ रही पीतवसना युवती सुकुमार**
> **किसी भाति ढोती गागर-यौवन का दुर्वह भार।**
> **बनूगी मै कवि! इसकी मांग, कलश, काजल सिंदूर सुहाग।**[१]

ऐसे स्थलो पर छायावादी अभिव्यक्ति की चित्रात्मकता और प्रकृति पर मान-वीय भावनाओ के आरोपण की शैली तो प्रयुक्त हुई है, परन्तु समष्टि-मूलक प्रतिपाद्य के कारण उनकी दृष्टि व्यापक हो गई है। प्रकृति पर उदात्त भाव और जागरण के इस आरोपण मे दिनकर की काव्य-चेतना एक नई दिशा की ओर बढी है। जहा उसमे राष्ट्रीय कविता की उदात्त समष्टि-चेतना और छाया-वाद की चित्रात्मक और प्रतीकात्मक शैली का सगम हुआ है—

> **पहन शुक्र का कर्ण-फूल है दिशा अभी भी मतवाली,**
> **रहते रात रमणियां आए ले ले फूलों की डाली।**
> **स्वर्ग-स्रोत, करुणा की धारा, भारत मां का पुण्य तरल**
> **भक्ति अश्रुधारा सी निर्मल गंगा बहती है अविरल।**
> **पुजारिन की बन कंठ-हिलोर, भिगो दूंगी अगजग के छोर।**[२]

उनकी काव्य-चेतना उस निरक्षर ग्रामीण विरहिणी-बाला की दूती

---

१ रेणुका, पृ० १४

२. रेणुका, पृ० १४

बनना चाहती है, जो अपनी व्याकुल और व्यथित भावनाओ को प्रिय तक भेजने मे असमर्थ है—

> भैया ! लिख दे एक कलम खत मो बालम के जोग
> चारो कोने खेम-कुसल मांझे ठा मोर वियोग
> दूतिका मै बन जाऊगी, सखी ! सुधि उन्हे सुनाऊंगी।

वह वनफूलो के भावनात्मक और कोमल पक्षों को ही समेट कर नही चलती, श्रमकणो से नहाए हुए, सूखी रोटी खाकर भूख बुझाने वाले कृषक के लिए गगाजल भी बनना चाहती है, वैषम्यो से त्रस्त कृषको की व्यथा और वेदना की सहभागिनी बनना चाहती है—

> ऋण-शोधन के लिए दूध-घी बेच बेच धन जोड़ेंगे,
> बूंद बूंद बेचेंगे, अपने लिए नही कुछ छोड़ेंगे।
> शिशु मचलेंगे दूध देख, जननी उनको बहलाएगी,
> मै फाड़ूंगा हृदय, लाज से आंख नही रो पाएगी।
> इतने पर भी धनपतियो की उन पर होगी मार
> तब मै बरसूगी बन बेबस के आसू सुकुमार
> फटेगा भू का हृदय कठोर, चलो कवि बनफूलों की ओर।[१]

'दिनकर' की काव्य-चेतना, कल्पना और आदर्श से यथार्थ की ओर अग्रसर हुई है। 'कला-तीर्थ' मे मानो इसी विकास का विश्लेषण किया गया है। पूर्णचद्र चुम्बित निर्जन वन, सुन्दर शैल-प्रान्त मे जहा शुक्र का कर्णफूल धारण किए हुए मुक्त-कुन्तला दिशा-सुन्दरी अवनि और अम्बर को मिला रही थी, कवि को चिर सुकुमार सौन्दर्य के दर्शन होते है, वह सौन्दर्य जो अस्फुट यौवन का मधु, तरुणी का दृग-मद और कलिका का विकास बनता है, जिसकी दृष्टि मे जीवन, केवल प्रेम, आकर्षण, और तृषा है, तरुणी के अधरों और आखो का रस ही जहा आनन्द का स्रोत है जो जीवन को मादक और उल्लासपूर्ण बना देता है। काव्य-तीर्थ का यात्री उससे अभिभूत हो—दूसरे मार्ग पर चलता है—जहा पग-पग पर पाषाण-शिलाए रास्ता रोकती है, कटीली झाड़िया वस्त्रो मे उलझती है, पृथ्वी के यथार्थ को झेलते हुए जहा आकाश मे खिली हुई चादनी पर दृष्टि नही जाती, वही कवि को कर्तव्य-भावना के दर्शन होते है। एक युवक श्रम मे रत फावडा चलाता हुआ जीवन के शुष्क पथरीले मार्ग को अपनी भुजाओ के बल पर रस-सिक्त करता आगे बढ़ता है, पथ के काटो

---

१. रेणुका

को अलग कर बाधाओ पर विजय प्राप्त कर जो निर्भय मुस्काता रहता है। इस कर्मशील युवक की उक्ति है—

सुन्दरता पर कभी न भूलो,
शाप बनेगी वह जीवन में।
लक्ष्य विमुख पर भटकाएगी,
तुम्हे व्यर्थ फूलो के वन मे।

और कवि के सामने यह प्रश्न उठ खडा होता है—

'सुन्दरता या सत्य श्रेष्ठ है ?'
उठने लगा द्वन्द्व पग-पग पर

उत्तर भी उनके पास है , यह उत्तर केवल सैद्धान्तिक या तात्कालिक नही है, उसमे दिनकर की काव्य चेतना के भावी विकास का सकेत निहित है। सुन्दर के बाद दिनकर सत्य की ओर मुडे है अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि काव्य-विकास की अन्तिम मजिल तक वे सुन्दर और सत्य को साथ लेकर चले हैं। 'उर्वशी' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' क्रमश. सुन्दर और सत्य के ही सहअस्तित्व के प्रमाण है—

सुन्दरता आनन्द-मूर्ति है,
प्रेम-नदी मोहक, मतवाली
कर्म कुसुम के बिना किन्तु, क्या
भर सकती जीवन की डाली ?
सत्य सीचता हमें स्वेद से,
सुन्दरता मधु-स्वप्न लहर से ![1]

कला तीर्थ का तीसरा मार्ग—गध फूल, दूर्वामय प्रान्त, राशि-राशि वन फूलो से भरा हुआ—वही एक बिन्दु पर दो मार्ग मिलते है जिसमे संगम पर कला-भवन स्थित है—महाज्ञान के चिरन्तन आलोक की विमल प्रभा फैल रही थी जिसकी दीवारो पर स्वर्णाक्षरो मे अंकित है—

'सत्य भ्रमर सुन्दरता गुजन'।[2]

प्रेम और सत्य के समन्वय और लय मे ही उन्हे सच्ची कला के दर्शन होते है। ये दोनो तत्त्व अन्योन्याश्रित और एक-दूसरे के पूरक है। प्रेम सत्य की प्रथम प्रभा है और सत्य के आलोक से प्रेम का अस्तित्व है। सत्य और सुन्दर के इसी समन्वय मे 'आनन्द' निहित है, सुन्दर का नैसर्गिक और अपार्थिव धरातल सत्य

१. रेणुका, पृ० ८०
२ रेणुका, पृष्ठ ८१

के कठोर पार्थिव को देवत्व के निकट ले जाता है। महा सत्य जब भावुक सुन्दर से मिलता है तभी कला तीर्थ का पुण्य प्राप्त होता है। इन कविताओ के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'रेणुका' मे ही दिनकर की काव्यगत मान्यताए स्पष्ट होने लगी थी, वे सुन्दर से सत्य की ओर बढने की कोशिश कर रहे थे। सत्य ने उन्हे 'समय' की ओर प्रेरित किया और सुन्दर ने 'रसवती' और 'उर्वशी' की ओर।

निवृत्ति-मूलक वैयक्तिक चेतना—जीवन से पलायन

रेणुका के प्रतिपाद्य का तीसरा मुख्य सूत्र है निवृत्ति-मूलक वैयक्तिक चेतना का। जीवन के प्रति यह निराशावादी दृष्टिकोण दिनकर को भारतीय सतो के दुखवादी दर्शन और साधु-सन्यासियो के चक्कर मे पडने के कारण प्राप्त हुआ। रेणुका के अनेक गीतो मे उन्होने जीवन की नश्वरता के गीत गाए है। इस मन.स्थिति मे उन्हे फूल खिलने के स्थान पर बिखरते हुए ही दिखाई पडते है। सृजन मे सहार, मैत्री मे कपट, मादकता और सुन्दरता मे नश्वरता देखने वाले इस युवा कवि की मन· स्थिति उस समय सचमुच ही अस्वस्थ और चिन्ताजनक रही होगी। इन रचनाओ के लिखने के समय उनकी आयु लगभग चौबीस-पच्चीस साल की थी। चढती उम्र के युवक की इस निराशावादी दृष्टि के औचित्य का विश्लेषण जरा कठिन जान पडता है। उनमे जीवन से भागने और बचने की प्रवृत्ति है। 'उर्वशी' के लेखक की 'मेनका से बचने' की चेतावनी पढकर इस परिवर्तन का इतिहास जानने की उत्सुकता होना स्वाभाविक है—

'यहां मेनका की चितवन पर मत ललचाना परदेशी'[1]

अस्वस्थ, असंतुलित और रुग्ण जीवन-दृष्टि

अपने जीवन की कटुताओ और नैराश्य से ऊबने पर व्यक्ति की दृष्टि कुठित और विकृत हो जाती है, उसमे एक प्रकार की हीन भावना आ जाती है, जिससे बाध्य होकर व्यवित ससार के क्षुद्र कीट-पतगो को भी अपने से अच्छा मानने लगता है। दिनकर अपने आत्मविश्वास और तेजस्विता के कारण अपने चारो ओर के वातावरण मे सब से आगे रहते थे। विद्यार्थी जीवन मे इस हीन भावना की ग्रन्थि के पड़ने का कोई कारण नही था। ग्रामीण वातावरण से नगर मे आने पर भी उनमे किसी प्रकार की हीन भावना नही आई थी। हा, अपने व्यावसायिक जीवन से वे हमेशा ही असन्तुष्ट रहे। रहने का कारण भी था। साधारण किसान परिवार के होने के कारण बड़े पदो पर नियुक्ति के अभि-

---

१. रेणुका, पृष्ठ ८५.

शसा-पत्र को प्राप्त नही कर सकते थे, उनका अह और आत्मसम्मान किसी के सामने झुकने को तैयार नही था। उनके शब्दो मे 'मेरा आत्मसम्मान ही गरीबी के दिनो मे मेरा सबसे बडा धन था'। ऐसी स्थिति मे साधारण बाह्य परिस्थितियो मे उनकी घुटती हुई प्रतिभा रेणुका के इन गीतो मे व्यक्त हुई है। यह वह मन स्थिति है जहा व्यक्ति नियति के हाथों का खिलौना और अपनी परिस्थितियो का दास मात्र रह जाता है। सामान्य व्यक्ति उसे स्वीकार कर लेता है, परन्तु प्रतिभावान और अहवादी का सामजस्य इन परिस्थितियो के साथ आसानी से नही होता। दिनकर के व्यावसायिक असन्तोष के साथ ही भावनात्मक असन्तोष भी जुडा हुआ था। सरकारी नौकरी उनके लिए एक विवशता थी, लेकिन उनके व्यक्तित्व को यह विवशता स्वीकार करने के लिए हर समय सघर्ष करना पडता था, हृदय और मस्तिष्क का द्वन्द्व उनके जीवन का अग बन गया था, इसी द्वन्द्व की पहली प्रतिक्रिया निराशामूलक रही, जिसने दिनकर को निवृत्ति की ओर ढकेला। अन्ततोगत्वा बाह्य परिस्थितियो ने उनके जीवन-दर्शन का निर्माण नही किया, परन्तु इन गीतो मे तो बाह्य परिस्थितिजन्य अवसाद ही उनके जीवन पर छा गया है। एक बात और ध्यान मे रखने की है कि यह पलायन किन्ही नैतिक आदर्शों और दार्शनिक मान्यताओ द्वारा प्रेरित नही है। इस अन्धकार से निकल कर 'कुरुक्षेत्र' के स्वस्थ दर्शन का निर्माण वास्तव मे एक बडे कठिन सघर्ष और दृढ विचार-शक्ति का द्योतक है।

इस वैयक्तिक निवृत्ति की प्रतिनिधि कवितायें हैं, 'परदेशी', 'मनुष्य', 'उत्तर मे', 'जीवन-संगीत' और 'वैभव की समाधि पर'। इन सभी कविताओ मे उनकी दृष्टि श्मशान, चिता, कब्रो और खण्डहरो पर जा कर अटक गई है, मृत्यु और नाश के उपकरण उनके लिए सत्य बन गए हैं और जीवन के तन्तु सारहीन। कही-कही पर इस असारता के प्रति उनकी दृष्टि मे किशोर-कालपनिकता का तत्व अधिक हो गया है, और यह सारा दु:खवाद एक सवेदनशील युवक का दिवास्वप्न-सा जान पड़ने लगता है। जैसे—

> मै न रुकूंगा इस भूतल पर
> जीवन, यौवन प्रेम गंवा कर,
> वायु, उड़ा कर ले चल मुझको
> जहां कहीं इस जग से बाहर।[1]

---

१. रेणुका, पृ० ८६—दिनकर

इसी प्रकार मनुष्य के दुखोपाख्यान पर आसू बहाते हुए उन्होने उसे खग, मृग, कुसुम, नदी विभोर सबसे निकृष्ट करार दिया है। प्रकृति के जड-चेतन उपकरणो की स्वच्छन्दता ही इन पक्तियो मे संघर्षशील जीवन की ऊब से कुठित कवि की ईर्ष्या का विषय बनी है, परन्तु यहा भी दुख काल्पनिक अधिक है अनुभूत कम—

खग-मृग आनन्द विहार करें,
तृण तृण झूमें सुख में विभोर,
हम सुख-वंचित, चिन्तित उदास
क्यों निशि-वासर श्रम करें घोर।[1]

ऐतिहासिक और सास्कृतिक अवशेष भी उन्हे अनेक बार भौतिक जीवन की नश्वरता और निस्सारता की ओर इगित करते जान पडते हैं। जिधर भी उनकी दृष्टि जाती है उन्हे सर्वत्र ग्लानिमयी निवृत्ति, और पलायन का कुत्सित क्रम ही दिखाई देता है। दिनकर की इस मन स्थिति को, उस श्रमित, विजित और पराजित बुद्धि का भ्रम कहा जा सकता है, जिसका निराकरण उन्होने 'कुरुक्षेत्र' मे किया। उनके मन पर हर पल अनित्यता छाई रहती है, नश्वरता को छोडकर और कुछ उन्हे दिखाई ही नही पडता। उनकी दृष्टि जीवन मे कटुता और अवसान ही देखती है। प्रकृति मे वे तुहिन-कणो की करुण कहानी पढते हैं, कलियों का वसत नही पतझड देखते हैं, तारो के अस्त पर उनकी दृष्टि जाती है, उदय पर नही—

वैभव का उन्माद, रूप की यह कैसी नादानी?
उसे! भूल जाना न ओस की करुणामयी कहानी।
जरा देखना गगन-गर्भ में तारो का छिप जाना;
कल जो खिले आज उन फूलों का चुपके मुरझाना।[2]

'जीवन-सगीत' कविता में उनकी दृष्टि मृत्यु और नाश पर ही टिकी रही है। संत कवियो के दुखवाद और साधु-सन्यासियो के चक्कर के कारण उन्होने कचन और कामिनी की निरर्थकता के गीत गाए है।

नारी का शुभ्र सौन्दर्य अपनी निस्सारता के कारण उनके लिए निरर्थक है, उनके लिए बस अनस्तित्व की ही सत्ता है और सब कुछ झूठ है। निष्कर्म बुद्धि की इस क्षिप्र लहर ने इस युवक कवि के हृदय को स्पर्श कर उसका आनन्दहास, और प्रगतिमय कम्पन सब कुछ हर लिया है, सौन्दर्य, तेज, सुख,

---

१. रेणुका, पृ० ८८
२. वही, पृ० ९१

उत्साह सबसे रहित, दिनकर एक दुर्बल दीन और दीप्तिहीन व्यक्ति के रूप मे शेष रह गए हैं जो अहर्निश विद्रूप मरण का ही ध्यान करते रहते हैं।

रमणी के रूप, प्रणय के आह्लाद, जीवन के सुख पीछे पड़ जाते हैं और वे केवल सर्वनाश तक मृत्यु का सगीत ही सुन सकते हैं—

और गाल के फूलो पर क्यो तू फूली अलबेली ?
बिना बुलाए ही आती होगी वह मौत सहेली।
दो दिन प्रिय की मधुर सेज पर कर लो प्रणय-विहार सखी
चखना होगा तुम्हे एक दिन महाप्रलय का प्यार सखी।[1]

जीवन पीडाओ का दूसरा नाम है। मानव हृदय की तन्त्री के राग मिथ्या हैं, मृत्यु सत्य, जीवन चार दिन की चादनी है, मृत्यु का अन्धकार सत्य है—प्रलय सत्य है, सर्वनाश की आग सत्य है।

'समाधि के प्रदीप' कविता मे भी रोते हुए इतिहास के आसुओ को साकार किया गया है। शाहजहा और मुमताज, जहागीर और नूरजहा के प्रणय की सुनहरी मदिरा, सिहरते, शरमीले चुम्बन, मुहब्बत की चार आखो का अवशेष है समाधि का वह प्रदीप जो विश्व-वैभव के अभिनय के उपसहार के समान है। यहा भी नाश, प्रलय और क्षण-भगुरता का आतक और भय कवि पर छाया हुआ है—

हँसते हो, हां हँसो, अश्रुमय है जीवन का हास,
यहां श्वास की गति में गाता झूम-झूम कर नाश,
क्या है विश्व ? विनश्वरता का एक चिरन्तन राग,
हँसो, हँसो, जीवन की क्षणभंगुरता के इतिहास।[2]

'वैभव की समाधि पर' कविता मे भी, आसू, कफन, चिता, श्मशान, मृत्यु, कब्र और खण्डहरो के गीत गाए गए हैं, इस अवसाद की चरम स्थिति उन पक्तियो मे देखी जा सकती है जहा छब्बीस वर्षीय युवक कवि अपने अवसान की कल्पना करता है—कहने की आवश्यकता नही है कि यह भी उसकी किशोर कल्पनाओ और कुठित दिवास्वप्नो का ही परिणाम है। एक रोमान्टिक दुखद भावना से अपने को आवेष्ठित करते हुए वह अपने अह को तुष्ट करना चाहता है। अपने महत्व की स्थापना करना चाहता है , आज के प्रौढ, प्रवृत्तिवादी और कर्मवादी दिनकर को अपनी इन पुरानी मूर्खताओ पर हँसी तो जरूर आती होगी—

---

१. रेणुका, पृष्ठ ९१
२. रेणुका, पृ० १००

मै स्वयं चिता-रथ पर चढ़ निज देश चला जाऊंगा।
सपनों की इस नगरी मे जानें फिर कब आऊंगा?
तब कुशल पूछता मेरी, कोई राही आएगा।
नभ की नीरव वाणी में, यह ठहर सुन पाएगा—
मैंने देखा उस अलि को, कविता पर नित मंडराते,
वैभव के कंकालों को, लख कर अवाक् रह जाते।
आजीवन वह विस्मित था, लख जग पर छांह प्रलय की।
था बाट जोहता निशि-दिन, भू पर अमरत्व-उदय की।[1]

रेणुका मे व्यक्त दिनकर की काव्य-चेतना का यह सूत्र 'द्वन्द्व गीत' मे विकसित हुआ। रेणुका की राष्ट्रीय-चेतना मे असहाय और विवश आक्रोश था और इस वैयक्तिक निवृत्ति-चेतना के मूल मे असहाय और विवश अवसाद है। विवश आक्रोश समर्थ क्रान्ति और शौर्य का स्वर बन कर 'हुंकार' मे व्यक्त हुआ, विवश अवसाद द्वन्द्व गीत मे पल्लवित और सशोधित हुआ। कुरुक्षेत्र मे दिनकर के व्यक्तित्व के इन्ही दोनो अशो की टक्कर हुई जिसमे अवसाद और नैराश्य की हार और कर्म तथा शौर्य की विजय हुई।

कल्पना-प्रधान सौन्दर्य-चेतना

रेणुका की कुछ कविताए ऐसी भी हैं जिनमे कविता के लौकिक प्रतिपाद्यो को छोड़ कर दिनकर परियो के देश मे पहुच गये है। वे छायावाद-युग के राष्ट्रीय कवि थे, इसलिए वैयक्तिक धरातल पर उन्होने भी अपने अग्रज छायावादी कवियो के समान काल्पनिक जगत के निर्माण मे यथेष्ट सफलता प्राप्त की है। छायावाद की परी-कल्पना, और रहस्य तत्वो का समावेश रेणुका की कुछ कविताओ में हुआ है। 'विश्वछवि' नामक कविता में दिनकर भी इस रूमानी काव्यचेतना की ओर रुझान रखते दिखाई पड़ते है—

मेरे काव्य-कुसुम से जग का हरा भरा उद्यान बने,
मेरी मृदु कविता भावुक परियों का कोमल गान बने।
विधि से रंजित पंख मांग, मै उड़-उड़ व्योम-विहार करूं,
जगप्रांगण के बिखरे मोती से माला तैयार करूं।[2]

इस प्रकार की कविताओ मे उन्होने ज्योत्स्ना, नक्षत्र, तितली, विहगी, मलयानिल, निर्झरिणी और स्वर्ण-विहान के गीत गाए हैं।

---

१ रेणुका, पृ० ११६
२. रेणुका, पृष्ठ ६४

'अमा-संध्या' और 'याचना' जैसे गीतो मे प्रकृति के प्रति जिज्ञासा और अचरज भरी दृष्टि तथा उसमे निहित रहस्य-तत्व की व्याख्या की गई है। 'अमा-संध्या' मे कवि प्रकृति के गोचर रूप मे अगोचर सत्ता की अनुभूति करता है, उस अनुभूति मे विस्मय और अचरज दोनो ही हैं। उनकी चित्र-कल्पना पर भी छायावादी शैली का प्रभाव स्पष्ट है। जैसे—

नीलिमा-सलिल में अमा खोल
कलिका-गुम्फित कबरी-बन्धन,
लहरों पर बहती इधर-उधर
कर रही व्योम में अवगाहन
रुनझुन रुनझुन किसका शिंजन ?
यह भुवन-प्राण-तन्त्री का स्वन ?
लघु तिमिर वीचियों का कम्पन ?
इस अमा हृदय का क्या गुनगुन ?
किस विरह गीत का स्वर उन्मन ?
रुनझुन रुनझुन किसका शिंजन ?[१]

छायावाद की रूमानी कल्पना ने जहां-जहां दर्शन को छुआ, अधिकतर उसके रहस्यात्मक पक्ष को ही ग्रहण किया। उपर्युक्त कविता मे दिनकर के सामने भी वैसी ही जिज्ञासा और वैसे ही प्रश्न है। नीरव, प्रशात अमा-संध्या के समय मौन विश्व मे किसके कंकण की झनक भर जाती है, किसकी किंकिणी की ध्वनि मुखरित होती है। 'याचना' मे उन्होने भी 'अज्ञात प्रियतम' के प्रति आत्म-निवेदन किया है, उससे याचना की है—

दृग बंद हों तब तुम सुनहले स्वप्न बन आया करो,
अमितांशु ! निद्रित प्राण में प्रसरित करो अपनी प्रभा।
प्रियतम ! कहूं मै और क्या ?[२]

कुछ कविताओ मे प्रकृति के उपकरणों को आलम्बन रूप मे भी ग्रहण किया गया है जिनमे मुख्य है 'फूल' और 'कोयल'। इन दोनो ही कविताओं मे प्रकृति के चेतनीकरण और मूर्तिकरण के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं।

छायावाद से प्रभावित इन सभी कविताओ का दिनकर की कला-चेतना के विकास मे महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि छायावाद युग के पहले हिन्दी की राष्ट्रीय सास्कृतिक चेतना से प्रेरित कविताएं उपदेशप्रधान, विवरणात्मक और वर्ण-

---

१ रेणुका, पृष्ठ ६७
२ वही, पृष्ठ ६६

नात्मक होती थी। उन उद्बोधनो और चेतावनियो मे कला की रगीनी नही थी। छायावादीयुगीन राष्ट्रीय कवियो ने राष्ट्रीय कविता को उपदेश और उद्बोधन की नीरसता से निकाल कर अनुभूति की शक्ति प्रदान की और जनता के साथ हिन्दी कविता का सम्बन्ध स्थापित किया। दिनकर उनमे सर्वप्रमुख थे। इनके अतिरिक्त आगे चल कर दिनकर की चित्रकला छायावादी चित्र-कल्पना की अस्पष्ट साकेतिक धूमिलता का निराकरण करके स्पष्ट और संतुलित चित्र-कल्पना का रूप ग्रहण करती है। उदाहरण के लिए 'उर्वशी' की चित्र-कल्पना मे छायावादी चित्र-योजना द्विवेदीयुगीन स्पष्टता के साथ अंकित मिलती है।

शृंगार तथा नारी-भावना

रेणुका के प्रतिपाद्य-विषय का अन्तिम और पांचवा सूत्र है शृङ्गार तथा नारी-भावना। रेणुका मे शृङ्गारपरक कविताएं एक दो ही है। 'प्रेम का सौदा' कविता इसके उदाहरण रूप मे ली जा सकती है। इस कविता का रचनाकाल है सन् १९३५ ई०। अहं का पूर्ण विगलन, तथा पूर्ण समर्पण ही इस कविता के अनुसार प्रेम का सच्चा रूप है—

> प्रेम-रस पीकर जिया जाता नहीं।
> प्यार भी जी कर किया जाता नहीं।
> चाहिए उर-साथ जीवन-दान भी
> प्रेम की टीका सरल बलिदान ही।[1]

दिनकर की नारी-भावना तथा नारी और पुरुष के सम्बन्ध-विश्लेषण की दृष्टि से रेणुका की राजा-रानी कविता महत्वपूर्ण है। यह कहना अनुचित न होगा कि यहा दिनकर की काव्य-चेतना के उस अंश का प्रथम सूत्र मिलता है जिसकी चरम परिणति उर्वशी मे हुई है। कविता के आरम्भ मे ही पुरुष और नारी के लिए दो बडे विशेषणो का प्रयोग हुआ है 'राजा वसन्त, वर्षा ऋतुओं की रानी' वसन्त और वर्षा, एक उल्लास, हास, जीवन और विश्वास का प्रतीक, दूसरी आंसू की। नारी के भाग्य मे आकुल अन्तर और अश्रु ही लिखे है, इसी आसू से सीच-सीच वह पुरुष के जीवन को हरा बनाती है। पुरुष के सुख के मूल में नारी का समर्पण और त्याग होता है। सीता और शकुन्तला के आख्यान के समावेश द्वारा प्रेम के मर्यादित और अमर्यादित दोनो रूपो के मूल मे नारी की वेदनायुक्त भाग्यलिपि की ओर इंगित किया गया है। अपनी मर्यादा के निर्वाह और कीर्तिलता के प्रसार के लिए सीता को दिए गए 'अग्निविधान और

---

१. रेणुका, पृष्ठ १२

निष्कासन' जैसे अन्यायपूर्ण दण्ड के औचित्य को कौन स्वीकार कर सकता है ? दूसरी ओर, द्वापर की भोली शकुन्तला की व्यथा को भी शब्दो मे उतारा गया है—

प्याली थी वह विष-भरी, प्रेम में भूली,
पी गई जिसे भोली तुम लता-भवन मे ।[1]

माधवी-कुज की मादक प्रणय-कहानी उसके नयनो मे आसू बन कर छा गई, लेकिन पुरुष के दोष और मालिन्य इन्ही आसुओ से धुल कर निखरते है। नारी का भाग्य है, 'आसू से मोती बीज बोना'—यही उसकी और उसके जीवन की सार्थकता है—

रानी ! विधि का अभिशाप यहां ऊसर में
आंसू से मोती बीज तुम्हे बोना है ।[2]

स्त्री पुरुष की प्रेरणा है। अनजाने ही वह उसके भ्रू-इगित पर घूमता रहता है। पुरुष नव वसन्त का कुसुम है तो नारी उसकी लालिमा। पुरुष पावस नभ है तो स्त्री उस पर छाई हुई सजल मतवाली घटा। राजा की सूनी दुनिया मे रानी सोने की जाली बुनती है। नारी के रूप, सौन्दर्य, मधु और दीप्ति की प्रेरणा से पुरुष का जीवन सौरभ और माधुर्य से भर जाता है, उसकी मुस्कराहट से पुरुष के मार्ग का अन्धकार मिट जाता है, वह अबाध और निर्भय जीवन-मार्ग पर अग्रसर हो जाता है। नारी विद्युत-शक्ति बन कर सैनिको के गिरते हुए नवजीवन का संचार कर देती है। हल्दीघाटी मे राजपूत सैनिको के गर्जन और हुकार के साथ ही जौहर की ज्वाला भी प्रज्ज्वलित हो उठी। राष्ट्र की वेदी पर भी नारी और पुरुष प्रेरणा बन कर एक-दूसरे को शक्ति प्रदान करते है—

राजा की स्मृति बन ज्योति खिली जौहर में,
असि चढ़ चमकी रानी की विभा समर में ।[3]

इस शृङ्गार-भावना और नारी-भावना का विकास 'रसवन्ती' की अनेक कविताओ मे हुआ। रेणुका की इस कविता को भी हम दिनकर की नारी-भावना का प्रयोगकालीन रूप ही मान सकते है। नारी के प्रति उनकी दृष्टि अभी प्राय परम्परागत ही है यद्यपि उनकी धारणाओ मे शाश्वत सत्यो और मूल्यो की स्थापना हुई है।

---

१. रेणुका, पृष्ठ ४३
२ वही
३. वही, पृष्ठ ४४

निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि रेणुका मे दिनकर की 'निर्झरिणी' का उद्गम छोटी-छोटी कई धाराओ के साथ हुआ, 'शैल महाकवि' के मानस से विभिन्न स्रोत फूटे, पर रेणुका के बाद ही उनकी दिशा और सख्या निश्चित हो गई। समष्टि-जन्य राष्ट्रीय चेतना को मुख्य रूप से हुंकार, कुरुक्षेत्र, सामधेनी बापू, और परशुराम की प्रतीक्षा मे अभिव्यक्ति मिली। वैयक्तिक चेतना पहले द्वन्द्व गीत की निवृत्ति और रसवन्ती के रस की ओर मुड़ी। द्वन्द्व गीत के बाद निवृत्ति का स्वर समाप्त हो गया और उनकी काव्य-धारा के केवल दो रूप रह गए (१) राष्ट्रीय कविता (२) शृङ्गार-कविता। दिनकर की सास्कृतिक और सामाजिक काव्य-चेतना का अन्तर्भाव बड़ी आसानी से राष्ट्रीय चेतना के अन्तर्गत किया जा सकता है, इसलिए अब उनकी काव्य-चेतना के विकास का निरूपण विभिन्न कृतियो के आधार पर अलग-अलग न करके समग्र रूप मे विशिष्ट भावधारा के विकास और इतिहास के रूप में प्रस्तुत किया जाएगा।

समष्टि-चेतना के मूल्यों का स्थिरीकरण

दिनकर की राष्ट्रीय चेतना के मूल्यो का स्थिरीकरण पहली बार 'हुंकार' में हुआ। 'रेणुका' में उनकी काव्य-चेतना इतिहास के खण्डहरों और संस्कृति के अवशेषों पर रो रही थी, अब जैसे बीते हुए पर रोने की व्यर्थता को समझ कर उसने वर्तमान से अपना सम्बन्ध स्थापित किया। नीतिवान ज्ञानी की तरह बीती को बिसार कर उसने आगे की सुधि ली। ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारतीय जनता के विकट सघात से उद्वेलित होकर दिनकर की काव्य-चेतना अग्नि की चिनगारियो से अपने स्वप्न सजाने को आगे बढी, वह स्वप्न जिसमे सिन्धु का गर्जन, और प्रलय की हुंकार थी, जहां बधा तूफान रास्ता पाने के लिए विकल था, जहा मौन हाहाकार विश्व को हिला देने को व्यग्र हो रहा था। अब, दिनकर, 'नवल उर में विपुल उमग भर कल्पना की मधुरिमा से मडित पुलकित राजकुमार' नही रह गए थे, अब तो वह क्रान्ति की विभा से आलोकित ज्योतिर्धर थे, जिनके भावो और कल्पना की अरुणिमा ने धरती के अन्धकार को चुनौती दी—

> **जड़ को उड़ने की पांख दिए देता हूं,**
> **चेतन के मन को आंख दिए देता हूं।**
> **स्वर को कराल हुंकार बना देता हूं,**
> **यौवन को भीषण ज्वार बना देता हूं,**
> **शूरों के दृग अंगार बना देता हूं,**
> **हिम्मत को ही तलवार बना देता हूं,**

लोहू को देता हूं वह तेज रवानी,
जूझती पहाड़ो से अभय जवानी ।[1]

हुंकार की कविताओ के प्रतिपाद्य की दृष्टि से उसके मुख्य चार विभाग किए जा सकते है ।

१. द्वन्द्वमूलक कविताएं।
२. ओज और आक्रोश से युक्त राष्ट्रीय कविताएं ।
३ विचारात्मक कविताएं ।
४. यथार्थवादी तथा समसामयिक घटनाओ और स्थितियो पर आधारित कविताएं ।

प्रथम वर्ग की रचनाओ को राष्ट्रीय-कविताओं के अन्तर्गत रखने के औचित्य पर प्रश्न उठाया जा सकता है । लेकिन, ये कविताए कवि के उस अन्त:सघर्ष की द्योतक है, जब उनकी समष्टि चेतना और वैयक्तिक सौन्दर्य-चेतना में होड चल रही थी । कवि-जीवन के प्रारम्भिक चरण मे छायावाद के प्रभाव से दिनकर पर 'सुन्दर' का आग्रह काफी प्रबल था, 'असमय आह्वान' तथा 'साधना और द्विधा' जैसी कविताए 'सुन्दर और शिव' के संघर्ष की द्योतक हैं, जो दिनकर के व्यक्ति और समष्टि चेतना की थाह ले रहा था, उनकी परीक्षा की कसौटी बन रहा था । हुंकार की पहली कविता है 'असमय आह्वान' । युवा कवि के सौन्दर्यवादी संस्कार उसे जीवन के आकर्षणो की ओर ले जाते है, उसकी चेतना रजनीबाला के रत्नगुम्फित कच-जाल और चरण-मंजीर की मधुर ध्वनि पर अटक कर प्रकृति के मादक सौन्दर्य और शृङ्गार के रसभोग की आकाक्षी है, परन्तु समय उसे आवाज देता है, क्रान्ति का दूत निमन्त्रण लेकर पहुच जाता है, कवि अपने मन के द्वन्द्व के कारण लज्जित नही है, अपने राग के प्रति उसकी वैसी ही निष्ठा है जैसी समय की माग के प्रति । कर्मसकुल दिवस के श्रम के उपरान्त नए सुकुमार स्वप्नो, कल्पना के मोहक उपकरणो के प्रति उसके मन मे मोह है । अपने अरमानों, अपनी चाहो को तोड-मरोड कर फेंकने मे उसे कातरता होती है । कामनाओ और भावनाओ के नूतन त्योहार की मधुमयी पीडा उसकी निधि है—परन्तु क्रान्ति के दारुण, कठोर और निष्ठुर आह्वान पर वह अपनी समस्त कल्पनाओ, मधु-स्वप्नों और आकाक्षाओ के ससार को मिटा कर युद्ध का भैरवगान गाने की घोषणा करता है, भावना पर कर्तव्य की, व्यक्ति पर युग-धर्म की और सौन्दर्य पर शिव की विजय होती है—

१. हुंकार, पृष्ठ १६

फेंकता हूं लो, तोड-मरोड
अरी निष्ठुरे ! बीन के तार;
उठा चांदी का उज्ज्वल शंख
फूंकता हूं भैरव-हुंकार ।
नहीं जीते-जी सकता देख
विश्व में झुका तुम्हारा भाल,
वेदना-मधु का भी कर पान
आज उगलूंगा गरल अकाल ।[1]

इसी मन स्थिति को व्यक्त करने वाली दूसरी कविता है 'साधना और द्विधा'। वासन्ती चादनी और पुरवैया के मादक वातावरण में पुलिन पर बैठा कवि साधना मे लीन है। प्रकृति के विभिन्न उपकरण उसे अपनी भावनाओ की कहानी बताते हैं, उसके सामने अपनी व्यथा और रहस्य का उद्घाटन करते हैं। तभी पृथ्वी की कहानी स्थूल-नग्न यथार्थों से भरी कवि के मन मे द्विधा उत्पन्न करती है—

पर, इस भरे जग में गरीबी का हितू कोई नहीं
चढ़ती किसी की बूट पर पालिश किसी के खून की
जीवित मरालों की चिता है सभ्यता की गोद मे।[2]

कवि विस्मित और चकित है कि उसकी बसी किस ध्वनि का उच्चार करे, प्रकृति के सुन्दर काल्पनिक रहस्यो का, अथवा मानवता की पीडा और कराह का।

आक्रोशपूर्ण क्रान्ति-चेतना

'हुकार' की कविताओ का दूसरा वर्ग है उन राष्ट्रीय कविताओ का जिनमे क्रान्ति और आक्रोश का स्वर प्रधान है ; जहा कवि अपने युग के युवको के उबलते हुए खून को स्वर देता है। उनकी वाणी को प्रलय का गर्जन देता है, जहां वह विद्रोह के गीत गाता हुआ तूफान का आह्वान करता है। परन्तु अब यह तूफान 'रेणुका' के 'ताण्डव' के समान केवल ध्वस और नाश का ही सदेश नही देता। उसके पीछे एक राजनीतिक पृष्ठभूमि है, जनता के हृदय की ज्वाला है जो अत्याचार और अनाचार को चुनौती देती है। इस वर्ग की प्रतिनिधि कविताए हैं—स्वर्ग-दहन, आलोकधन्वा, चाह एक, दिगम्बरि, अनल किरीट, भीख और विपथगा।

'स्वर्ग दहन' और 'आलोकधन्वा' सामान्यतः क्राति युग के जाज्वल्यमान

१. हुकार, पृष्ठ १०
२. वही, पृष्ठ ८१

पौरुष तथा विशेषत दिनकर के प्रबल आक्रोश से भरे हुए शक्तिशाली कवि-व्यक्तित्व के प्रतीक हैं। दोनो ही कविताओ मे मृत्तिकापुत्र स्वर्ग की अतुल शक्ति और विवस्वान के अमित तेज को ललकारता है। उसके मानस मे वह्नि कुण्ड का दाह है परन्तु वह दाह केवल नाश और विध्वस के लिए नही है। उसमे निर्माण का सकेत विद्यमान है। त्रस्त भारतीय मानस की करुणा को वाणी देने के लिए जब वे अपनी काव्य-वशी मे प्राण फूकते हैं उनका स्वर करुण न रह कर रौद्र बन जाता है, उनके शब्दो से क्रान्ति की लपटे छूटती हैं—

दिव-दाह देखना किसी काल मेरा न ध्येय,
अपरार्क कहा लेना न चाहता मृषा श्रेय।
वंशी पर मै फूकता हृदय की करुण हूक,
जाने, क्यो शब्दो से उठती है लपट लूक।[1]

'आलोकधन्वा' मे क्रान्तियुगीन युवा-कवि की ज्वलन्त कहानी कही गयी है। इस कविता मे एक ओर जागरण युग की चेतना और क्रान्ति के आलोक से प्रज्ज्वलित भारतीय मानस की कहानी है और दूसरी ओर क्रान्ति-द्रष्टा दिनकर के ओज और आलोक की अभिव्यक्ति है। सम्पूर्ण कविता मे दिनकर की प्रखर दीप्ति एक रूपकमयी भाषा मे वर्णित है। आलोकधन्वा क्रान्ति के दिशा-निर्देशक का प्रतीक है। दीर्घकालीन सुप्तावस्था के बाद भारत मे चेतना की लहर आई थी परन्तु दिनकर के आविर्भाव तक युग केवल अगडाइया ले रहा था, विभा की मन्द किरणें प्रभात का सकेत मात्र दे रही थी, राजनीतिक आन्दोलन मे उग्रता और प्रखरता कम, जागृति-जन्य चेतना ही अधिक थी। राजनीति और राष्ट्र के उग्र और प्रखर तत्व पृष्ठभूमि मे पडे थे, उनका महत्त्व गौण माना जाता था। विभा की चेतना को मध्याह्न की प्रखरता मे परिणत करने का कार्य दिनकर को करना था, यही अभीष्ट लेकर उन्होने क्रान्ति की प्रभाती गाना आरम्भ किया। क्रान्ति युग के कवि के तेज का चित्र उन्होने इस प्रकार खीचा—

मेरा शिखण्ड अरुणाभ, किरीट अनल का
उदयाचल पर आलोक-शरासन ताने,
आभा में उज्ज्वल गीत विभा के गाने
आलोक-विशिख से बेध जगा जन-जन को,
सजता हूं नूतन शिखा जला जीवन को।[2]

'चाह एक' कविता मे भी इन्ही भावनाओ की आवृत्ति है। इन रचनाओ मे

---

१ हुकार, पृष्ठ १३
२ हुकार, पृष्ठ १४

व्यक्त अंगार, ज्वाला, आलोक और तेज इस पीढी के राष्ट्रीय कवियो को पूर्ववर्ती कवियो से बिल्कुल पृथक् कर देते हैं, जिनकी राष्ट्रीय चेतना मे जलाने, मारने और विजय प्राप्त करने की अपेक्षा जलने, मरने, समर्पित और बलिदान होने का भाव अधिक था। उनके स्वर के पीछे गाधी के सत्य और अहिंसा का बल था, पर ये नए कवि नया उबाल लेकर आए थे। दिनकर की भावनात्मक प्रखरता ने उनके स्वर को यह तीव्रता दी थी। रूमानी कवि का प्रेम जितना तीव्र होता है उसकी घृणा और आक्रोश भी उससे कम तीव्र नहीं होता। उसकी बुलन्द आवाज़ राजनीति, संस्कृति और नैतिक अनुशासन के सिर पर चढ़ कर बोलती है तथा जनता के मन पर राजनीतिक नेताओ के वक्तव्यो से ज्यादा असर डालती है—ऐसी ही आवाज़ दिनकर की उस गाधी युग मे थी, जो नवयुवकों के मन में केवल मरने का साहस ही नही मारने की शक्ति भी भर रही थी, जो केवल शीश-दान ही नही शीश उतारने की प्रेरणा भी दे रही थी, उस क्राति की आग लगाना उनका एकमात्र ध्येय था, जो 'पत्थर' की छाती फोड सके, जिससे 'भूधर' के प्राण पसीज उठें। ये आकाक्षाएं उस युग के युवक वर्ग की थी जो परिस्थितियो की विषमता से इस आग और तूफान को अपने हृदय मे बाधे ही बैठे हुए थे, भीख और समझौते की नीति पर उनका विश्वास न था, और उनकी अग्नि को सक्रमण का मार्ग नहीं मिल रहा था। अग्नि उनके मन मे ही धुधुवा रही थी, दिनकर उस क्रान्ति की उद्दाम लहर देखने को व्यग्र थे, जो उनकी दृष्टि मे मुक्ति का एकमात्र मार्ग थी—

> जा रहा बीतता हवन-लग्न, करवटें चुका ले शेष-व्याल,
> मेरे मानस के इष्टदेव, आओ खोले निज जटा-जाल;
> यह आमन्त्रण उनका, न मोहने को जिनको हैं धरा-धाम,
> हैं सीख चुके ये निःस्व वीर, है दहन मुक्ति की राह एक।
> बल उठे किसी दिन वह्निराशि, ले-देकर मेरी चाह एक।[1]

'अनल किरीट' कविता मे स्वातन्त्र्य के सुधा-बीज बोने की आकांक्षा रखने वालो को कालकूट पीने के लिए सतर्क और सावधान किया गया है। आग का मुकुट पहन कर सर्वत्र, प्रत्येक परिस्थिति मे आगे बढते जाना – देश के सैनिक का कर्तव्य है—रुक कर पैर से कांटे निकालने का अवसर उसके पास नही है, फूक-फूक कर कदम रखने की बात वह नहीं सोच सकता, मार्ग की कठिनाइया, पैरो में पड़े हुये छाले उसकी गति धीमी करने के बजाय तेज़ करते हैं, हर क्षण जागरूकता उसका स्वभाव है, तूफान ही उसका सगीत है, उनकी रसभरी

१ हुकार, पृष्ठ १९

जवानी नेजो पर चढ कर खेलती है ; भारत के ऐसे जवानो के चढ़ते पानी से खेलना आसान नही है। ये गाधी युग के राष्ट्रीय कवि के भाव हैं, पर यह चित्र गाधी के सत्याग्रही सैनिक का नही, क्राति के उस सैनिक का है, जिसकी कल्पना दिनकर के आदर्श मे थी और जिसकी आवृति 'परशुराम की प्रतीक्षा' मे की गई है।

'भीख' कविता मे भी कवि की दृष्टि मे जीवन का पहला सत्य है दहन। यहा कवि का तात्पर्य गाधी के आत्म-दहन से नही है, बल्कि अत्याचार, अनाचार और शोषण के प्रति क्रोध और आक्रोश से है। भारत के नौजवान के लिए दिनकर ईश्वर से लहू की वह आग मागते है जिसकी दारुण शिखा उसके प्राणो को जलाती हुई असन्तोष की चिनगारी को प्रज्ज्वलित करती रहे। वे अत्याचार के प्रति असहनशीलता और अशान्ति का वरदान मागते हैं, जो जीवन के भीष्म तत्वों से प्यार करना सिखा सके।

इस प्रकार हुकार मे दिनकर का स्वातन्त्र्य-सग्राम गाधी का सग्राम नही था और न उनका सैनिक विनय, सत्य और अहिंसा की प्रतिमूर्ति, केवल मशीनगन के सामने छाती खोल कर खडा होने वाला सैनिक था। दिनकर का राष्ट्रीयता आरम्भ से ही क्रातिमूलक रही है—जहा ओज, शौर्य और पराक्रम प्रधान गुण थे, राष्ट्र के सैनिक मे बुद्ध, अशोक और गाधी की अहिंसा की अपेक्षा अर्जुन और विक्रमादित्य के क्षात्र-तेज की आवश्यकता उन्होने अधिक समझी थी।

क्रान्ति के उत्तरदायी उपकरण : राजनीतिक भ्रष्टाचार

'दिगम्बरि' और 'विपथगा' मे क्रान्ति के लिए उत्तरदायी उपकरणो और परिस्थितियों का रागात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। जन-क्रान्ति कोई आकस्मिक घटना नही होती, उसके लिए कारण धीरे-धीरे एकत्रित होते रहते है। अत्याचार की घुटन ही एक दिन विस्फोट बन जाती है। जब रस्सों से कसे, कोडे खाते हुये जवान पाप का प्रतिकार नही कर पाते, जब आसू बहाने के अपराधी होने के भय से वह मन की भावनाओं का दमन करके रह जाते है, अपमान के विष भरे घूटो को होठों मे ही दबाकर पी जाते है—उसी मौन, घुटन-भरे क्षुब्ध क्रोध मे क्रान्ति का बीज बोया जाता है।

आर्थिक वैषम्य

क्रान्ति के बीज को अनुकूल भूमि प्रदान करने वाला दूसरा तत्व है आर्थिक वैषम्य। जिस आर्थिक व्यवस्था मे पूजीवादी शोषण का चक्र भयंकर गति से

चलता है, क्रान्ति के बीज वही अकुरित होते हैं। जब दुर्बल दरिद्र जनता पूजीपतियों के विलास का बोझ ढोती है, जब शोषित और दलित वर्ग सब कुछ सहता हुआ मन ही मन घुटता रहता है—तभी क्रान्ति की भावना को सवर्धन मिलता है। अन्न और वस्त्रहीन बालक एक ओर जहा क्षुधा और शीत से तडपते है, और दूसरी ओर महलो मे निर्बाध विलास लीलाएं चलती है उन्ही वैषम्यो मे क्रान्ति का जन्म होता है।

क्रान्ति के वाहक होते है युवक। उनके मरण-त्योहार का जुनून पार्लियामेंट, सरकार और पूजीवादी शोषकों पर आतक बन कर छा जाता है, जार और नीरो के सिंहासन हिल जाते है। दिनकर ने 'विपथगा' मे उसी क्रान्ति का स्वप्न देखा है जो सीधे रास्ते चलना नही जानती, जो व्यवस्था को मिटा कर काटो पर आगे बढती है। 'कुरुक्षेत्र' के दिनकर पर हिंसावादी होने का आरोप लगाया जाता है, परन्तु 'हुकार' के दिनकर कही अधिक हिंसावादी है। कुरुक्षेत्र की रचना विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि मे हुई थी, जो न कवि को काम्य था और किसी शान्तिप्रिय व्यक्ति को प्रिय हो सकता था, कुरुक्षेत्र मे प्रतिपादित हिंसा एकपक्ष मात्र है—एक विशिष्ट परिस्थिति मे शान्ति रूपी अभीष्ट की साधन मात्र है। परन्तु 'हुकार' की हिंसा का न निराकरण है न शमन। क्रान्ति, दिनकर का अभीष्ट है यहा वह साधन और साध्य दोनो ही है, वास्तव मे हुकार का यही क्रान्ति-द्रष्टा दिनकर, कुरुक्षेत्र के भीष्म के रूप मे अवतरित हुआ है।

'दिगम्बरि' कविता का उल्लेख भी इस प्रसग मे आवश्यक जान पडता है। 'विपथगा' मे क्रान्ति के आगमन की प्रखर भयकरता का चित्रण हुआ है—दिगम्बरि मे 'विभा के बाण' वाले जागरण काल के युवक क्रान्ति की प्रतीक्षा मे हैं। इस कविता मे ब्रिटिश दमन-नीति से उत्पन्न क्षोभ और घुटन के वातावरण का चित्रण प्रधान है जिसका समाधान है क्रान्ति। दिनकर ने यहा भी युवको को ही क्रान्ति का कर्णधार माना है। भारतीय स्वतन्त्रता के संग्राम के अहिंसावादी सेनानियो का रक्त भी आतंकवादी युवको के मरण-ज्वार के प्रभाव से कभी-कभी उष्ण हो जाता था। परम्परावादी, समझौते के सीधे मार्ग पर चलते थे और युवक वर्ग आग मे कूद कर अधिकार छीन लेने के पक्ष मे थे। दिनकर क्रान्ति के ज्वार को ही समय की माग समझते थे—

> **कलेजा मौत ने जब-जब टटोला इम्तिहां में,**
> **जमाने को तरुण की टोलियां ललकार बोलीं।**
> **पुरातन और नूतन वज्र का संघर्ष बोला,**
> **विभा सा कौंध कर भू का नया आदर्श बोला,**

नवागम रोर से जागी बुझी ठण्डी चिता भी,
नई भृङ्गी उठा कर वृद्ध भारतवर्ष बोला।
नए युग की भवानी आ गई बेला प्रलय की
दिगम्बरि ! बोल ! अम्बर में किरण का तार बोला।[1]

इन सभी कविताओ मे दिनकर की राष्ट्रीय चेतना संवेदनात्मक और भावात्मक है। इनको समस्या और प्रश्न के विविध पहलुओ की तीव्र भावात्मक प्रतिक्रियाओ का परिणाम ही माना जा सकता है। उपर्युक्त सभी कविताओ मे व्यक्ति-धर्म क्रान्ति के रूप-विश्लेषण, युग-चित्रण, इत्यादि की भावात्मक प्रतिक्रियाओ का चित्रण हुआ है। कवि ने विचार और चिन्तन द्वारा सिद्धान्त निर्धारण नही किया।

विचार-संपुष्ट काव्य-चेतना

हुकार मे कुछ ऐसी कविताए भी है जिनमे, दिनकर ने भावपरक प्रतिक्रियाओ को विचार-सपुष्ट करके उनमे क्लासिक स्पर्श देने का प्रयास आरम्भ कर दिया है, यद्यपि अभिजात कविता का पूर्ण गौरव आगे चलकर कुरुक्षेत्र मे ही व्यक्त हुआ। विचारात्मक कविताओ मे मुख्य है कल्पना की दिशा के 'यज्ञोन्मुखी' और 'महामानव की खोज' खण्ड, और 'व्यक्ति' कविता। यज्ञोन्मुखी मे कवि ने रगो की दुनिया मिट्टी को चढ़ा कर यज्ञारणि की कलम हाथ मे ली परन्तु अहिंसात्मक आन्दोलन की नरम नीति के प्रति क्रोधित और क्षुब्ध होकर उन्हे यह कहना पड़ा—

महाश्चर्य ! सन्दीप्ति भूल कर अपनी,
सिंह भीत हो छिपा धनान्ध गुहा मे,
जो करता है इस कदर्य के मुख पर
मल दूं लेकर मुट्ठी भर चिनगारी।[2]

'महामानव की खोज' मे गाधी-नीति और गाधी-दर्शन का खुला खण्डन पहली बार किया गया है। अभी तक वे केवल सिद्धान्तो और आदर्शों का विरोध करते रहे थे, प्रगतिवादी दृष्टिकोणो के गाधी की प्रतारणा द्वारा मौन किए जाने पर, दिनकर का संयम और अनुशासन छूट गया, राजनीति पर छाए हुए गाधी के व्यक्तित्व ने अहिसा और समझौते के विरोधियो के मुह पर ताला लगा दिया जिससे उस समय के नवयुवको को बडी निराशा हुई—गाधी-धर्म को ग्लानिपूर्ण 'अजा धर्म' का नाम देते हुए उन्होने लिखा—

---

१. हुकार, पृष्ठ १५
२. हुकार, पृष्ठ ६५

ऊब गया हूं देख चतुर्दिक अपने
प्रजा-धर्म का ग्लानि-विहीन प्रवर्तन;
युग-सत्तम सबुद्ध पुनः कहता है,
ताप कलुष है, शिखा बुझा दो मन की।[१]

दिनकर ने गाधी-नीति के द्रोह छोड़ने की आज्ञा का खण्डन करते हुए, आत्मा और शरीर दोनो के अनिवार्य महत्व की प्रतिष्ठा की। इतिहास की साक्षी देकर सिद्ध किया कि संहार में देवत्व ही हारता आया है। दनुज की हिंसक वृत्तियों की उपेक्षा जीवन की क्रियात्मक भूल है—

तृणाहार कर सिंह भले ही फूले
परमोज्जल देवत्व प्राप्ति के मद मे,
पर, हिंस्रों के बीच भोगना होगा,
नख-रद के क्षय का अभिशाप उसे ही।[२]

ऐसा लगता है कि गाधी-दर्शन के विरोध मे राष्ट्रीयता के जो आदर्श प्रतिमान उन्होने स्थिर किये कुरुक्षेत्र मे उन्ही की अभिव्यक्ति भीष्म जैसे पौराणिक पात्र के माध्यम से किये जाने के कारण अधिक मान्य हुई, नही तो कुरुक्षेत्र में प्रतिपादित शारीरिक और आत्म बल के सामंजस्य का सिद्धात वे हुंकार के इन विचार-सपुष्ट गीतो में ही बना चुके थे। भारत की बागडोर सम्हालने के लिए वे उस प्रचण्ड मानव के अन्वेषी बने जिसकी सांसों पर प्रभंजन नृत्य करे, जिसके इशारे पर इतिहास बदल जाये—गांधी नीति में अध्यात्म-दर्शन और राजनीति को उलझा दिया गया था। राजनीतिक समस्याओ के आध्यात्मिक सुझावों से नई पीढ़ी के युवकों को बड़ा क्षोभ होता था। दिनकर ने उसी क्षोभ को वाणी दी : भारत के लिए ऐसे गायक की कल्पना की जो आत्मबल और शरीरबल का सामंजस्य कर सके। दर्शन और राजनीति के क्षेत्रो की पृथकता को पहचान सके—

वह मनुष्य जो रणारूढ़ होने पर
अस्तु धर्म का पृष्ठ नहीं खोलेगा;
द्विधा और व्यामोह घेर कर जिसको
मृषा तर्क से बांध नहीं पायेंगे।[३]

गांधी-दर्शन उनकी दृष्टि मे क्षमा और दया के सुघर बेलबूटो से क्लीव

---

१. हुंकार
२. वही, पृष्ठ ६६
३. वही, पृष्ठ ६७

धर्म को सजाने वाला धर्म था। उन्होने धरती के उस अग्रदूत मानवेन्द्र की कल्पना की जिसके एक हाथ मे अमृत-कलश और धर्म की ध्वजा हो, परन्तु जो झझा-सा बलवान और काल-सा क्रोधी भी हो, अचल के समान धीर होते हुये भी निर्झर-सा प्रगतिशील हो।

दिनकर की इन कल्पनाओ मे कही-कही हिटलर और मुसोलिनी के व्यक्तित्वो के बल की राक्षसी गन्ध आती जान पडती है। अमृत-कलश और धर्म-ध्वज की रक्षा तो कठिन है पर झझा-से क्रोध और शैल-से अह द्वारा प्रेरित होकर व्यक्ति अपने को भगवान समझने लगता है। गाधी-दर्शन मे आध्यात्मिकता की ओर असतुलित झुकाव था, दिनकर की कल्पना शक्ति मे चाहे असंतुलन न हो, पर शारीरिक शक्ति की ओर असंतुलित झुकाव की सम्भावना उसमे विद्यमान है। असंतुलन से व्यक्ति संत बने या दानव प्रश्न यह है। लेकिन दिनकर ने शक्ति के दानव के हाथ मे वेद-कलश और धर्म-ध्वज पकडा कर उसे मनुष्य बनाये रखने का सर्वत्र प्रयास किया है। और अगर आत्मसम्मान, राष्ट्रसम्मान और देश की रक्षा का प्रश्न हो तो वह अबल देवता से दुर्दम दानव की ओर ही झुकेगे।

'व्यक्ति' कविता मे ससीम की तुच्छ सत्ता की महत्ता की स्थापना की गई है। समष्टि के निर्माण मे व्यक्ति का अनिवार्य महत्व है। उसकी सीमाओं मे ही उसकी शक्ति निहित है। व्यक्ति एक चिनगारी के समान है, अपने आप मे महत्वहीन, परन्तु अनुकूल वायु पाकर वह अम्बर मे आग लगा सकता है, प्रचण्ड ज्वाला फैला सकता है। व्यक्ति का मार्ग फूलो से न सही काटो से भरा हो लेकिन उपवन के फलों की रक्षा करने मे काटो का योगदान भी महत्वपूर्ण है। व्यक्ति हिमकण के समान क्षण-भंगुर सही, किन्तु यदि अपने आप मिट कर वह किसी सुमन को पुलक दे सके तो उसका जीवन सार्थक है। 'रेणुका' मे व्यक्त निवृति, नश्वरता और दुखवाद के बोझिल अवसाद के बाद 'हुकार' का यह आशावादी दृष्टिकोण बडा अभिनन्दनीय और सुखद लगता है, जान पड़ता है जैसे मन को अंधेरे बन्द कमरे से निकल कर खुली हवा मे सांस लेने का अवसर मिला हो।

यथार्थवादी तथा समसामयिक घटनाओं पर आधारित कवितायें

हुकार मे आकर दिनकर की काव्य-चेतना अतीत को छोडकर वर्तमान मे आने का बारबार हठ करती है, इतिहास, आसू, प्रकृति-प्रेम, सब कुछ उसके लिए उपेक्षणीय बन जाते है—वह तो जैसे दिनकर की उंगली पकड कर उन्हे निर्दिष्ट मार्ग पर जबरदस्ती खीचे लिये जा रही है—

तेरे कण्ठ बीच कवि ! मै बन कर युगधर्म पुकार चुकी,
प्रकृति-पक्ष ले रक्त-शोषिणी, संस्कृति को ललकार चुकी
वार चुकी युग पर तन मन धन, अपना लक्ष्य विचार चुकी,
कवे ! तुम्हारे महायज्ञ का साकल कर तैयार चुकी
ढोऊंगी मै सुयश तुम्हारा, बन नवीन युग की वाणी,
ग्लानि न कर, सहचरी तुम्हारी हूं मै भावों की रानी ।[1]

जीवन के विविध पक्षो के यथार्थवादी चित्रण की प्रतिनिधि कविता है 'हाहाकार' ।

समष्टि-चेतना की ओर उन्मुख होकर उनकी काव्य-दृष्टि चतुर्दिक अभावो की ही अनुभूति करती है। कवि नग्न यथार्थ से दूर भागने की चेष्टा करने पर भी उस कार्य मे सफल नही हो पाता, विश्व के घुटते हुए प्राणी, जलते हुए घर उसे विक्षिप्त बना देते है, इस नग्न यथार्थ से मुह चुरा कर वह 'सुन्दर' के गीत गाना चाहता है, सौन्दर्य की आराधना करना चाहता है। उसकी पुरानी चाह जाग कर कहती है—

मेरी भी यह चाह, विलासिनि ! सुन्दरता को शीश झुकाऊं
जिधर जिधर मधुमयी बसी हो, उधर वसन्तानिल बन धाऊं !
झांकूं उस माधवी-कुंज में, जो बन रहा स्वर्ग-कानन में,
प्रथम परस की जहां लालिमा सिहर रही तरुणी आनन में ।[2]

लेकिन कवि नभ मे कुटी बनाने मे अब और समर्थ नही रह जाता, एक पखहीन पक्षी की तरह भूमि की हलचल में गिर पड़ता है। चारो ओर फैली हुई अशान्ति, हिंसा, शोषण, दलन, वैषम्य कवि के मानस मे प्रबल हो उठता है। जातिवाद, राष्ट्रवाद और वर्णभेद से कराहते हुए विश्व के रोर से आख बन्द कर लेना उसके लिए असम्भव हो गया है।

सामाजिक और आर्थिक शोषण से किसान और श्रमिक त्रस्त हैं। जीवन की सुख-सुविधाओ की तो बात ही क्या उन्हे जीने का भी अधिकार नही है। क्षुधा से पीड़ित, वस्त्र-हीन किसान जिसकी जबान बद है, जिसको गम खाना और आंसू पीना पडता है, दिनकर को कल्पना के धरातल से जबरदस्ती खीच कर उनका ध्यान अपनी ओर दिलाते हैं। कृषक और श्रमिको के, दूध के बिना मरते हुए बच्चे जैसे कवि के मन मे एक उन्मादक व्यथा भर देते है, जिससे विक्षिप्त होकर वे बच्चो के भगवान को पुकारते है, अपने अचल मे

१ हुंकार, पृष्ठ ८४
२. वही, पृष्ठ २०

मरते हुए बच्चो की मा की विवशता के साथ तादात्म्य करते है, और अन्त मे प्रार्थना, अनुनय, विनय सब मार्गों को छोड़कर सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्रान्ति का आह्वान करते है जिससे पृथ्वी के मनुष्यो को जीने का अधिकार प्राप्त हो।—

वे भी यहीं दूध से जो अपने श्वानों को नहलाते है।
ये बच्चे भी यही, कब्र में दूध दूध जो चिल्लाते है।
बेकसूर नन्हें देवों का शाप विश्व पर पड़ा हिमालय!
हिला चाहता मूल सृष्टि का, देख रहा क्या खड़ा हिमालय!
हटो व्योम के मेघ, पन्थ से, स्वर्ग लूटने हम आते है,
'दूध दूध' ओ वत्स! तुम्हारा दूध खोजने हम आते है।[1]

समष्टि चेतना का यह आर्थिक और सामाजिक पक्ष दिनकर की राष्ट्रीय चेतना का ही अग है।

सामाजिक यथार्थवाद और समसामयिक घटनाओ पर आधृत 'हुकार' की अन्य रचनाए है 'तकदीर का बटवारा', 'मेघ रन्ध्र मे बजी रागिनी', 'भविष्य की आहट' और 'दिल्ली'। प्रथम कविता, भारतवर्ष की साम्प्रदायिक समस्या और द्वितीय अबीसीनिया पर इटली के आक्रमण के प्रति आक्रोश के फलस्वरूप लिखी गई है। भविष्य की आहट मे विराट एशिया के जन्म की कल्पना है जिसमे एशिया के महान देशो के ऐक्य की भव्य और आतकपूर्ण तस्वीर खीची गई है—

अखण्ड पाद-चाप ने सचेत शैल को किया,
चिंघार सिहनी जगी, जगा विराट एशिया।

भूमध्य देश, चीन और भारत की एकता का दिनकर ने एक स्वप्न देखा था—

चूमता बढ़-बढ़ हिमालय व्योम को,
हिन्दसागर है निनादित रोर से,
सिन्धु से 'दजला' मिली 'भागीरथी'
फूलती पा प्रेम 'येलो' ओर से।[2]

पर आज गगा की श्वेत धार मे रक्त घोल कर 'येलो' तट के वासियो ने उसे दूषित करने का प्रयत्न किया है। दिनकर का स्वप्न खण्ड-खण्ड हो गया है और शायद तभी वह 'परशुराम' का फरसा लोहित कुण्ड मे फिर से धोने के लिए उग्र रूप धारण कर रहे है।

---

१. हुकार, पृष्ठ २३
२. हुकार, पृष्ठ ७७

दिल्ली उनकी व्यंग्यात्मक कविता है। यद्यपि उसकी रचना सन् १९३३ मे हुई पर उसकी पृष्ठभूमि सन् १९२९ की है जब नई दिल्ली का प्रवेशोत्सव मनाया गया था। इसी वर्ष भगतसिह पकडे गए और लाहौर काग्रेस मे पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास हुआ, एक ओर उत्सव और दूसरी ओर दमन इन्ही दोनों विरोधी स्थितियो के सह-अस्तित्व पर यह व्यंग्य कविता लिखी गई। सत्यानाश के प्रहर मे रूप सजाती हुई दिल्ली को लक्ष्य करके उन्होने लिखा—

मरघट मे तू साज रही दिल्ली कैसे शृङ्गार ?
यह बहार का स्वांग अरी, इस उजड़े हुए चमन मे।[1]

दिल्ली के अतीत-वैभव और वर्तमान-अंधकार को एक-दूसरे के विरोध मे रखकर बडे प्रभावपूर्ण चित्र खीचे गए है। इस कविता मे भी दिनकर का विवश आक्रोश व्यग्य बनकर व्यक्त हुआ है।

'हुकार' की समष्टि चेतना का दिनकर की काव्य-चेतना के विकास मे महत्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक क्षेत्र मे अपने युग और वैयक्तिक क्षेत्र मे अपनी परिस्थितियो से लड कर उन्होंने जीवन के जो भावात्मक तथा निषेधात्मक मूल्य और मापदण्ड निर्धारित किए, उन्ही की अभिव्यक्ति क्रमश. कुरुक्षेत्र के भीष्म और युधिष्ठिर के माध्यम से हुई। 'हुंकार' के दिनकर के अनुभव और उनकी धारणाएं गीता-दर्शन से संपुष्ट होकर भीष्म की उक्तिया बनी। इस प्रकार कुरुक्षेत्र केवल चिंतनपरक काव्य न होकर दिनकर के अनुभवो और उनकी अपनी जीवन-दृष्टि का प्रतिनिधित्व भी करता है, जो हुकार मे निश्चित और निर्णीत होकर स्थायी हो गई थी, जिसे गीता और रसेल के दर्शन के स्पर्श से सपुष्ट करके दिनकर ने कुरुक्षेत्र मे गौरवान्वित किया। 'हुकार' के दिनकर का आक्रोश और आवेश जवानी का जोश कह कर टाला जा सकता था, भारतीय संस्कृति की रगो मे मिले हुए अध्यात्म तत्व के कारण उसको नीची श्रेणी का दर्शन भी कहा जा सकता था, परन्तु भीष्म जैसे पौराणिक और वरिष्ठ पात्र के माध्यम ने दिनकर के अनुभवो को गरिमा देकर अमर बना दिया, वर्तमान मे उपेक्षित 'अपरिपक्व और अप्रौढ' मान्यताएं अतीत की कथा का बाना पहन कर आधुनिक गीता के रूप मे मान्य हुई। 'कुरुक्षेत्र' के प्रतिपाद्य का विवेचन हम उसे 'हुकार' से अलग करके करते रहे हैं पर मेरे विचार से 'हुकार' के तीव्र मानसिक आलोडनो और प्रतिक्रियाओ को झेले और पार किए बिना, दिनकर कुरुक्षेत्र की विचार-भूमि पर नही पहुच सकते थे।

---

१. हुंकार, पृष्ठ ४४

'हुकार', 'रसवन्ती' और 'द्वन्द्व गीत' का प्रकाशन प्राय साथ-साथ हुआ है। तीनो मे संकलित कृतियो का रचनाकाल भी प्राय. समान ही है, इसलिए, दिनकर की काव्य-चेतना के क्रमिक विकास मे हुकार के बाद इन दोनो कृतियो मे व्यक्त काव्य-चेतना का विश्लेषण आवश्यक होता। पर, जैसा कि पहले कहा जा चुका है उनकी काव्य-चेतना के वैयक्तिक और समष्टिपरक पक्ष समानान्तर रूप से पृथक्-पृथक् विकसित हुए हैं। इस बात को ध्यान मे रखते हुए—प्रस्तुत प्रसग मे इन दोनो कृतियो को छोड देना अभीष्ट होता, परन्तु यहा भी एक कठिनाई है। यद्यपि 'रसवन्ती' की श्रृङ्गार-चेतना और नारी-भावना को 'हुकार' के बाद अग्रिम-समष्टि चेतना के काव्य कुरुक्षेत्र मे स्थान नही मिला है, परन्तु 'द्वन्द्व गीत' के दर्शन का ऊहापोह उसमे महत्वपूर्ण और अनिवार्य स्थान रखता है, 'हुकार' के दिनकर और 'द्वन्द्व गीत' के दिनकर के बौद्धिक द्वन्द्व युद्ध के द्वारा ही कुरुक्षेत्र के स्वस्थ सतुलित जीवन-दर्शन की स्थापना हो सकी है इसलिए कुरुक्षेत्र की काव्य-चेतना के विश्लेषण के पूर्व द्वन्द्व गीत की चेतना का विश्लेषण प्राय अनिवार्य जान पडता है। इसके अतिरिक्त द्वन्द्व गीत की निवृत्ति-मूलक नैराश्य-पूर्ण भाव-परम्परा यही समाप्त हो जाती है। कुरुक्षेत्र के भीष्म के कर्मवाद मे उसका लय हो जाता है। अतएव, दिनकर की निवृत्ति-भावना के इस समाप्त होते हुए रूप का विश्लेषण इस प्रसग मे अनिवार्य है। 'रसवन्ती' की काव्य-चेतना का विश्लेषण श्रृङ्गार-भावना के विकास के अन्तर्गत किया जाएगा।

'द्वन्द्व गीत' की काव्य-चेतना

रेणुका के प्रतिपाद्य विषयो का विश्लेषण करते हुए कुछ कविताओ मे व्यक्त दिनकर की अस्वस्थ, असतुलित, रुग्ण और विकृत निवृत्ति-भावना की ओर संकेत किया जा चुका है। द्वन्द्व गीत मे उसी भावना का परिवर्तन-परिवर्धन और सशोधन हुआ है। उसमे व्यक्त द्वन्द्व के मुख्य तीन रूप है—

१ राग और विराग का द्वन्द्व

२. कर्मवाद और पलायनवाद का द्वन्द्व

३. आस्था और अनास्था का द्वन्द्व।

जीवन की समस्याओ के विरोधी पहलुओं पर साथ-साथ विचार करने के कारण दिनकर की दार्शनिक मान्यताओ पर अस्थिरता का दोष लगाया जाता है। अभी कुछ दिन पहले ही एक वरिष्ठ प्राध्यापक ने कहा, 'दिनकर का दर्शन आखिर क्या है ? कभी वह प्रवृत्ति की बात करते हैं, कभी निवृत्ति की, कभी हिंसा-हिंसा चिल्लाते हैं और कभी बापू पर कविता लिखते है।' दिनकर पर इस प्रकार के आक्षेप का उत्तर यह है कि साहित्यकार दार्शनिक की भाति,

संसार, जीव, ब्रह्म और जीवन के सम्बन्ध में अन्तिम सत्य का निर्णय नही दे सकता। उसके दो ही रूप हो सकते है—या तो वह दर्शन की अधीत अनुभूति को अपने काव्य मे उतारे अथवा जीवन को भोग कर, झेल कर अपने अनुभवो के आधार पर शास्त्रसम्मत दार्शनिक मान्यताओ के सत्यासत्य का निर्णय करे। इस दृष्टि से दिनकर दूसरे वर्ग मे आते हैं। प्रथम वर्ग का साहित्यकार दर्शन की केवल बौद्धिक अनुभूति कर सकता है और बौद्धिक अनुभूति सिद्धान्तो का प्रतिपादन करके काव्य मे रस-तत्वों को गौण तथा बौद्धिक विश्वास को प्रमुख कर देती है। लौकिक जीवन से ऊपर उठकर आध्यात्मिकता मे रस ले सकने वाले व्यक्ति ही उसका आनन्द ले सकते हैं। द्वितीय वर्ग के साहित्यकार की प्रयोगशाला जीवन और उसके अनुभव होते हैं, प्रयोगों के अन्तिम निष्कर्ष तक पहुचने के पहले उसे अनेक विरोधी स्थितियो का सामना करना पड़ता है। कभी उसे राग, कर्म और ईश्वर सत्य जान पड़ते हैं और कभी यह सब कुछ झूठ, प्रपच, मिथ्या और निस्सार दिखाई पडने लगते हैं। दिनकर की दार्शनिक प्रतिक्रियाएं भी बौद्धिक न होकर भावात्मक हैं, उनके दर्शन में विरोधी तत्वों के सह-अस्तित्व का मूल कारण यही है। और यह दोष नही उनकी शक्ति है।

राग और विराग का द्वन्द्व

'द्वन्द्व गीत' दिनकर के जीवन पर किए गए प्रयोगो और उसके फलस्वरूप प्राप्त अनुभूतियो की अभिव्यक्ति है। रेणुका की पूर्णतः अवसादभरी अनुभूतियो का अन्धकार यहा नही है, रूप और राग के आकर्षण और विकर्षण मे पहला ही विजयी होता दिखाई देता है। वास्तव में राग-विराग का यह आकर्षण-विकर्षण, अभाव और निषेध से 'रसवन्ती' के भाव और रस की ओर झुकते हुए दिनकर के द्वन्द्व की कहानी है। शृङ्गार की मादकता, कामिनी का आकर्षण उन्हे अपनी ओर खीचते हैं, पर संस्कारो में ठूंस-ठूस कर भरा हुआ नश्वरता, और संसार की अनित्यता का विश्वास उन्हें फिर पीछे ले जाकर पटक देता है—और वह सोचने लगते हैं—अधरों की क्षुधा, आखो का मद और यौवन के मधुकणो की परिणति है नाश। चादनी अमा में, और वसन्त पतझड़ मे बदल जाता है। सुन्दरता काल का ग्रास बनती है, इसीलिए बार-बार कवि के मन मे अपनी क्षणभंगुरता का आग्रह प्रधान हो जाता है—

दुख है, इस आनन्द कुंज में
मैं ही केवल अमर नहीं

केवल मै न रहूंगा, यह
मधु-धार उमड़ती जाएगी।[1]

परन्तु द्वन्द्व गीत मे व्यक्त नश्वरता के ये भाव और उससे उत्पन्न उदासीनता पहले की तरह एक कुठित किशोर का दिवास्वप्न मात्र नही है। जीवन के स्वस्थ मार्ग की ओर बढते हुए युवक को परिस्थितियो की झझा और जीवन के कटु अनुभवो के जो थपेडे लगते है वे ही कुछ समय के लिए हृदय मे नैराश्य का भाव भर देते है परन्तु जल्दी ही वे सम्हल कर प्रकृत हो जाते है। जिस सौन्दर्य की नश्वरता पहले उन्हें जीवन से भागने को प्रेरित करती थी, अब जीवन की श्रान्ति और क्लान्ति मिटाने का साधन बन जाती है—

रति-अनंग शासित धरणी यह,
ठहर पथिक, मधु रस पीले ;
इन फूलों की छांह जुड़ा ले,
कर ले शुष्क अधर गीले ;
आज सुमन मण्डप में सोकर
परदेसी निज श्रान्ति मिटा,
चरण थके दोनों, तेरे पथ
बडे अगम, ऊंचे टीले।[2]

* * *

उर उर में बंकिम धनु, दृग दृग
में फूलों के कुटिल विशिख ;
यह पीड़ा मधु-मयी, मनुज
बिधता आ अपने आप यहां।[3]

* * *

कर्मभूमि के थके श्रमिक को
इस निकुज की मधुबाला
एक घूंट में शान्ति मिटा कर
बेसुध, मत्त बनाती है।[4]

रसवन्ती की ओर प्रेरित करने वाली इस रागमयी दृष्टि के साथ ही साथ, उनके हृदय मे मृत्यु से भयभीत, नाश से सहमे हुए व्यक्ति की घबराहट भी है जो

१. द्वन्द्व गीत, पृष्ठ १७—दिनकर
२. वही, पृष्ठ २८
३. वही, पृष्ठ १९
४ वही

सौन्दर्य मे कुरूप और बीभत्स देखता है, चिता की आग का भय जिसे मधुबाला के अधरो के रस से वचित कर देता है। निम्नलिखित पंक्तियो मे वर्णित सौन्दर्य की बीभत्सता सत कवियो द्वारा वर्णित नारी अवयवो के बीभत्स वर्णनो के निकट पडती है—

> दो कोटर को छिपा रहीं
> मदमाती आँखें लाल सखी।
> अस्थि-तन्तु पर ही तो हैं
> ये खिले कुसुम के गाल सखी!
> और कुचों के कमल? झरेंगे
> ये तो जीवन से पहले,
> कुछ थोड़ा सा मांस प्राण का
> छिपा रहा ककाल सखी।[१]

रूप और सौन्दर्य के प्रति गहरे आकर्षण के मार्ग मे हर समय नश्वरता और मृत्यु के भय से अवरोध खडा रहता है—कभी उनका मन यह सोच कर सशय-ग्रस्त हो जाता है कि सौन्दर्य के चाद को ग्रहण से कैसे बचाया जायगा, प्रलय के थपेडो से कोमल स्निग्धता की रक्षा कैसे की जा सकेगी। कभी वे कह उठते हैं—

> पर, हूं विवश हाय, पंकज का
> हिमकण हूं, डोलूं कैसे।[२]

अनेक ऐसे स्थल भी हैं जहां 'द्वन्द्व गीत' के दिनकर द्वन्द्व को बिल्कुल ही भूल कर रस-लिप्त हो गए हैं, जीवन के मादक आकर्षणो मे पाप और पुण्य का भेद भूल कर नारी के रूप-राग में रम गए हैं। 'रसवन्ती' के कोमल मधुर गीतो की मादकता से इन रागमूलक रुबाइयो की मादकता कम नही है; अधिक चाहे भले ही हो। निम्नलिखित पक्तियो मे कामनाओं की उन उष्ण अनुभूतियो को अभिव्यक्ति मिली है जिनके पागलपन में व्यक्ति पाप-पुण्य, मर्यादा-अमर्यादा, लोक-परलोक का भय भूल जाता है—

> जिस दिन विजन, गहन कानन में
> ध्वनित मधुर मंजीर हुई
> चौंक उठे ये प्राण, शिराएं
> उर की विकल अधीर हुई

---

१. द्वन्द्व गीत, पृ० ३२
२. वही, पृ० ३३

तूने बन्दी किया हृदय में,
देवि, मुझे तो स्वर्ग मिला,
आलिंगन मे बंधा और
ढीली जग की जंजीर हुई।[१]

* * *

रेशम के तारों से चिकने बाल,
हृदय की क्या जानूं?
आंखें मुग्ध देखतीं, रहता
पाप-पुण्य का ध्यान नहीं।[२]

राग-विराग और आकर्षण-विकर्षण के इस द्वन्द्व मे राग की विजय हुई जिसने दिनकर को यह साहस दिया कि वे बडे यत्न से छिपाए हुए अपने प्रणय गीतो को धरती पर उतार सकें--वे गीत जिन्हे उन्होने उडु से द्युति, लहर से गति और मलय से सौरभ लेकर सवारा था, जो उनमे मधुर मृदुल सपने सजोते आए थे, जीवन के प्रति इसी दृष्टि-परिवर्तन ने आगे चल कर उन्हे उर्वशी लिखने की शक्ति और प्रेरणा दी। द्वन्द्व गीत का यह भावनात्मक सघर्ष उर्वशी मे व्यक्त कामाध्यात्म मे निहित बौद्धिक और आत्मिक द्वन्द्व और सघर्ष का बीज रूप माना जा सकता है।

कर्मवाद और पलायनवाद का द्वन्द्व

द्वन्द्व गीत के पलायनवादी स्वर की तुलना मे कर्मवाद का स्वर उतना प्रबल नही है जितना विराग की तुलना मे राग का। संसार की नश्वरता, विफलता, कटुता और विषमता के निराशावादी स्वर आशावादी कर्मवाद के स्वर से कही अधिक मुखर और प्रखर हैं। द्वन्द्व गीत का प्रारम्भ ही अवसाद के स्वरो से होता है। कवि को तारो मे जलन, मेघ मे आंसुओं का पारावार, संध्या मे विषाद और उषा मे प्रणय की विफलता दिखाई देती है और उसी के साथ वह अपने हृदय का हाहाकार भी जोड देता है।

मृत्यु और जन्म के दो रहस्यमय छोरो के बीच स्थित जीवन के अफसाने के प्रति दिनकर के मन मे उत्साह नही एक विवशता है—जीवन—एक लम्बा रास्ता है—जिसके मोड अपरिचित हैं और मजिल अज्ञात, पथिक को चलना है इस लिए विवशता से वह जीवन का बोझ ढोए जा रहा है, जीवन के प्रति यह थकावट और श्रान्ति का भाव द्वन्द्व गीत की अनेक पक्तियो मे व्यक्त है—

---

१. द्वन्द्व गीत, पृष्ठ २२

२ वही, पृष्ठ २०

जब तक शेष पन्थ, तब तक
विश्राम नहीं, उद्धार नहीं ![1]

* * *

मंजिल थी मालूम न मुझको
और पंथ का ज्ञान नहीं,
जाना था निश्चय, इससे
चुपचाप पड़ा मुझको जाना ।[2]

कर्म के मार्ग पर अनवरत चलते-चलते मनुष्य बिना किसी लक्ष्य-सिद्धि के जीवन के दूसरे छोर पर आ लगता है, अभी दिनकर की दृष्टि, साधना के उस स्तर पर नही पहुची है जहा नि.स्पृह निष्काम कर्म ही धर्म बन जाता है, परिणाम और फल की इच्छा जहा नही होती । निम्नलिखित पंक्तियो मे, कर्मचक्र मे फसे, उकताए और थके हुए व्यक्ति के शैथिल्य की ध्वनि मिलती है—

अब सांझ हुई, किरणें समेट
दिनमान छोड़ ससार चला
वह ज्योति तैरती ही जाती,
मै डांड चलाता हार चला ।
'दो डांड और दो डांड लगा'
दो डाड लगाता मै आया,
दो डांड लगी क्या नहीं ? हाय,
जग की सीमा कर पार चला ।[3]

उपर्युक्त पंक्तियों की थकावट, श्रम, हार और पलायन का उत्तर उन्होने कल्पना और यथार्थ के सामजस्य, अह के विस्तार और जीवन जीने के उत्साह द्वारा दिया है। स्वप्नो का अस्तित्व शून्य मे होता है, पृथ्वी पर पैर टिका कर ही आकाश छूने की कल्पना की जा सकती है, दिनकर के दर्शन का यह मूल सूत्र द्वन्द्व गीत मे ही पहली बार स्थापित हुआ है—

जिनको न तटी से प्यार, उन्हें
अम्बर में कब आधार मिला ?
यह कठिन साधना-भूमि, बन्धु !
मिट्टी को किए प्रणाम चलो ।[4]

---

१. द्वन्द्व गीत, पृष्ठ १३
२. वही, पृष्ठ ११
३. वही, पृष्ठ ५४
४. वही, पृष्ठ ५६

पलायन और हार के प्रतिपक्ष मे अहं के विस्तार को खडा करके दिनकर ने मृत्यु पर जीवन की, नाश पर निर्माण की जय घोषित की है। आत्मकेन्द्रित, सकुचित भोगदृष्टि असमर्थ और असहाय की होती है, आत्म-विस्तार और परमार्थ, व्यक्ति को प्रबल शक्ति प्रदान करते हैं। इन्ही भावनाओ की अभि-व्यक्ति निम्नलिखित पक्तियो मे की गई है—

बासुरी विफल, यदि कूक कूक
मरघट मे जीवन ला न सकी,
सूखे तरु को पनपा न सकी,
मर्दों को छेड़ जगा न सकी
यौवन की वह मस्ती कैसी
जिसको अपना ही मोह सदा ?
जो मोल देख ललचा न सकी
दुनिया में आग लगा न सकी।[1]

निम्नलिखित पक्तियो मे जीवन का उत्साह व्यजित है, दुख और सुख, कटु और मधु, त्याग और शौर्य की मिश्रित अनुभूतिया ही जिन्दगी को मादक और आकर्षक बनाती है, जीवन के भावात्मक और अभावात्मक तत्वो के सघर्ष मे ही सच्चे सुख की अनुभूति की जा सकती है—

पी ले विष का भी घूंट बहक,
तब मजा सुरा पीने का है,
तन कर बिजली का वार सहे,
यह गर्व नए सीने का है।
सिर की कीमत का भान हुआ,
तब त्याग कहां, बलिदान कहां ?
गर्दन इज्जत पर दिए चलो तब मजा यहां जीने का है।[2]

'द्वन्द्व गीत' मे दिनकर का कर्मवाद परिपक्व और प्रौढ नही हुआ है। कर्मवाद की स्वीकृति और अभिव्यक्ति बौद्धिक जागरूकता और सुनिश्चित दृष्टि की अपेक्षा रखती है, 'द्वन्द्व गीत' तक दिनकर की काव्य-दृष्टि मूलत. रूमानी है, उनकी प्रतिक्रियाए भावात्मक हैं। विराग और राग दोनो भावात्मक होते हैं इसीलिए विराग पर राग की विजय का अर्थ था केवल भावात्मक सस्थिति और दृष्टिकोण मे परिवर्तन ; परन्तु निवृत्ति और कर्मवाद मे अन्तर केवल

१. द्वन्द्व गीत, पृ० ५७
२. द्वन्द्व गीत, पृ० ५७

भाव की संस्थिति का नही है। निवृत्ति और पलायन, भाव का अभावात्मक पक्ष था, परन्तु कर्मवाद एक सुविचारित, विचारसंपुष्ट गम्भीर जीवन-दर्शन है, पलायन से कर्म की ओर उन्मुख होने की प्रक्रिया विचारमूलक अधिक है, यहा केवल भाव-परिवर्तन से काम नही चल सकता था, बल्कि यहा तो मानसिक सस्थान के मूलाधार मे ही परिवर्तन की अपेक्षा थी। स्नायुओं के तनाव, आक्रोश अथवा अवसाद के स्थान पर बुद्धि-जन्य सन्तुलन और समन्वित विचार-शक्ति की आवश्यकता थी, 'द्वन्द्व गीत' की रचना के समय तक दिनकर हृदय के कवि थे, बुद्धि के नही, अभी वे समस्याओ और प्रतिपाद्यो की अनुभूति करते आए थे, उन पर विचार नही करते थे। विचार की प्रक्रिया तो उन्होने कुरुक्षेत्र मे ही आरम्भ की, जहा वे पूर्ण कर्मवादी कवि के रूप मे प्रतिष्ठित हुए।

आस्था और अनास्था का द्वन्द्व

आस्था और अनास्था का प्रश्न द्वन्द्व गीत में मुख्य रूप से दो विषयो के सम्बन्ध मे उठाया गया है। जीवन-गत आस्था अनास्था तथा ईश्वर-गत आस्था-अनास्था। जीवन-गत आस्था ही प्रवृत्ति या कर्मवाद है और जीवन-गत अनास्था पलायनवाद जिसका विवेचन पहले हो चुका है। अत: प्रस्तुत प्रसंग मे केवल ईश्वर-गत आस्था और अविश्वास के द्वन्द्व का विश्लेषण ही अभीष्ट होगा। अज्ञात के प्रति जिज्ञासा के भाव से इस प्रश्न का आरम्भ होता है, प्रारम्भ मे इसका रूप अत्यन्त सहज और स्वाभाविक है, संसार का नियन्ता और सूत्रधार कौन है यह प्रश्न साधारण से साधारण मनुष्य के हृदय मे उठता है। दिनकर का हृदय व्यक्ति की ससीमता की विवशता का अनुभव करते हुए असीम का रहस्य जानने को आकुल हो उठता है—

देखें तुझे किधर से आकर?
नहीं पन्थ का ज्ञान हमें।
बजती कहीं बांसुरी तेरी,
बस, इतना ही भान हमें।
शिखरों से ऊपर उठने
देती न हाय, लघुता अपनी,
मिट्टी पर झुकने देता है
देव हमें अभिमान नहीं।[1]

अध्यात्म सत्ता के प्रति कवि की जिज्ञासा सन्धान की ओर अग्रसर होती है, उसकी सीमा असीम की खोज मे असफल होकर पूछती है—

१ द्वन्द्व गीत, पृष्ठ ६

सुरभि सुमन के बीच देव,
कैसे भाता व्यवधान तुम्हे ।[1]

इस जिज्ञासा मे प्रच्छन्न एक आस्था है, अलौकिक और नैसर्गिक के प्रति विस्मय है, और यह विस्मय, आस्था पर टिका हुआ है, परन्तु आगे चल कर दिनकर के मन मे इस अव्यक्त विराट सत्ता के प्रति उपालम्भ और आक्रोश ही अधिक है। सृष्टि-निर्माण के दार्शनिक विश्वासो के प्रति एक अनास्था है, संसार के उद्देश्यहीन अस्तित्व के प्रति खीझ है। संस्कार से वे आस्तिक हैं पर अपने तर्कों का उत्तर वे दर्शन से मागते हैं—

था अनस्तित्व सकता समेट
निज में क्या यह विस्तार नहीं ?
भाया न किसे चिर शून्य, बना
जिस दिन था यह संसार नहीं ?
तू राग-मोह से दूर रहा,
फिर किसने यह उत्पात किया ?
हम थे जिसमे, उस ज्योति या कि
तम से था जिसको प्यार नहीं ?[2]

यह द्वन्द्व दिनकर के अपने संस्कार और तर्कबुद्धि का है। संसार का दुःख, दहन और हाहाकार ईश्वर के प्रति उनके विश्वास को भी हिलाता जान पडता है। धरती का भोग केवल पीडा और दुःख है। मानव जीवन की इसी अनिवार्य व्यथा के कारण संसार के निरर्थक मायाजाल की निस्सारता की घोषणा करते हुए मानो भगवान को वे चुनौती और आज्ञा देते है—

तिल तिल हम जल चुके
विरह की तीव्र आंच कुछ मन्द करो,
सहने की अब सामर्थ्य नहीं
लीला-प्रसार यह बन्द करो,
चित्रित भ्रम जाल समेट धरो,
हम खेल खेलते हार चुके,
निर्वापित करो प्रदीप, शून्य में
एक तुम्हीं आनन्द करो।[3]

---

१ द्वन्द्व गीत
२ द्वन्द्व गीत, पृष्ठ ६०
३ वही, पृष्ठ ६६

दिनकर का यही अनास्था की ओर झुकता हुआ, और कर्म के क्षेत्र मे डगमगाता हुआ व्यक्तित्व, कुरुक्षेत्र मे युधिष्ठिर की समस्याए बन कर आता है। 'द्वन्द्व' मे समाधान का अवकाश नही था, और शायद उस समय के दिनकर के भावप्रवण कवि-व्यक्तित्व के पास इसका समाधान था भी नही।

'द्वन्द्व गीत' के इस वैयक्तिक भावनात्मक नैराश्य को द्वितीय विश्वयुद्ध के हाहाकार, त्रास और संहार ने विचारभूमि प्रदान की। सामान्य रूप से तो युद्ध की समस्या अपने-आप मे भयानक होती ही है, दिनकर के लिए उसका एक विशेष त्रास था। 'विपथगा' और 'दिगम्बरि' की आग बरसाने वाला कवि, परिस्थितियो के कारण बन्धन मे पड़ा अपनी वाणी को सरकार की इच्छानुसार ढाल रहा था, इसी विवशता ने युद्ध को दिनकर के जीवन का एक अंग बना दिया था। उनके ऊपर बलात् लादे गए इस कर्तव्य-कर्म ने निवृत्ति को ही उभारा, और युद्ध जैसे प्रश्न को लेकर इस अवसाद का समष्टि-मूलक रूप ग्रहण करना स्वाभाविक था। 'कलिंग-विजय' मे पहली बार दिनकर की प्रचण्ड प्रखरता के अवसान के लक्षण दिखाई दिए। अच्छा हुआ, वह स्थायी नही बना। परन्तु यह प्रतिक्रिया क्रान्ति पर समझौते की अथवा हिंसा पर अहिंसा की विजय नही थी। 'कलिंग-विजय' मे विजयी के मन मे ग्लानि और पश्चाताप का चित्रण करके उन्होने अशोक के व्यक्तित्व मे केवल 'हुकार' के 'समदृष्टि', 'विनीत', 'प्रांशु', 'धीर', 'अमृत कलश वाही', 'धर्म ध्वज धारी', 'महामानव' की प्रतिष्ठा की तथा विजयी की ग्लानि, शक्तिवान की क्षमा की महत्ता ही स्वीकार की। यहा भी अहिंसा केवल साध्य है, साधन की बात उठाई ही नही गई है, इसलिए कलिंग-विजय मे अपने सिद्धान्तो से हटने का आरोप उनके ऊपर नही लगाया जा सकता। अशोक की असहाय करुणा, निर्वेद और क्रियात्मक विवशता केवल इसलिए क्षम्य है कि वह शक्तिवान है, समर्थ है, हारे हुए व्यक्ति द्वारा कही जाने पर ये ही उक्तिया अकर्मण्यता, नैराश्य, कायरता और क्लीवता की द्योतक होती।

कुरुक्षेत्र में व्यक्त समष्टि-चेतना

दिनकर के मानसिक द्वन्द्व के ये ही दोनो पक्ष कुरुक्षेत्र मे युधिष्ठिर और भीष्म के माध्यम से व्यक्त हुए। 'कलिंग-विजय' मे द्वन्द्वग्रस्त निवृत्ति अशोक की करुणा बन कर रह गई थी—कलिंग-विजय के आख्यान मे बौद्ध धर्म की अहिंसा को स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई समाधान नही था। युद्धजन्य-विध्वंस और अव्यवस्था के तात्कालिक समाधान के रूप मे तो अशोक की प्रतिक्रियाओं को स्वीकार किया जा सकता था, परन्तु जीवन के स्थायी समाधान के रूप मे उसे स्वीकार

करना, दिनकर की मान्यताओ के बिल्कुल ही विपरीत था। लेकिन यह कहना गलत होगा कि दिनकर ने युद्ध के प्रश्न को कुरुक्षेत्र मे फिर से केवल अपने मताग्रह की पुष्टि के लिए ही उठाया। कलिंग-विजय मे युद्धान्त पर उस विजय की भावात्मक प्रतिक्रिया का चित्रण था, जिसने अपने द्वारा किए हुए ध्वस का प्रतिकार करुणा से किया। कुरुक्षेत्र के युधिष्ठिर के आसुओ का अथाह सागर उन्हे कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करने मे पूर्णरूप से असमर्थ बना देता है। विजयी होने पर भी वे हारे हुए है, इस प्रकार युधिष्ठिर के निर्वेद और करुणा के द्वारा जीवन की मूलभूत समस्याओ का उद्घाटन मात्र किया गया है और उसी के व्याज से उनके प्रश्नो का समाधान प्रस्तुत किया गया है। निर्वेद और नैराश्य से भरे हुए युधिष्ठिर के पास आसू, उच्छ्वास, ग्लानि और परिताप को छोड कर और कुछ नही है, यदि यह कहे कि दिनकर की द्वन्द्वग्रस्त चेतना को युधिष्ठिर के व्यक्तित्व के माध्यम से पूर्णरूप से खुलने का अवसर मिला है तो भी कोई अत्युक्ति न होगी। युधिष्ठिर के पास कुछ कहने को नही है यहा तक कि भीष्म की हिंसा के विरोध मे अहिंसा का प्रतिनिधित्व भी वह नही करते। आपद्धर्म के रूप मे हिसा के औचित्य और अहिंसा के सार्थक रूप का विवेचन भीष्म द्वारा ही होता है। युधिष्ठिर तो वेदना की उस चरम स्थिति पर पहुच गए है जहा चेतना जड हो जाती है—

भर गया ऐसा हृदय दुख दर्द से,
फेन या बुदबुद नहीं उसमें उठा,
खींच कर उच्छ्वास बोले सिर्फ वे,
पार्थ मै जाता पितामह पास हूं।[1]

कुरुक्षेत्र की भूमिका मे दिनकर ने लिखा है, 'यह तो (कुरुक्षेत्र) अन्तत.,एक साधारण मनुष्य का शकाकुल हृदय ही है जो मस्तिष्क के स्तर पर चढ कर बोल रहा है।' अब प्रश्न यह है कि इस शकाकुल हृदय मे कितना अश आग बरसाने वाले दिनकर का है और कितना नैराश्य के अन्धकार मे डूबते हुए दिनकर का ? अथवा, उनके व्यक्तित्व मे एक तीसरा अश उदय हो रहा है जो उस भयकर आग की ज्वाला को बाध कर उसके ध्वसक तत्व को सृजनात्मक और रचनात्मक रूप देना चाहता है। वास्तव मे कुरुक्षेत्र मे पहली बार दिनकर ने अपनी भावुक प्रतिक्रियाओ पर विचार की लगाम कसी है, पहली बार अपने ऊपर सयम रख कर चिन्तन-मनन का प्रयत्न किया है, और इसी कारण 'कुरुक्षेत्र' पहले की कृतियो की अपेक्षा अधिक गौरवपूर्ण हो उठा है। छायावाद की

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ७ – दिनकर

भूमिका मे दिनकर ने स्वय लिखा है 'सम अवस्था या मध्यम - मार्ग की जैसे सर्वत्र महिमा देखी जाती है, वैसे ही, उसका साहित्य मे भी महत्व है। निरी बुद्धि से कविता नही बनती, किन्तु कोरी भावुकता भी कविता के लिए अपर्याप्त है। अनुभूति के समय भावुकता, किन्तु, रचना के समय बुद्धि का सहयोग, यही वह मार्ग है जिससे ऊचे साहित्य का सृजन हो सकता है।'[१] कुरुक्षेत्र दिनकर का प्रथम विचारात्मक अथवा चिन्तनप्रधान काव्य है जिसमे 'द्वन्द्व गीत' के दिनकर शका उठाते हैं और 'हुकार' के दिनकर शास्त्र और दर्शन का सहारा लेकर उनका समाधान करते है।

बाह्य परिस्थितिया बड़े से बडे व्यक्ति को ऐसी परीक्षा में डाल देती हैं जिससे वह अपने मूल्यो, प्रतिमानो और आदर्शों के विरुद्ध कार्य करने की सशयग्रस्त स्थितियो मे पड़ जाता है। मूल्यो का यह सशोधन उसके व्यक्तित्व और अस्तित्व मात्र को हिला देता है, ऐसी ही द्वन्द्व की स्थिति 'कुरुक्षेत्र' के युधिष्ठिर की है। उनके मन में युद्ध का परिताप है। ध्वंस और विनाश के हृदयद्रावक दृश्यो से विचलित होकर, वे भीष्म पितामह की शरण मे जाते हैं। उस रक्तसिक्त विजय मे उन्हे अपनी हार ही दिखाई पडती है—सैन्य युद्ध का यह भीषण परिणाम उनकी ग्लानि का पहला तर्क उपस्थित करता है—

> जानता कहीं जो परिणाम महाभारत का,
> तन-बल छोड़ मै मनोबल से लड़ता,
> तप से, सहिष्णुता से, त्याग से सुयोधन को,
> जीत, नई नींव इतिहास की मै धरता।[२]

कर्तव्य के नाम पर किया गया युद्ध अनघ है, यह समझने का प्रयास करने पर भी उनका हृदय व्यथा और वेदना से ही भरा है—निराशा और ग्लानि के चरम क्षणो में जीवन से भागने मे ही उन्हे मुक्ति दिखाई देती है। इसी पलायन का उत्तर भीष्म देते हैं अथवा द्वन्द्वग्रस्त दिनकर का उत्तर कर्मयोगी दिनकर देते है जिन्होने अब समस्याओं पर विचार करना आरम्भ कर दिया है। परन्तु यह बात ध्यान में रखने की है कि कुरुक्षेत्र की विचारभूमि 'हुंकार' की भावभूमि पर टिकी हुई है। 'हुकार' की ईंटो की जड़ाई पर विचार का सीमेन्ट लगा कर कुरुक्षेत्र की रचना हुई है। कुरुक्षेत्र मे राष्ट्र का स्थान विश्व ने ले लिया है,

---

१. काव्य की भूमिका, पृष्ठ ३७—दिनकर
२. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ९

और स्वतन्त्रता की लडाई का स्थान विश्वयुद्ध ने, परन्तु शौर्य और सघर्ष-नीति का मूलाधार और आदर्श वही है जो 'हुकार' मे था।

प्रतिपाद्य की दृष्टि से कुरुक्षेत्र का विभाजन आसान नही है क्योकि उसमें विरोधी तत्वो के निराकरण और स्थापना के लिए अनेक विचार-सूत्रो का प्रयोग किया गया है, और, बहुचर्चित काव्य होने के कारण अनेक आलोचको ने इस विषय मे अपनी-अपनी ढपली अपना-अपना राग वाली कहावत चरितार्थ की है। फिर भी उसके तीन मुख्य रूप माने जा सकते है—

१ युधिष्ठिर द्वारा उठाई हुई समस्याए
२. भीष्म द्वारा स्थापित जीवन-दर्शन
३. कथानक से स्वतन्त्र कवि द्वारा स्वीकृत मान्यताए।

१. युधिष्ठिर का पक्ष निवृत्ति और पलायन का द्योतक है। जीवन के उदात्त तत्वो की रक्षा के प्रति जागरूकता के जो भाव उनके द्वारा व्यक्त कराए गए हैं, वे केवल प्रसगवश है और उनके वैयक्तिक आदर्श हैं, जो महाभारत के 'धर्मराज' के व्यक्तित्व के निर्माण मे सहायक होते है। उनके निर्वेद को गाधी दर्शन का प्रतीक नही माना जा सकता, क्योकि दिनकर का, गाधी-नीति की व्यावहारिकता के प्रति चाहे जितना अविश्वास रहा हो, उसकी निर्भयता, अपराजेयता और श्रेष्ठता उन्होने सर्वत्र खुले शब्दो मे स्वीकार की है। युधिष्ठिर का परिताप, उनके आंसू, उनका निर्वेद, इस निर्भय अपराजेयता से जरा दूर पडते है। उनकी उक्तियां करुणा तथा निर्वेद से जड़ व्यक्ति की आकुल उक्तियां है, क्योकि, विलाप मे बुद्धि कम, पागल और विक्षिप्त भावना अधिक होती है। इसीलिए युधिष्ठिर का द्वन्द्व 'द्वन्द्व गीत' के दिनकर के अधिक निकट पड़ता है, जिन्होने मानो अपनी निवृत्ति-भावना को सदा के लिए मिटा देने को ही युधिष्ठिर में उसकी चरम परिणति दिखाई है।

भीष्म द्वारा प्रतिपादित दर्शन

कुरुक्षेत्र के प्रतिपाद्य के विषय मे अनेक प्रकार के मत प्रकट किए है, कोई उसमे अराजकतावाद के तत्व देखता है, किसी को वह प्रगतिवादी रचना जान पडती है, कोई उसमे स्वीकृत हिंसा के कारण उन पर हिंसावादी होने का आरोप करता है। इस मत-वैभिन्न्य को देखते हुए प्रस्तुत विषय का विश्लेषण और भी कठिन हो जाता है। इसलिए, यहा अपनी ओर से कुछ निष्कर्ष न देकर भीष्म की उक्तियो के विश्लेषण द्वारा ही अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है।

युद्धान्त पर युधिष्ठिर की करुणा और परिताप के प्रति भीष्म की प्रथम प्रतिक्रिया ही इस बात की द्योतक है कि वह युधिष्ठिर के हृदय मे जागे हुए, करुणा पर आधृत मानवतावादी आदर्श को समस्त विश्व मे साकार देखना चाहते हैं—युधिष्ठिर के हृदय की विशालता और असीमता की थाह लेते हुए उनकी व्यथा का प्रथम विस्फोट इस प्रकार होता है—

"'हाय नर के भाग !
क्या कभी तू भी तिमिर के पार
उस महत् आदर्श के जग मे सकेगा जाग,
एक नर के प्राण में जो हो उठा साकार है
आज दुख से, खेद से, निर्वेद के आघात से।[1]

भीष्म को अन्धा हिंसावादी करार देने वालो के विरोध मे सब से प्रथम और सबल तर्क उनकी यह उक्ति है जहा वे करुणा और प्रेम के आदर्श को साध्य रूप मे स्वीकार करके तभी आगे बढ़ते हैं।

हुंकार की क्रान्ति और कुरुक्षेत्र के युद्ध की सामान्य पृष्ठभूमि

युद्ध के कारणो का विश्लेषण करते हुए जिन परिस्थितियो को उसके लिए उत्तरदायी सिद्ध किया गया है, उनका मूल हुकार की क्रान्ति विषयक कविताओ मे विद्यमान है। शोषक शासक की स्वार्थ नीति की विषैली सासो से युद्ध की लपटे छूटती हैं तथा विकारो की शिखाए जब व्यापक बन कर समष्टि पर छा जाती हैं तभी युद्ध के वातावरण का निर्माण होता है। 'हुकार' की 'विपथगा' कविता में इसी प्रकार का भाव राष्ट्रीय स्तर पर व्यक्त हुआ है जहा क्रान्ति-कुमारी की पायलो की झनकार तलवारों की झनझनाहट बन कर गूज उठती है। 'हुकार' के राष्ट्रीय युद्ध और कुरुक्षेत्र के विश्वयुद्ध की परिस्थितियों के साम्य का विश्लेषण करने के लिए दोनो ही कृतियो के कुछ समानान्तर उद्धरण देना उचित जान पडता है, यद्यपि उससे प्रस्तुत विषय के कलेवर में अनावश्यक विस्तार हो जाने का भय है—'विपथगा' के जन्म और विकास की परिस्थितियां ये हैं—

पी अपमानों के गरल घूंट शासित जब होठ चबाते हैं,
जिस दिन रह जाता क्रोध मौन, मेरा वह भीषण जन्मलग्न।

* * *

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १३

पौरुष को बेड़ी डाल पाप का अभय रास जब होता है
दुनिया को भूखों मार भूप जब सुखी महल में सोता है
सहती सब कुछ मन मार प्रजा, कसमस करता मेरा यौवन।

* * *

हिम्मत वाले कुछ कहते हैं तब जीभ तराशी जाती है
उल्टी चालें यह देख देश में हैरत सी छा जाती है
भट्ठी की ओदी आंच छिपी तब और अधिक धुंधुवाती है।
कोड़ो की खाकर मार पली पीड़ित की दबी कराहो में,
सोने सी निखर जवान हुई तप कड़े दमन के दाहों में,
मेरे चरणो में खोज रहे भय-कम्पित तीनों लोक शरण।[1]

इन्ही से मिलती-जुलती परिस्थितिया कुरुक्षेत्र के युद्ध की पृष्ठभूमि मे भी हैं, जहा भीष्म अधर्म पर टिकी हुई कृत्रिम शान्ति का विश्लेषण करके युद्ध के विध्वस से विचलित युधिष्ठिर के मन का भार हल्का करना चाहते हैं—

सहते-सहते अनय जहां मर रहा मनुज का मन हो,
समझ कापुरुष अपने को धिक्कार रहा जन-जन हो,
अहंकार के साथ घृणा का जहां द्वन्द्व हो जारी,
ऊपर शान्ति, तलातल में हो छिटक रही चिनगारी
दबे हुए आवेश वहां यदि उबल किसी दिन फूटें
संयम छोड़, काल बन मानव अन्यायी पर टूटें
कहो, कौन दायी होगा उस दारुण जगद्दहन का?
अहंकार या घृणा? कौन दोषी होगा रण का?[2]

पृष्ठभूमि वही है अन्तर केवल इतना ही है कि हुकार की अभिव्यक्ति मे रूमानी कवि का असयमित आक्रोश और विद्रोह है, कुरुक्षेत्र की उक्तियो मे अभिजात कविता का गौरव और मार्दव है, उसमे क्रोधी युवक दिनकर के गर्जन के स्थान पर वयोवृद्ध पितामह की गम्भीरता है।

भीष्म, हुंकार के 'महामानव' के प्रतिरूप

पहले कहा जा चुका है कि 'कल्पना की दिशा' के 'महामानव खण्ड' मे दिनकर ने जिस धर्मध्वजधारी विक्रमादित्य की कल्पना की थी, भीष्म द्वारा प्रतिपादित जीवन-दृष्टि मे उसी का व्यावहारिक आरोपण मिलता है। कुरुक्षेत्र की रचना द्वितीय महायुद्ध के सहार और नाश की प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप

१. हुकार, पृष्ठ ७४-७५
२. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ २३

हुई थी, और उसमे दिनकर का शंकाकुल हृदय मस्तिष्क के स्तर पर चढ़ कर बोला था। उनके शंकाकुल हृदय का प्रतिनिधित्व युधिष्ठिर करते है और मस्तिष्क का भीष्म। कुरुक्षेत्र मे चिन्तन, मनन और विचार प्रधान है इसलिए उसमे व्यक्त काव्य-चेतना के विश्लेषण का अर्थ है उसके विचार-तत्व और दर्शन का विश्लेषण। इस दृष्टि से कुरुक्षेत्र मे व्यक्त दर्शन के दो रूप मिलते हैं। (१) कृति के मुख्य प्रतिपाद्य विषय युद्ध का दर्शन, तथा (२) समग्र रूप से स्थापित सामान्य जीवन-दर्शन। इन्ही दोनो दृष्टियों से कुरुक्षेत्र के दार्शनिक प्रतिपाद्य का विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है।

कुरुक्षेत्र में प्रतिपादित युद्ध-दर्शन

यह कहना अनुचित न होगा कि दिनकर जी हिन्दी के पहले कवि हैं, जिन्होने 'युद्ध' को अपनी कविता का प्रतिपाद्य बनाया, उसके मूल कारणो तथा पक्ष-विपक्ष का विश्लेषण करके उससे उत्पन्न समस्याओ के समाधानो की ओर इंगित किया। द्वितीय महायुद्ध के भीषण सहार, हाहाकार और त्रास ने दिनकर को इस विषय पर सोचने को बाध्य किया। अपनी दुर्बलताओ और परिसीमाओ से लड़ने मे ही मनुष्य सबसे निरीह होता है। पारिवारिक परिस्थितियो की विषमताओ के दबाव से उन्हे युद्ध-प्रचार विभाग मे कार्य करना पड़ा। नियति का व्यंग्य देखिए कि जिस युवा कवि की कृतिया देश के लिए जेल जाने वाले नवयुवको की जेबो मे रहती थी, जिसके सशक्त और ओजपूर्ण स्वर जनता मे क्रान्ति की लहर उत्पन्न कर रहे थे, वही कवि परिस्थितियो के हाथ का खिलौना बन कर युद्ध-प्रचार में योग देने को अपना गला साफ कर रहा था। कुरुक्षेत्र की रचना ही इस बात का प्रमाण है कि दिनकर का मन उन दिनो कितना द्वन्द्व-ग्रस्त रहा होगा। जो भी हो, उन्ही बाह्य परिस्थितियो और मानसिक संघर्षों के फलस्वरूप हिन्दी मे विचारात्मक काव्य की नीव पड़ी और हिन्दी का प्रथम युद्ध-काव्य 'कुरुक्षेत्र' लिखा गया।

कुरुक्षेत्र मे दिनकर जी युद्ध के विषय मे एक नया दृष्टिकोण लेकर आए। भले ही भारतीय और पाश्चात्य धारणाएं पार्श्वभूमि और पृष्ठभूमि के रूप मे हो, लेकिन स्थापनाए और सदेश उनके अपने है और वे इतने व्यावहारिक, सार्वभौम और पूर्ण हैं कि आज जब हमारे देश मे युद्ध के बादल घिरे हुए है, कुरुक्षेत्र की एक-एक उक्ति सार्थक जान पड़ती है।

वर्तमान समस्या : पुराना माध्यम

वर्तमान समस्या के व्याख्यान और समाधान के लिए उन्होंने महाभारत का माध्यम क्यों चुना ? इसके कुछ मुख्य कारण दिखाई देते हैं।

सबसे पहली बात तो यह है, कि द्वितीय महायुद्ध के समय देश पराधीन होने के कारण, भारतीय जनता मे युद्ध के प्रति न तो भावात्मक सहानुभूति थी न बौद्धिक। अग्रेजो की प्रवचक दमन-नीति ने तानाशाही शक्तियो से लड़ने वाली प्रजातन्त्रवादी शक्तियो के विरुद्ध भारत मे विरोधी और विद्रोही वातावरण उत्पन्न कर दिया था। अग्रेज हमारे पहले शत्रु थे। उनकी विजय हमारे मन मे आत्म-गौरव का भाव नही भर सकती थी : हा, उनकी हार से हमे प्रच्छन्न सुख अवश्य मिलता था। हम एक सबल प्रजातन्त्रवादी देश की तानाशाही भोग रहे थे। ऐसी स्थिति मे, युद्ध-काव्य की रचना मे वर्तमान युद्ध की प्रेरणा परोक्ष ही रह सकती थी। दूसरी बात यह है कि दोनो ही विश्व-युद्ध भारत से बाहर सुदूर देशो मे लडे गये। आग की लपटो की आच भारत तक पहुची तो, लेकिन युद्ध की विभीषिका आखो के सामने आती—ऐसी नौबत नही आई। आकाश मे मडराते हुए हवाई जहाज, बम-प्रहारो से ढहते हुए गगन-चुम्बी प्रासाद, अरअराती हुई दीवारे, छतरियो से उतरते हुये हवाबाज़, मशीनगनो और तोपो की गडगड़ाहटो को कवि ने स्वय नही देखा-सुना था—समाचार-पत्रो और रेडियो के विवरणो द्वारा ही उनके विषय मे अनुमान और कल्पना की जा सकती थी। यह परोक्ष सम्पर्क कवि को अभिव्यक्ति का सबल माध्यम प्रदान करने के लिए काफी नही था। इसके विपरीत, लंकाकाड और महाभारत के युद्ध-वर्णन उनके मानस मे संस्कार रूप मे जमे हुये थे। यही कारण है कि दिनकर जी ने निकट वर्तमान की समस्या को सुदूर अतीत के माध्यम से व्यक्त किया। युद्ध-नायको के विषय मे भी यही बात कही जा सकती है—कैसर, हिटलर, मुसोलिनी प्रथम और द्वितीय विश्व-युद्धो मे विश्व-सहार के लिए चाहे जितनी बडी सीमा तक उत्तरदायी रहे हो, लेकिन भारतीय जनता तथा कवि के मानस मे बने, दुर्वृत्तियो के प्रतीक दुर्योधन और रावण के व्यक्तित्वो से अधिक निकट नही आ सकते थे। इसी प्रकार युद्ध के सद्पक्ष के उद्घाटन मे राम और युधिष्ठिर के समकक्ष प्रजातन्त्रवादी सत्ताओ के अग्रणी लायड जार्ज, विल्सन, चर्चिल अथवा रूजवेल्ट को भी नही रखा जा सकता था। इन युद्धों मे सद्असद का निर्णय भी कठिन था, क्योकि दोनो ही महायुद्धो का मूल कारण राजनीतिक और आर्थिक शक्तियो की खीच-तान मात्र था।

युद्ध एक अनिवार्य विकार

'कुरुक्षेत्र' का आरम्भ युद्धान्त पर युधिष्ठिर के हृदय की ग्लानि के चित्रण के साथ होता है। प्रस्तुत प्रसंग मे युधिष्ठिर के निर्वेद का केवल इतना महत्व

है कि उसके ब्याज से ही भीष्म पितामह द्वारा शौर्य की महिमा का व्याख्यान किया गया है तथा युद्ध के अनघत्व की स्थापना की गई है। युद्ध एक तूफान है। जिस प्रकार तूफान अनायास ही नही टूट पडता ; उसी प्रकार मानव समाज मे व्यक्तिगत, राजनीतिक और राष्ट्रीय स्तर पर जो विकारों की शिखाए धीरे-धीरे सुलगती रहती हैं, क्षोभ, घृणा, ईर्ष्या और द्वेष उनको प्रज्ज्वलित करते रहते हैं। वही आग देश-प्रेम अथवा राष्ट्र-प्रेम के ब्याज से युद्धाग्नि के रूप में फैल जाती है। युद्ध का आरम्भ अनय ही करता है। फिर धर्म, नीति तथा नय के मार्ग पर चलने वालो के लिए उसकी चुनौती स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई विकल्प रह नही जाता। शातिप्रेमियो को भी युद्ध की ज्वाला मे कूद पडना पड़ता है; तत्व-चिन्तन, गम्भीर विचार पीछे पड जाते है। युद्ध एक अनिवार्य विकार है और उसका उत्तर युद्ध से ही दिया जा सकता है, क्योकि विषम रोग का उपचार मिष्टान्न नही, तिक्त औषधि है।

> "रुग्ण होना चाहता कोई नहीं
> रोग लेकिन आ गया जब पास हो
> तिक्त औषधि के सिवा उपचार क्या ?
> शमित होगा वह नहीं मिष्टान से।"

युद्ध आपद्धर्म

भीष्म द्वारा हिंसा और युद्ध का प्रतिपादन कराने के कारण दिनकर जी पर हिंसावादी होने का आरोप लगाया जाता है, लेकिन उन्होंने हिंसा अथवा युद्ध को जीवन के साध्य या अन्तिम लक्ष्य के रूप मे कभी नही स्वीकार किया। कोई भी कार्य चाहे वह वैयक्तिक हो अथवा समष्टिगत अपने-आप मे पुण्य या पाप नहीं होता, पुण्य या पाप की कसौटी उस कार्य का लक्ष्य या उद्देश्य होता है। फिर युद्ध तो बिल्कुल ही अपवाद है—

> "क्योंकि कोई कर्म है ऐसा नहीं,
> जो स्वयं ही पुण्य हो या पाप हो,
> औ समर तो और भी अपवाद है,
> चाहता कोई नहीं इसको, मगर,
> जूझना पड़ता सभी को, शत्रु जब
> आ गया हो द्वार पर ललकारता।"

युद्ध के पाप-रूप का भी विश्लेषण उन्होंने किया है। युद्ध के मूल कारण हैं वैयक्तिक और राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न प्रकारों की प्रतियोगिताएं, स्पर्धा और ईर्ष्या तथा राजनीतिक शक्तियो का केन्द्रीकरण। दिनकर जी ने किसी

भी राष्ट्र के लिए सैन्य-शक्ति का संतुलन और उसके प्रयोग की सामर्थ्य को राष्ट्र का आवश्यक अंग माना है। वे कहते हैं—

"सेना-साज हीन है परस्व हरने की वृत्ति,
लोभ की लड़ाई क्षात्र-धर्म के विरुद्ध है;
वासना-विषय से नहीं पुण्य उद्भूत होता,
वाणिज्य के हाथ की कृपाण ही अशुद्ध है;
चोट खा परन्तु, जब सिंह उठता है जाग,
उठता कराल प्रतिशोध हो प्रबुद्ध है;
पुण्य खिलता है चन्द्रहास की विभा में तब,
पौरुष की जागृति कहानी धर्म-युद्ध है।"

स्वत्व, धर्म और सम्मान की रक्षा के लिए जो युद्ध किया जाता है वह पाप नही होता। अत्याचार का प्रतिशोध लेने के लिए उठाई गई तलवार की चमक मे पुण्य खिलता है। अत्याचार सहना पाप है, अन्यायी को अन्याय करने की हिम्मत करने का अवसर देना पाप है—

"छीनता हो स्वत्व कोई और तू त्याग तप से काम ले, यह पाप है।
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे, बढ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।"

देह की लड़ाई देह से

त्याग, तप, करुणा, दया-क्षमा मनुष्य के व्यक्तित्व का परिष्कार करते है, उसे मनुजत्व से देवत्व की ओर ले जाते है; इन्ही की साधना मानव को अभीष्ट है, लेकिन यह केवल व्यक्ति-धर्म है, सामान्य धर्म है। युद्ध की स्थिति अपवाद है, क्योकि आत्मबल मनोबल के सामने नही ठहर सकता—

"कौन केवल आत्मबल से जूझ कर
जीत सकता देह का संग्राम है?
पाशविकता खड्ग जब लेती उठा,
आत्मबल का एक वश चलता नहीं।"

इसी प्रकार हारी हुई जाति की अहिंसा, दया, करुणा और क्षमा का भी कोई अर्थ नही है। पराजित, शोषित और दलित की क्षमा कुलीन जाति का घोर कलक है। पराजित का धर्म है प्रतिशोध, खोए हुए आत्मसम्मान की पुनः प्राप्ति। विवशता की स्थिति मे की गई क्षमा अर्थहीन है, अभिशाप है—

"क्षमा शोभती उस भुजंग को, जिसके पास गरल हो।
उसको क्या जो दंतहीन, विषरहित, विनीत, सरल हो।"

तथा— जेता के विभूषण सहिष्णुता क्षमा है, किन्तु
हारी हुई जाति की सहिष्णुता अभिशाप है।

मन तथा कर्म का तादात्म्य

अधर्म और अन्याय के प्रति एक ही प्रतिक्रिया उचित मानी जा सकती है—उसके निराकरण के लिए दहकते हुए अगारो पर चलना, और बिना किसी तर्क-वितर्क के आक्रमणकारी को मार भगाना। तर्क-वितर्क बुद्धि-जन्य होते हैं। साधारणतः जो विवेक, बुद्धि-ग्राह्य और कल्याणकारी होता है, युद्धकाल मे वही विष बन जाता है। पुण्य और पाप, शान्ति और ध्वस, मान और अपमान में कौन अभीष्ट है—अगर यह द्विधा मन में उत्पन्न हुई, अगर भुजा और मस्तिष्क अलग-अलग चले, तो युद्धकालीन कर्तव्य के पालन मे व्याघात पहुचता है। कुरुक्षेत्र के भीष्म बार-बार युधिष्ठिर को समझाते हैं—

"जहाँ भुजा का एक पंथ हो, अन्य पंथ चिन्तन का,
सम्यक्, रूप नहीं खुलता उस द्वन्द्वग्रस्त जीवन का।
द्विधामूढ़, वह कर्म योग से कैसे कर सकता है?
कैसे हो सन्नद्ध जगत के रण में लड़ सकता है?"

हिंसा, प्रतिशोध, घृणा इत्यादि सभी विकारी भावों को आपद्धर्म के रूप मे न्यायोचित स्वीकार करने पर भी, न युद्ध को दिनकर ने कही साध्य माना है और न हिंसा को। कुरुक्षेत्र के तीनो पात्रो (युधिष्ठिर, भीष्म और स्वयं कवि) का अन्तिम लक्ष्य है—प्रेम और करुणा, दया और क्षमा पर आवृत मानवतावाद। पंचम सर्ग के अन्त में दारुण ऊहापोह और उद्वेलन के बाद युधिष्ठिर के सामने से निराशा और अवसाद का कुहासा मिट जाता है। वे नाश पर निर्माण की नींव रखने के लिए फिर से सन्नद्ध हो जाते हैं। रण-छिन्नलता मे शान्ति-सुधा-फल के फलने का स्वप्न देखते हुए उनके द्वन्द्व की समाप्ति होती है—

कुरुक्षेत्र की धूलि नहीं इति पन्थ की,
मानव ऊपर और चलेगा;
मनु का यह पुत्र निराश नहीं,
नवधर्म-प्रदीप अवश्य जलेगा।[1]

इसी प्रकार भीष्म भी सम्पूर्ण प्रसग में शौर्य, हिंसा, क्रान्ति और युद्ध के औचित्य को सबल और समर्थ शब्दो मे सिद्ध करने के बाद, रण-भीति से मुक्त पृथ्वी की कल्पना, हिंसा और बल-प्रयोग के आधार पर नही मनुष्य के प्रेम, स्नेह, बलिदान और त्याग को मूलभूत तत्व मान कर ही करते हैं—

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ८६

भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगा नहीं जीवन अनीति से,
* * *
स्नेह बलिदान होंगे माप नरता के एक,
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से।[1]

षष्ठ सर्ग का क्षेपक तो कवि ने प्रेम, दया, करुणा और धर्म-दृष्टि की स्थापना के लिए ही लिखा है। उनके अनुसार आज के जीवन-दर्शन की सबसे बड़ी कमी यही है कि आज मस्तिष्क की तुलना मे मनुष्य का हृदय पीछे पड गया है। रसवती भू के मनुज का श्रेय उसके आसू है, प्रणय-वायु है, मानव के लिए समर्पित मानव की आयु है। उसका श्रेय है मनुज का समता-विधायक ज्ञान और स्नेह सिंचित न्याय, पारस्परिक विश्वास, उसका श्रेय है वह मानवता-वाद, वह विश्वबन्धुत्व जो मनुष्य का मनुष्य से उचित सम्बन्ध जोडता है—मानव मात्र के आध्यात्मिक और भौतिक साम्य-स्थापना के लिए ही उनकी सहज गर्जना याचना की नम्रता और असहायता मे परिवर्तित हो गई है—

साम्य की वह रश्मि स्निग्ध उदार,
कब खिलेगी, कब खिलेगी विश्व में भगवान ?
कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त—
हो, सरस होंगे जली-सूखी रसा के प्राण ?[2]

कुरुक्षेत्र में प्रतिपादित सामान्य जीवन-दर्शन

जीवन की अनेक समस्याओ के द्विमुखी और विरोधी पक्षों के साथ-साथ विश्लेषण और प्रतिपादन के कारण 'कुरुक्षेत्र' के विषय मे यह कहा जाता है कि उनकी दृष्टि द्वन्द्वग्रस्त और प्रतिपादन अस्पष्ट है। यह धारणा भ्रामक है। प्रत्युत, सत्य तो यह है कि कुरुक्षेत्र मे आकर उनकी प्रवृत्तिया सतुलित हो गई हैं। उनके मूल्य निर्धारित हो गये है। 'कविता ज्ञान है या आनन्द' नामक लेख मे आई० ए० रिचर्ड्स की जिन मान्यताओ का विश्लेषण दिनकर ने किया है, वे ही कुरुक्षेत्र पर लागू होती हैं। रिचर्ड्स के अनुसार 'कविता का महत्व ज्ञान-दान को लेकर नही मूल्यो को लेकर है। मनुष्य के भीतर अनेक प्रवृत्तियां चलती रहती हैं। ये सभी प्रवृत्तिया भूखी होती हैं और सबकी सब सतुलन खोजती हैं। अनुभूतिया, वे श्रेष्ठ हैं जो सख्या मे कम से कम प्रवृत्तियो को विफल करके अधिक से अधिक प्रवृत्तियो की तृषा को पूर्ण कर दे,

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १४६
२. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ६६

उनके भीतर पारस्परिक संतुलन बिठा दें। कविता मनुष्य की चेतना मे जो सुगबुगाहट उत्पन्न करती है उसका मूल्य इस बात पर निर्भर करता है कि यह सुगबुगाहट मनुष्य में कहा तक औदार्य की वृद्धि करती है, मनुष्य भीतर ही भीतर कहां तक प्रसार पाता है।[1] यह औदार्य और प्रसार हृदय के उद्वेलन और द्वन्द्व से होता है विचारक कवि की कविता में भी भावना ही प्रधान रहती है। यदि भावना पर विचार हावी हो जाता है तो कवि कलाकार न रह कर शास्त्रविज्ञ उपदेशक अथवा ज्ञानी बन जाता है। विचारप्रधान कविता की सृजनप्रक्रिया में दो शक्तिया साथ-साथ काम करती हैं। तर्कों से बधे गति-हीन अथवा शिथिल-गति विचार को मानसिक प्रवृत्तियों से चंचल गतिशील भावनायें सजीव बनाती हैं, बुद्धि की स्थिरता, भावनाओ की द्रवणशीलता मे बंध कर हृदय का अंग बन जाती हैं, तभी विचारक कवि, कलाकार के रूप मे अपने दायित्व का निर्वाह करने मे समर्थ होता है। कुरुक्षेत्र मे बुद्धिजन्य विचार और प्रवृत्तिजन्य राग का यह सघर्ष आरम्भ से अन्त तक विद्यमान है, इसलिये अनेक स्थलों पर विरोधाभास का भ्रम होने लगता है, जबकि वास्तव में सत्य यह है कि कुरुक्षेत्र मे, विचार दिशा-निर्देश करते हैं और दिनकर की भावनायें उन्हे गति प्रदान करती हैं। मानसिक प्रवृत्तियों के बीच सतुलन और सामजस्य की इस प्रक्रिया के कारण विरोधी तत्वों का समावेश कुरुक्षेत्र मे अनिवार्य और अवश्यम्भावी हो गया है।

इसके अतिरिक्त एक बात और ध्यान में रखने की है। विचारप्रधान कविता में विरोध-तत्व का समाविष्ट हो जाना स्वाभाविक और सहज है, क्योंकि भावप्रधान कविता की भाति उसमे कवि दर्शक अथवा आश्रय मात्र न होकर विचारक और द्रष्टा होता है, इसीलिए 'कुरुक्षेत्र' जैसी विचारप्रधान कविता को जब रस के शिकजे पर चढ़ाया जाता है तो रस-सिद्धान्त मे निहित सार्वभौम तत्वों पर विश्वास और आस्था रखते हुये भी मेरे मस्तिष्क मे बडे-बड़े प्रश्नचिह्न बन जाते हैं।

यह तो हुई विचारप्रधान कविता में विरोधी तत्वों के अस्तित्व के औचित्य की बात। कुरुक्षेत्र की द्वन्द्वग्रस्त जीवन-दृष्टि के प्रश्न पर निर्भ्रान्त और स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि यहां आकर दिनकर का द्वन्द्व सदैव के लिए समाप्त हो गया है। अभी तक जीवन के विभिन्न प्रश्नो और समस्याओ के प्रति जो विरोधी दृष्टिकोण उनके सामने चले आ रहे थे, कुरुक्षेत्र में उनके

---

१. काव्य की भूमिका, पृष्ठ ११५—दिनकर

सत्यासत्य का निर्णय हो गया है। मरण और जीवन, नाश और निर्माण मे से सत्य कौन है, असत्य कौन ? प्रवृत्ति और निवृत्ति मे कौन धर्म है, कौन अधर्म, ससार नित्य है अथवा अनित्य, सुन्दरता सत्य है अथवा उसके भीतर छिपी हुई कुरूपता, कलिका का मुरझाना सत्य है अथवा विकास ? इत्यादि प्रश्न दिनकर के मन मे दीर्घकाल से चले आ रहे थे। जैसे प्रौढ होकर व्यक्ति अपने हृदय के उद्वेलनो का शमन दर्शन और आध्यात्मिकता से करता है वैसे ही जीवन की विविध विषमताओ और विरोधी परिस्थितियो से उत्पन्न अवसाद और उद्वेलन, समस्याओ और प्रश्नो का समाधान दिनकर ने कुरुक्षेत्र मे पाश्चात्य और भारतीय दर्शन के सार तत्वो को ग्रहण करके किया है। ऐसी स्थिति मे इस कृति की मूल चेतना को द्वन्द्वग्रस्त मानकर उसके आधार पर उसके कवि को 'द्वन्द्व का कवि' सिद्ध करना अनुपयुक्त है। 'कुरुक्षेत्र' की काव्य-चेतना का सम्यक् विश्लेषण हम उसके पूर्ववर्ती काव्य के परिपार्श्व मे रख कर ही कर सकते हैं, और ऐसा करने पर कुरुक्षेत्र मे आकर 'रेणुका' और 'द्वन्द्व गीत' की समस्याओ का स्वस्थ समाधान मिलता है, हुकार की भावप्रधान समष्टि-चेतना दर्शन से सम्पुष्ट होकर स्थायी हो जाती है। हिंसा और अहिंसा का कितना अश साध्य है कितना त्याज्य, इनमे से कौन साध्य है, कौन साधन, इस विषय मे भी कवि की दृष्टि निर्भ्रान्त और स्पष्ट हो जाती है। दिनकर के मन मे उठी हुई प्राय. हर शका का स्वस्थ और सतुलित समाधान होता है, हर क्षेत्र की समस्या अभाव से भाव की ओर मुड कर कवि की दृष्टि को आशावादी बनाती है। युद्ध-दर्शन के प्रसग मे हिंसा और अहिंसा, व्यक्ति-धर्म और समष्टि-धर्म, इत्यादि प्रश्नो पर विचार किया जा चुका है। युद्ध से इतर व्यापक क्षेत्रो मे कुरुक्षेत्र के दर्शन की दो मुख्य प्रवृत्तिया हैं—

(१) भावमूलक तत्वो की अभावमूलक तत्वो पर विजय।

(२) जीवन के विभिन्न विरोधी तत्वो मे सामजस्य।

अभावमूलक तत्वों पर भावमूलक तत्वों की विजय

पाप पर पुण्य की विजय : कुरुक्षेत्र के प्रथम पाच सर्गों मे युद्ध की पृष्ठभूमि प्रधान है। अतएव, उसमें विवेचित प्रश्नो का मुख्य सम्बन्ध युद्ध-विषयक विभिन्न प्रश्नो को लेकर ही है। भीष्म की अनेक उक्तियो मे कहीं-कही जीवन-दर्शन के व्यापक सिद्धान्त सकलित अवश्य हो गए है, लेकिन मुख्य रूप से जीवन का विश्लेषण और जीवनगत सत्यो का निर्धारण सप्तम सर्ग में ही हुआ है। पंचम सर्ग के अन्त मे युधिष्ठिर 'रागानल' के बीच तप कर कुन्दन हो चुके है, पाप की ग्लानि का अंधकार मिट चुका है, आत्मा की किरण उसके

तिमिर पर विजय प्राप्त कर चुकी है, और दीर्घकाल से चला आता हुआ दिनकर के मन का द्वन्द्व भी समाप्त हो गया है, उनकी समस्या का भी समाधान हो गया है। परिस्थितियो की विवशता के अन्धकार मे से उन्हे कर्तव्य का आलोक दृष्टिगत हो गया है। अपराध और पाप से उत्पन्न हीन भावना और ग्लानि मिट गई है। पाप पर पुण्य की विजय घोषित करते हुए वे उस मानव की जय बोलते हैं जो पाप के गहन गर्त मे गिर कर फिर उठ खडा होता है और आलोक के मार्ग पर अग्रसर होता है। पाप और पुण्य जीवन के दो मार्ग हैं। मनुष्य का भाग्य है कि उसे इन दोनो पर ही चलना पड़ता है। पाप और दुःख भोग कर ही उसे पुण्य के सुख की उपलब्धि होती है। मानव-जीवन का यह सत्य है। सप्तम सर्ग के आरम्भ मे ही अघ के गहन गर्त मे गिरे हुए मानव की जय बोलते हुए दिनकर कहते हैं—

जय हो, अघ के गहन गर्त में गिरे हुए मानव को
मनु के सरल अबोध पुत्र को, पुरुष ज्योति-सम्भव को।
हार मान हो गई न जिसकी किरण तिमिर की दासी,
न्योछावर उस एक पुरुष पर कोटि-कोटि सन्यासी।[१]

जीवन का नियम है अन्धकार के बाद आलोक की प्राप्ति। भौतिकता-जन्य दुःखो और उद्वेगो के उपरान्त ही आत्मा का आलोक प्राप्त होता है। रजनी के बाद ही ऊषा का आगमन होता है। पृथ्वी के हर व्यक्ति के वस्त्र वैतरणी के जल से मलिन हैं। आरम्भ से लेकर अन्त तक किसी का पथ उज्ज्वल नहीं रहता। मनुष्य का मार्ग पुण्य के शिखरो और पाप के गर्तों से पूरित है, दोनो का सामना करते हुए वह उठता-गिरता आगे बढ़ता है। कभी गलत पैर पडने से वह गर्त में फंस जाता है, परन्तु फिर धूल झाड कर आश्वस्त होकर और सम्हल कर वह सामने की ऊंचाइयों की ओर बढता है, पाप पर पुण्य की विजय की आशा और आकांक्षा ही उसे आगे की ओर बढ़ाए लिए जा रही है। जब तक यह पुण्य-बल है इस पुण्य का विश्वास है तब तक मनुष्य हार नही सकता—

जब तक है अवशिष्ट पुण्य-बल की नर में अभिलाषा,
तब तक है अक्षुण्ण मनुज में मानवता की आशा।[२]

'द्वन्द्व गीत' के पाप से भयभीत, जीवन और जगत की नश्वरता से सहमे हुए दिनकर को जीवन के इस सत्य पर विश्वास हो गया है कि—

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ९७
२. वही, पृष्ठ ९८

मही नहीं जीवित है मिट्टी से डरने वालों से,
जीवित है वह उसे फूंक सोना करने वालों से।
ज्वलित देख पंचाग्नि, जगत से निकल भागता योगी,
धुनी बना कर उसे तापता अनासक्त रसभोगी।[1]

भाग्यवाद पर कर्मवाद की विजय

बात-बात पर ईश्वर की कृपा की याचना करने वाले, हर समस्या को लेकर भाग्य का रोना रोने वाले उदयकालीन दिनकर मे अब प्रचण्ड विश्वास की किरणें फूट पडी है। उनमे मध्याह्न के सूर्य की प्रखरता और शक्ति आ गई है, मनुष्य की शक्ति पर उनका विश्वास दृढ हो गया है। मनुष्य की कर्मशक्ति और प्रज्ञा अब उन्हे दुर्लभ से दुर्लभ अभीष्ट की प्राप्ति मे समर्थ जान पडती है। भाग्यवाद पर कर्मवाद की विजय की स्थापना करते हुए वे कहते है—

भाग्यवाद आवरण पाप का
और शस्त्र शोषण का,
जिससे रखता दबा एक जन
भाग दूसरे जन का।[2]

* * *

ब्रह्मा का अभिलेख पढ़ा—
करते निरुद्यमी प्राणी,
धोते वीर कु-अंक भाल का
बहा भ्रुवों से पानी।[3]

निवृत्ति पर प्रवृत्ति की विजय

ग्लानि और पश्चाताप के आसुओ से धुल कर युधिष्ठिर के अधीर हृदय को आशा की एक किरण प्राप्त हुई। वह आशा जो पुण्य और पाप दोनो वृन्तो पर खिलती है; जो इसका रहस्य पा लेता है वही मानव-समाज का हितैषी, धर्म का प्रणेता और अग्रणी होता है। विरागी युधिष्ठिर को धर्मक्षेत्र में प्रत्यागत पाकर भीष्म निवृत्ति और विराग का खण्डन करते हुये जीवन की समस्याओ और यथार्थवादी समाधान मे ही धर्म के सच्चे रूप की स्थापना करते हैं। सन्यास मन की कायरता है, जीवन से पलायन है, मनुष्य का सच्चा धर्म है जीवन की उलझी हुई गुत्थियो को सुलझाना—मानवो के लिए समर्पित

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ९७
२. वही, पृष्ठ १०७
३. वही, पृष्ठ १०६

हो जाने में ही मानव की सार्थकता है। निवृत्ति का मार्ग वैयक्तिक मोक्ष का मार्ग है, परन्तु वैयक्तिक मोक्ष धर्म नही है समष्टि के लिए मोक्ष-दान की अनवरत चेष्टा ही धर्म का सच्चा स्वरूप है। यतीधर्म जीवन से पलायन का नाम है। मनुष्य जीवन के तिक्त और कटु अंश से बचता है, केवल मधुर का ग्रहण करना चाहता है, अपनी इच्छाओ और कामनाओ के विपरीत परिस्थितिया उसकी आंखो मे आसू भर देती हैं; लेकिन जीवन मे सफलता और असफलता सदैव अपनी इच्छानुसार नही प्राप्त हो सकती।—जीवन एक अरण्य है, जो चाहे अपने कर्मबल और शक्ति से अपने लिए राह बना सकता है, जीवन की समस्याओ से डरने और सहमने वाले उन पर विजय नही पा सकते बल्कि जिस व्यक्ति मे पैर टिकाकर सघर्षों का सामना करने की शक्ति होती है जीवन उसका होता है। जीवन-पयोधि की सतह का जल पीने वालो का मुंह खारा ही रहता है, परन्तु जिसकी भुजाओ मे उसे मथने की शक्ति है, वह उसकी सुधा का पान कर सकता है। कर्म से भागने वाला, सघर्षों से मुख मोडने वाला व्यक्ति उस मूर्ख के समान है जो वृक्ष की शिखा पर चढ़े बिना सुधाफल प्राप्त करना चाहता है, बिना मन्दर उठाए अमृत रस पीना चाहता है। जीवन के संघर्षों का सामना करने मे असमर्थ व्यक्ति ही उसे स्वाद और रसविहीन कह कर छोड़ देता है। उसकी जीवन-शक्ति समाप्त हो जाती है और कल्पना-लोक मे महल बना कर वह अलभ्य का सपना देखने लगता है—वह केवल मधुर और कोमल तत्वों की कामना करता है। केवल फूलो की इच्छा करता है। कर्म रज से भरे व्योम-खण्ड से दूर सतत प्रफुल्ल वाटिका मे अपना आवास बनाना चाहता है। परन्तु यह मार्ग, मनुष्य का मार्ग नही है। मनुष्य कोरी कल्पना और चिन्तन के देश मे नही रह सकता, वह आकाशगामी होने का स्वप्न नहीं देख सकता। उसके लिए आकाश का मार्ग पृथ्वी पर से होकर जाता है। विरक्ति मनुष्य को अकर्मण्य और निष्क्रिय बनाती है, असत्य मे सत्य की प्रतिष्ठा करती है। जीवन की गति को मृत्यु और कर्म की जागरूकता को माया के अन्धकार का नाम देती है। अनस्तित्व को सत्ता, और हार को ही उपलब्धि के रूप में प्रतिष्ठित करती है। इसी निवृत्ति-भावना का निराकरण करते हुये भीष्म कहते हैं—

दीपक का निर्वाण बड़ा कुछ,
श्रेय नहीं जीवन का
है सद्धर्म दीप्त रख उसको
हरना तिमिर भुवन का[1]

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १२८

अनासक्त रसभोगी मिट्टी पर खडा होकर हँसता है और दिवास्वप्नो के ससार मे विचरण करते हुए निवृत्तिवादी के पास आसू और निराशा के अतिरिक्त और कुछ नही होता। कर्मयोगी भूमि का पक झेलता त्रिविध ताप को सहता, अन्धकार और आलोक का अनुभव करता अपना मार्ग बनाता है, मिट्टी की महिमा गाता हुआ, ससार को पहले से कुछ और सुन्दर बना कर जाता है। दूसरी ओर अकर्मण्य व्यक्ति निर्यान अम्बुधि मे भटकता रहता है। वह दृश्य पर अविश्वास और अदृश्य पर विश्वास करता है, कर्मक्षेत्र उसके लिए माया और कर्महीन दिवास्वप्न सत्य है। जीवन के प्रति यह अनास्था उसके सत्य रूप का उद्‌घाटन नही कर सकती। ज्ञानमयी निवृत्ति से न द्विधा मिट सकती है और न जगत को छोड देने से मन की तृष्णा बुझ सकती है। आत्मा के सन्तोष का मार्ग आत्म-हनन नही उन्नयन है—उन्नयन भी काल्पनिक भगवान के प्रति नही, समाज के प्रति, मानव के प्रति, विश्व के प्रति।

जीवन की मृत्यु पर विजय

कलियों के मुरझाने को ही जीवन की अन्तिम परिणति मानने वाले दिनकर की दृष्टि अब बिल्कुल ही बदल गई है। पच्चीस वर्ष की अवस्था मे अपनी मृत्यु की कल्पना करने वाले कवि की कुठा ने अब जीवन मे पूर्ण विश्वास और आस्था का रूप ले लिया है। जीवन की नित्यता उसे सत्य जान पड़ती है, सृष्टि के अनवरत और अथक क्रम मे उसे अमरता के तत्व दिखाई पडते है—

पर निर्विघ्न सरणि जग की
तब भी चलती रहती है,
एक शिखा ले भार अपर का
जलती ही रहती है।
झड़ जाते है कुसुम जीर्ण दल
नये फूल खिलते हैं,
रुक जाते कुछ, दल में फिर
कुछ नये पथिक मिलते हैं।[1]

यतीधर्म का खण्डन करते हुये भी मरण पर जीवन की विजय का प्रतिपादन किया गया है, अकर्मण्य ज्ञानी, रो-रो कर अमर नही हो जाता, और कर्म का भार ढोने के कारण किसी व्यक्ति की आयु कम नही हो जाती। जिस व्यक्ति के मन पर हर समय नश्वरता का धुआं छाया रहता है, मृत्यु के अतिरिक्त

---

१ कुरुक्षेत्र, पृ० १३२

जिसे और कुछ नही दिखाई देता, वह जगत के रण मे सन्नद्ध होकर लडने मे असमर्थ रहता है—जीवन की उपेक्षा और मरण के चिन्तन से व्यक्ति अकर्मण्य हो जाता है—

तिरस्कार कर वर्तमान
जीवन के उद्वेलन का,
करता रहता ध्यान अहर्निश
जो विद्रूप मरण का।
अकर्मण्य वह पुरुष काम,
किसके, कब आ सकता है?
मिट्टी पर कैसे वह कोई
कुसुम खिला सकता है।[1]

तृष्णा को जीतने के प्रयत्न में निवृत्तिमार्गी यती बन जाता है, कर्मयोगी उसे अपने संयम और उन्नयन से जग मे रह कर ही वश में करता है। असंख्य मनुष्यों को अपना बना कर उनके दुःख और सुख मे समभागी होकर, पगु को अपनी बाँहों का सहारा देकर, दुर्बल-दरिद्र का बोझ उठा देने पर जिस आत्म-सुख की प्राप्ति होती है, तृष्णा के शमन और उन्नयन का सच्चा तथा सही मार्ग वही है। इस प्रकार कुरुक्षेत्र में 'रेणुका' और 'द्वन्द्व गीत' के दिनकर की अनेक रुग्ण और असंतुलित भावनाओ और विचारों का मूलोच्छेदन हो गया है। मृत्यु पर जीवन, भाग्य पर कर्म, पाप पर पुण्य के विजय की यह कहानी दिनकर के मानसिक संतुलन और स्वास्थ्यलाभ की कहानी है। नश्वरता और क्षणभगुरता के कोमलतम उपमान भी अब उनके सामने जीवन की स्वस्थ और आकर्षक परिभाषा उपस्थित करते हैं—

फूलों पर आँसू के मोती
और अश्रु में आशा,
मिट्टी के जीवन की छोटी,
नपी तुली परिभाषा।[2]

वैयक्तिक भोगवाद पर समष्टि-हित की विजय

सप्तम सर्ग मे दिनकर की उक्तियो के आधार पर उन्हे मार्क्सवादी और प्रगतिवादी घोषित किया जाता रहा है, लेकिन यह एक याद रखने की बात

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १३१
२. वही, पृष्ठ १४५

है कि 'साम्य' शब्द का सम्बन्ध केवल मार्क्सवाद से नही है। मार्क्सवाद मे प्रतिपादित साम्य को दिनकर ने सदैव अधूरा माना है। कुरुक्षेत्र मे प्रतिपादित साम्य का आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद नही है। शोषक के प्रति घृणा, शोषित के प्रति सहानुभूति उस मानवतावादी पृष्ठभूमि मे व्यक्त की गई है जिसमे आध्यात्मिक और भौतिक दोनो प्रकार के साम्य का सतुलन और सामजस्य है। अगर करुणा, दया, क्षमा, सत्य, अहिसा पर आधृत मानवतावाद को कुरुक्षेत्र का साध्य मान ले तो वह गाधी के बहुत निकट और मार्क्स से बहुत दूर पडता है। 'कुरुक्षेत्र' के प्रतिपाद्य की व्यापकता मे अनेक ऐसे प्रश्न अन्तर्भूत है, जो जीवन के भौतिक पक्ष से सम्बन्ध रखते हैं जैसे साम्राज्यवाद का विरोध, वर्गवैषम्य का खण्डन, राजनीतिक भ्रष्टाचार इत्यादि। लेकिन न तो इनका निरूपण मार्क्सवादी सिद्धान्तो के अनुसार हुआ है और न दिनकर के समाधान भौतिकवादी है। वर्गवैषम्य के प्रति उनका आक्रोश और उसके उच्छेदन के लिए हिसात्मक मार्ग की स्वीकृति भारतीय राष्ट्रीय सघर्ष के वातावरण मे पल्लवित हुई है। क्रान्ति का मार्ग उन्होने पहली बार नही अपनाया है। वैयक्तिक भोगवाद की प्रेरणा से शक्ति का केन्द्रीकरण होता है, और शक्ति के केन्द्रीकरण से समाज मे वर्गवैषम्य को सवर्द्धन मिलता है, दिनकर के पास इस वर्गवैषम्य का एक ही उपचार है :

> **रण रोकना है तो उखाड विषदन्त फेंको**
> **वृक-व्याघ्र-भीति से मही को मुक्त कर दो;**
> **अथवा अजा के छागलों को भी बनाओ व्याघ्र,**
> **दातों मे कराल काल-कूट विष भर दो,**
> **वट की विशालता के नीचे जो अनेक वृक्ष**
> **ठिठुर रहे है उन्हें फैलने का वर दो**
> **रस सोखता है जो मही का भीमकाय वृक्ष,**
> **उसकी शिरायें तोड़ो, डालिया कतर दो।**[1]

हिसात्मक क्रान्ति की यह प्रेरणा रूसी साम्यवादी व्यवस्था से नही बल्कि भारतीय राजनीति क्षेत्र के उन व्यक्तियो और सस्थाओ से ग्रहण की गई है जो गाधीयुग मे भी हिसा और आतकवादी नीति का अनुसरण कर रहे थे। 'कुरुक्षेत्र' की क्रान्ति 'रेणुका' की क्रान्ति नही रह गई है उसमे उत्तेजना कम उत्साह अधिक है।

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १०२

वैयक्तिक भोगवाद के खण्डन और समष्टि हित-दृष्टि की स्थापना कुरुक्षेत्र में कई बार की गई है—

उसे मूल नर फंसा परस्पर
की शंका मे, भय में,
निरत हुआ केवल अपने ही
हेतु भोग-संचय मे
इस वैयक्तिक भोगवाद से
फूटी विष की धारा,
तड़प रहा जिसमे पड कर,
मानव समाज यह सारा।[1]

* * *

तज समष्टि को व्यष्टि चली थी
निज को सुखी बनाने,
गिरी गहन दासत्व गर्त के
बीच स्वय अनजाने।[2]

समष्टि-चिन्तन के साम्य के साथ-साथ बाह्य अथवा भौतिक साम्य को सम्यक् रूप मे महत्व दिया गया है। भौतिक साम्य के इसी प्रतिपादन के आधार पर दिनकर को कभी-कभी प्रगतिवादी सिद्ध किया जाता रहा है। परन्तु भीष्म में हमारे पौराणिक विश्वास तथा आध्यात्मिकता के साथ भौतिक तत्वो के समन्वय के कारण उसमें अविश्वसनीयता का दोष नही आने पाता। यही नहीं भीष्म के मुख से प्रतिपादित किये जाने के कारण भौतिकवाद की एकागिता अधूरेपन के स्थान पर उसमे सार्वभौमता और व्यापकता का समावेश हो गया है। प्रत्येक व्यक्ति को जीने का अधिकार है। भूमि किसी की क्रीतदासी नही है, मिट्टी के रस, मुक्त प्रकाश, खुली हवा पर सबका समान अधिकार है। हर व्यक्ति को अपने विकास के लिए खुला आकाश चाहिये। परन्तु वास्तविकता यह है कि सामाजिक और आर्थिक वैषम्य मानवता के विकास में पर्वत के समान अड़े हुए हैं—इनके निराकरण मे ही दिनकर मानवता की मुक्ति की कल्पना करते है—

न्यायोचित सुख सुलभ नही, जब तक मानव मानव को,
चैन कहां धरती पर तब तक, शान्ति कहा इस मन को?

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १०४
२. वही, पृष्ठ ११४

जब तक मनुज मनुज का यह, सुख-भाग नही सम होगा,
शमित न होगा कोलाहल, संघर्ष नहीं कम होगा ।[1]

समष्टि-हित की स्थापना के साथ ही दिनकर ने श्रम की मर्यादा और महत्व की स्वीकृति पर भी विशेष बल दिया है। भाग्यवाद मे मनुष्य के शोषण के तत्व निहित है। वह पाप का आवरण है, मनुष्य का भाग्य है, उसका श्रम ही उसकी शक्ति है—

नर समाज का भाग्य एक है,
वह श्रम वह भुज-बल है;
जिसके सम्मुख झुकी हुई—
पृथ्वी, विनीत नभ-तल है,
जिसने श्रम-जल दिया उसे
पीछे मत रह जाने दो,
विजित प्रकृति से सबसे पहले
उसको सुख पाने दो ?[2]

परन्तु व्यक्ति या समष्टि किसी भी स्तर पर दिनकर की दृष्टि भौतिकवाद की एकागिता को लेकर नही चली है, इस प्रकार की उक्तियो के आधार पर उन्हे साम्यवादी नही घोषित किया जा सकता, यह दृष्टि तो उनके समग्र और व्यापक दर्शन की एक इकाई मात्र है। मानव की एकता की स्थापना का स्वप्न उन्होने निष्काम कर्म की पृष्ठभूमि मे समष्टि के प्रति कामनाओ के उन्नयन मे देखा है। उनकी समष्टि साधना के दो रूप है—शक्ति का विकेन्द्रीकरण और उसका समान वितरण तथा वैयक्तिक भोगवाद के स्थान पर समष्टि-हित समन्वित कर्मवाद की स्थापना। इसके उदाहरण रूप मे ये पक्तिया ली जा सकती है—

और सिखाओ भोगवाद की यही रीति जन-जन को
करें विलीन देह को मन मे, नही देह मे मन को ।[3]

जीवन के विरोधी तत्वों में सामंजस्य की स्थापना

मानव-मन प्रवृत्तियो का जाल है। अनेक विरोधी प्रवृत्तिया एक साथ अथवा अलग-अलग उठ कर उसके मार्ग मे उलझनें उत्पन्न करती है। एक ही समस्या के विभिन्न पहलुओं मे फस कर वह एक निर्णय लेने मे असमर्थ रहता

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १०१
२ कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १०८
३. वही, पृष्ठ १४१

है। फिर जब समस्या एक साधारण व्यक्ति अथवा साधारण जीवन की न हो कर विश्वजनीन और सार्वजनीन हो तब तो उसका रूप और भी जटिल और ग्रन्थिल हो जाता है। 'कुरुक्षेत्र' मे ऐसी ही विरोधी प्रवृत्तियो की अनेक बार टक्कर हुई है, और कवि ने अनेक बार एक की विजय और दूसरी के निराकरण में समाधान न देकर दोनो के सामजस्य और समन्वय द्वारा स्थितियो को सुलझाया है। कहीं देहबल और मनोबल के प्रयोग का प्रश्न उठा है; कही शौर्य और करुणा मे कौन ग्राह्य है, इस प्रश्न पर कवि की दृष्टि अटकी है। इसी प्रकार कल्पना और यथार्थ, विज्ञान और कला, मस्तिष्क और हृदय, साम्यवाद और शक्ति के केन्द्रीकरण मे तुलनात्मक श्रेष्ठता का प्रश्न उठने पर कवि ने दोनो विरोधी पक्षों के समन्वय में ही स्थिति के आदर्श रूप की कल्पना की है।

आध्यात्मिक और शारीरिक शक्ति का संतुलन

दिनकर का दर्शन पृथ्वी का सहारा नही छोडता। काल्पनिक आदर्श के मोह मे वे पृथ्वी से पैर उठा कर आकाश मे नही उडते। बल्कि आकाश की ऊंचाई पर पहुंच कर भी धरती का आधार लिये रहते है। इसलिये कुरुक्षेत्र के दर्शन का क्रियात्मक पक्ष बडा सबल है। पुरुष के पूर्ण व्यक्तित्व की कल्पना वह ओज और करुणा, आध्यात्मिक बल और शारीरिक बल के समन्वय मे करते है। मन.शक्ति और पौरुष, क्षमा और शौर्य, दया और दर्प जैसे विरोधी गुण एक दूसरे के पूरक हैं, एक के बिना दूसरा अधूरा है—

सच पूछो तो, शर में ही बसती है दीप्ति विजय की।
सन्धि वचन संपूज्य उसीका, जिसमें शक्ति विजय की।
सहनशीलता, क्षमा दया को तभी पूजता जग है,
बल का दर्प चमकता उसके पीछे जब जगमग है।[1]

दिनकर की इन मान्यताओ के मूल मे उनके युग की वे विरोधी शक्तिया है जो भारतीय राजनीति मे एक दूसरे से टक्कर ले रही थी। गाधी की राजनीति में आध्यात्मिकता की मात्रा इतनी अधिक थी कि कभी-कभी उस युग के युवको और उग्रता में विश्वास करने वाले अन्य वर्ग के लोगों को उसके प्रति खीझ होती थी। 'हुंकार' और 'कुरुक्षेत्र' से पहले लिखे गए 'सामधेनी' के गीतो मे दिनकर उसके विरुद्ध आवाज उठाते आ रहे थे, परन्तु कुरुक्षेत्र में आकर उन्होने दोनो के बीच समन्वय का मार्ग स्वीकार कर लिया है, और व्यक्ति तथा समष्टि

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ २६

दोनो ही स्तरो पर उदात्त की साधना के लिए शारीरिक शक्ति को साधन रूप मे अनिवार्य माना है।

स्नेह और धर्म का समन्वय

राग और विवेक का द्वन्द्व मनुष्य के जीवन की सबसे बडी समस्या होती है। हृदय चाहता है वह करना जो इसे अच्छा लगता है, और मस्तिष्क उसके सामने मर्यादा तथा कर्तव्य के बन्धन फैला कर उससे वह करवाना चाहता है जो करना चाहिए। कामनाओ के मूल मे प्रवृत्तिया होती है, आदर्श के मूल मे विवेक। अपने वैयक्तिक और सामाजिक दायित्वो के निर्णय मे इन्ही दोनो तथ्यो का मूल्याकन मनुष्य को करना पडता है, जब कभी इसमे गलती होती है, व्यक्ति अपने अभीष्ट से, आदर्श से च्युत होकर पथ-भ्रष्ट हो जाता है।

राग और बुद्धि मिल कर मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण करते है। कर्तव्य के प्रति उत्साह तभी हो सकता है जब उसमे राग की प्रेरणा हो—हृदय और बुद्धि, आदर्श और यथार्थ, स्नेह और धर्म की समन्विति ही सिद्धि मे सहायक होती है। कर्म अथवा धर्म के बिना स्नेह अव्यावहारिक और अर्थहीन होगा, स्नेह की प्रेरणा के बिना कर्मरत मनुष्य एक यन्त्र मात्र रह जाएगा। भीष्म के व्यक्तित्व मे इन्ही सत्यो का आरोपण करते हुए दिनकर ने हृदय और भुजा, हृदय और मस्तिष्क मे समन्वय की अनिवार्यता को स्वीकार किया है। जहा इन तीनो का अलग-अलग विभाजन किया जाता है, वहा गलती होती है, मनुष्य एक पूर्ण दृष्टि प्राप्त कर सकने मे असमर्थ रह जाता है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि राग की अवरुद्ध धारा व्यक्ति को असतुलित बना देती है और कभी न कभी किसी न किसी मार्ग से अपनी अभिव्यक्ति पा लेती है। ब्रह्मचर्य के व्रत के कारण भीष्म का राग उनके लिए पाप बन चुका था। वे हर समय अपने प्राणो पर बन्ध बाधे कोमल भावनाओ की ओर से सचेत रहते थे। फलस्वरूप—

> **बही न कोमल वायु, कुंज मन का था कभी न डोला,**
> **पत्रों की झुरमुट मे छिप कर विहग न कोई बोला।**
> **चढा किसी दिन फूल किसी का मान न मै कर पाया,**
> **एक बार भी अपने को था दान न मै कर पाया।**[1]

वही अतृप्ति हृदय के निभृत कोने में, भीष्म के अवचेतन के गह्वर मे कही

---

१ कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ६०

छिपी बैठी थी जो अर्जुन के प्रति प्रेम बन कर उमड पडी—और भीष्म को जीवन के उस सत्य का ज्ञान हुआ जिससे वे अभी तक वंचित थे।

मुझे शान्ति, यात्रा से पहले
मिले सभी फल मुझको
सुलभ हो गए धर्म स्नेह
दोनों के सम्बल मुझको।[1]

धर्म और स्नेह के इस संयुक्त आनन्द की उपलब्धि के पहले भीष्म के ही द्वारा मस्तिष्क और हृदय के अप्रकृत विभाजन के अनौचित्य का विश्लेषण कराया गया है।

हृदय प्रेम को चढ़ा, कर्म को
भुजा समर्पित करके,
मैं आया था कुरुक्षेत्र में
तोष मनो में भर कर,
समझा था मिट गया द्वन्द्व
पाकर यह न्याय विभाजन;
ज्ञात न था, है कहीं कर्म से
कठिन स्नेह का बन्धन।[2]

और अन्त मे अपने व्यक्तित्व मे कर्तव्य और भावना के अस्वाभाविक और असंपृक्त सम्बन्ध की आलोचना करते हुए मानो वे इस बात की घोषणा करते हैं कि हृदय और मस्तिष्क की द्विधा मे पडा हुआ व्यक्ति अपने कर्तव्य के पालन में पूर्णरूप से सफल नही हो सकता। कुरुक्षेत्र के युद्ध के लिए वे अपने इसी खण्डित व्यक्तित्व को उत्तरदायी मानते है—

प्रकटी होती मधुर प्रेम की मुझ पर कहीं अमरता,
स्यात् देश को कुरुक्षेत्र का दिन न देखना पड़ता।[3]

शौर्य और करुणा का समन्वय

करुणा और शौर्य विरोधी भाव माने जाते है। पर दिनकर की अर्धनारीश्वर भावना मे 'करुणा' की कोमलता और 'वीर' की परुषता साथ-साथ चलती

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ६६
२. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ५८
३. वही, पृष्ठ ६२

है। पहले पहल करुणा और शौर्य का यह समन्वय कलिंग-विजय के अशोक मे किया गया था—

> **गिर गया हतबुद्धि-सा थक कर पुरुष दुर्जेय,**
> **प्राण से निकली अनामय नारि एक अजेय।**
> **अर्धनारीश्वर अशोक महीप,**
> **नर पराजित, नारि सजती है विजय का दीप।**[1]

कुरुक्षेत्र मे इस समन्वय की कल्पना पहले की अपेक्षा अधिक ठोस धरातल पर की गई है। पचम सर्ग के आरम्भ मे भीष्म और युधिष्ठिर को नेपथ्य मे भेज कर कवि सूत्रधार के रूप मे स्वय सामने आकर उस पृष्ठभूमि का विवेचन करता है जिसमे उसकी मान्यताए घोषित होती है। युद्ध से सतप्त विश्व के लिए छाया खोजने के प्रयास मे विफल वह सर्वत्र हिसा और नाश के ही दृश्य देखता है। उसे इतिहास के पृष्ठ रक्त-रजित, ज्वालामय और मनुष्य के कच्चे मास के जलने की दुर्गन्ध से भरे हुये दिखाई देते है। सभ्यता के विकास के साथ शक्ति के केन्द्रीकरण मे भी वह विजयी के स्वार्थ, मद, हिंसा-प्रयोग, और पराजित की कुठा, क्रोध और घुटन देखता है, और फिर तलवार के साथ कलम का सहयोग इसी सहार की प्रतिष्ठा कर उसे अमर बना देता है। कविता और कला का आलम्बन बन कर सहार का दानव, देवता बन जाता है, उसमे समस्त दानवी कृत्यो और राक्षसी वृत्तियो को शौर्य का नाम देकर उसे अमर बना दिया जाता है। सैन्य-शक्ति ही जहा श्रेष्ठता का मापदण्ड हो, वहा जीवन के उदात्त गुणो का क्या महत्व रह जायेगा ? सहस्रो लाखो व्यक्तियो की हत्या का पाप जहा पुण्य बन कर हँसता हो, वहा करुणा, दया, और क्षमा जैसे उदात्त गुणो का क्या मूल्य आका जायेगा ?

दिनकर ने विजयी के मन मे करुणा का उदय दिखा कर एक ओर युधिष्ठिर के मानसिक क्षोभ का निराकरण किया है दूसरी ओर केवल शौर्य और शक्ति-समन्वित क्षमा और करुणा की ही महत्ता स्वीकार की है। विजित और पराजित की क्षमा का कोई अर्थ नही है। असमर्थ और निर्बल की सहिष्णुता तो अनिवार्य है। उदात्त गुणो की स्थापना उनका अभिप्रेत है और शौर्य उसका साधन। कभी-कभी कुरुक्षेत्र के रस-विधान के सम्बन्ध मे यह निष्कर्ष दिया जाता है कि उसका अगी रस है 'करुण पोषित वीर'। सबसे पहली बात यह है कि कुरुक्षेत्र मे रस-विवेचना हम परम्परागत मान्यताओ के आधार पर नही कर सकते। न वह घटनाप्रधान प्रवन्ध है और न चरित्रप्रधान। उसमे विचारो की

१. सामधेनी, पृष्ठ ४६

प्रधानता है और उन्ही को लेकर उसकी प्रबन्धात्मकता चलती है। उसमे एक ओर करुणा का निराकरण है और दूसरी ओर शौर्य के साथ उसका समन्वय किया गया है। हारी हुई जाति अथवा हारे हुये व्यक्ति की करुणा और सहिष्णुता पाप है, क्लीव जाति का कलक है, लेकिन दूसरी ओर वही शौर्य का साध्य है वीरता का लक्ष्य है। निराकरण और समन्वय की इन स्थितियो को करुणा द्वारा वीर का पोषक नही माना जा सकता। हा यह अवश्य कहा जा सकता है कि करुणा के साम्राज्य की स्थापना के लिए दिनकर शौर्य को अनिवार्य मानते है। वह करुणा ग्लानि नही उत्पन्न करती बल्कि सम्पूर्ण विश्व को हृदय के सूत्र मे बाधती है। विजयी की ग्लानि, शूर की करुणा ही ससार को युद्ध की विभीषिका से मुक्त कर सकती है—

सच्छान्ति जगेगी इसी स्वप्न के क्रम से,
होगा जग कभी विमुक्त इसी विध यम से।
परिताप दीप्त होगा विजयी के मन में,
उमड़ेंगे जब करुणा के मेघ नयन में।[1]

ज्ञान और भावना का समन्वय

छठे सर्ग मे महाभारत के पात्रो और घटनाओ मे अपने मन की उडान को न बाध सकने के कारण दिनकर, महाभारत के युग से बीसवी सदी में लौटकर स्वय हमारे सामने आए है, और विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि मे आज के वैज्ञानिक युग की सीमाओं और शक्तियो का विवेचन किया है। आज की अनेक समस्याओ का मूल कारण है बुद्धि का अतिचार। कोई भी वस्तु अपने आप मे अच्छी और बुरी नही होती। उसका सदुपयोग और दुरुपयोग ही उसकी प्रकृति का निर्णय करते हैं। विज्ञान आज के युग की सबसे बड़ी समस्या है। मनुष्य अनुदिन सहार और नाश के तत्वो के स्वीकार को अपनी शक्ति के परीक्षण की कसौटी बना रहा है। फलस्वरूप वही विज्ञान जो लोक कल्याण और मानवता के लिए वरदान सिद्ध हो सकता था, मनुष्य के जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप बन रहा है। ज्ञान और भावना के समन्वय का अभाव आज की अनेक समस्याओ के मूल मे है।

यह प्रगति निस्सीम ! नर का यह अपूर्व विकास ?
चरण-तल भूगोल ! मुट्ठी में निखिल आकाश !

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ८६

किन्तु, है बढता गया मस्तिष्क कही नि.शेष,
छूट कर पीछे गया है रह हृदय का देश;
नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्यौहार,
प्राण मे करते दुखी हो देवता चीत्कार ।[1]

ज्ञान की भूख मनुष्य को अनिश्चित और उद्देश्यहीन मार्ग पर ले जा रही है। बुद्धि के पवमान मे वह तिनके सा उड रहा है। आज का युग द्वापर की भाति लाचार नही है, बुद्धि की पतवार सम्हाले अज्ञान के नभ को चीरता हुआ मनुष्य ज्योति की नई भूमि मे आ गया है, सागर, भूमि, विद्युत, भाप उसकी इच्छा पर कार्य करते है, पृथ्वी, आकाश और वरुणेश उसके हुक्म का पालन करते है परन्तु, ज्ञान, कर्म और भाव मे सामजस्य के अभाव के कारण वह अपने हाथ की तलवार से अपने ही ऊपर प्रहार करने की मूर्खता कर रहा है। विज्ञान के फूल उसके हाथ मे वज्र बनकर अपना शुभ धर्म भूल गये है—

यह मनुज ज्ञानी, शृगालों कुक्करो से हीन—
हो, किया करता अनेको क्रूर कर्म मलीन।
देह ही लड़ती नही, हैं जूझते मन-प्राण,
साथ होते ध्वंस है इसके कला-विज्ञान।
इस मनुज के हाथ से विज्ञान के भी फूल,
वज्र होकर भूलते शुभ धर्म अपना भूल।[2]

हृदय और मस्तिष्क ज्ञान और भावना की इस असपृक्त और खण्डित स्थिति को मिटा कर, उनके समन्वय मे ही कवि ने विश्व के कल्याण का स्वप्न देखा है, विज्ञान के शिवरूप को ही मनुष्य का श्रेय माना है—

श्रेय वह नर-बुद्धि का शिवरूप आविष्कार,
ढो सके जिससे प्रकृति सबके सुखों का भार।
मनुज के श्रम के अपव्यय की प्रथा रुक जाय,
सुख समृद्धि-विधान में नर के प्रकृति झुक जाय।[3]

इस प्रकार कुरुक्षेत्र मे दिनकर की दृष्टि निर्भ्रान्त और स्पष्ट हो गई है। समष्टिमूलक और वैयक्तिक दोनो ही दृष्टिकोणो मे कही अस्वस्थ और अवनयन मूलक तत्वो के निराकरण और कही विरोधी तत्वो के सामजस्य के द्वारा

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ९३
२. वही, पृष्ठ ९३
३. वही, पृष्ठ ९५

वे स्थायी निष्कर्षों पर पहुच गये हैं। जीवन के ये मूल्य कुरुक्षेत्र की पूर्वकालीन भावनाओं को दर्शन और विचार से सपुष्ट करके निर्धारित किए गए है। कुरुक्षेत्र पर जिन दो विचारको का प्रभाव दिनकर स्वीकार करते है वे है बर्ट्रेण्ड रसेल तथा लोकमान्य तिलक। वर्तमान जीवन की समस्याओ के निरूपण मे रसेल के विभिन्न ग्रन्थो से प्रभाव ग्रहण किया गया है तथा निवृत्ति-प्रवृत्ति और कर्मयोग के विश्लेषण मे वे तिलक की कृति गीता-रहस्य से प्रभावित रहे है।

सामधेनी का प्रकाशन यद्यपि कुरुक्षेत्र के बाद हुआ परन्तु उसमे सकलित अधिकतर कविताए 'कुरुक्षेत्र' के पहले लिखी गई थी। उसमे दिनकर की १९४१ से १९४६ तक की लिखी हुई रचनाए सकलित है। यह काल उनकी काव्य-चेतना का अन्धकार काल माना जा सकता है जब 'हुकार' की आग समाप्त हो चुकी थी और राजनीतिक वातावरण दमन और शोषण के कारण क्षुब्ध और अवसन्न था। वैयक्तिक परिस्थितियो के कारण 'वर्तमान का बैताली' सरकार के स्वर मे गाने को बाध्य हो रहा था। सामधेनी के गीतो की समष्टि और व्यष्टि दोनों ही चेतनाए इस कुठाग्रस्त पृष्ठभूमि मे व्यक्त हुई है। युद्ध की पृष्ठभूमि के प्रधान हो जाने से उनका ओज भी कुछ समय के लिए करुणा मे परिवर्तित हो गया है। प्रतिपाद्य की दृष्टि से सामधेनी की रचनाओ को मुख्य रूप से तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है —

१ दार्शनिक तथा द्वन्द्वमूलक वैयक्तिक चेतना।

२ राष्ट्रीय-पार्श्वभूमि पर आधृत अवसादमूलक काव्य-चेतना।

३. युद्ध की पृष्ठभूमि मे पल्लवित करुणाप्रधान काव्य-चेतना।

दार्शनिक तथा द्वन्द्वमूलक वैयक्तिक चेतना

इस वर्ग की प्रथम कविता है 'अचेतन मृत्ति, अचेतन शिला'। इस कविता मे उस प्रवृत्ति का स्थिरीकरण हुआ है जो 'द्वन्द्व गीत' मे अव्यक्त सत्ता के प्रति आस्था और अनास्था के प्रश्न को लेकर उदित हुई थी। अब कवि के मन का द्वन्द्व मिट गया है। असीम और ससीम, सूक्ष्म और स्थूल, शरीर और प्राण मे ऐक्य-स्थापना के साथ एक अव्यक्त अपार्थिव सत्ता के अस्तित्व मे उसका विश्वास अडिग हो गया है। मृत्तिका और शिला अपने आप मे रुक्ष, श्रीहीन और अचेतन है, शिल्पी की छेनी और हथौडी ही उसमे प्राण-प्रतिष्ठा करती है, उसी प्रकार ससार मे जो कुछ भी प्राणवान, सुन्दर और आकर्षक है वह उस अदृश्य और अव्यक्त असीम के जादू भरे स्पर्श के कारण है। पार्थिव और भौतिक अस्तित्व की क्षणभगुरता मे जो सत्य और शिव है वह ब्रह्म है, इस

दृश्यमान जगत का सौन्दर्य और शिवत्व उसी की सासो के स्पर्श का परिणाम है। अपनी पार्थिव विभूतियो का रूप सवारने के लिए, आत्मा की अदृश्य किरण को साकार करने के लिए कवि बडी आस्था और विश्वास से उस शिल्पी की प्रतीक्षा कर रहा है—

मृत्ति, प्रस्तर मेघो का पुंज,
लिए मैं देख रहा हूं राह,
कि शिल्पी आएगा इस ओर
पूर्ण करने कब मेरी चाह।
शिल्पी, जो मुझ में व्याप्त विलीन,
किरण वह कब होगी साकार ?[1]

इस वर्ग की दूसरी कविता द्वन्द्वमूलक है, जहा कवि 'अशेष' को अपनी सीमाओ के लिए उलाहना देता है। एक ओर उसकी कल्पनाए, उदात्त आदर्श और अपने को आग मे झोक देने की अदम्य प्रेरणा है, दूसरी ओर उसकी भौतिक विषमताए और परिसीमाएं है। ससीम असीम का ही अश है। आग्नेय ज्योतिर्पिण्ड की एक चिनगारी 'दिनकर' भी है, परन्तु उन्हे अपनी ज्वाला को समेटकर रहना है, चिनगारी को बाध कर रखना है, क्योकि उसके प्रसार से स्वय जल जाने का डर है। मानसिक द्वन्द्व के इसी उद्वेग और उद्वेलन की प्रेरणा के फलस्वरूप इन अत्यन्त शक्तिपूर्ण पंक्तियो की रचना हुई है—

ओ अशेष ! नि शेष बीन का एक तार था मै ही !
स्वर्भू की सम्मिलित गिरा का एक द्वार था मै ही ![2]

प्रस्तुत गीत भी उनकी अनास्था पर आस्था की विजय का प्रमाण माना जा सकता है। 'चाद और कवि' शीर्षक से जो गीत 'नील कुसुम' मे सकलित है वह पहले सामधेनी मे प्रकाशित हो चुका था। यह गीत दिनकर के अर्जित आत्मविश्वास का द्योतक है। 'द्वन्द्व गीत' मे व्यक्त जीवन के प्रति अविश्वास, नैराश्य, नश्वरता और क्षणभगुरता की कुठा अब समाप्त हो गई है और मानव के प्रति विश्वास और आस्था स्थायी रूप से स्थापित हो गई है। पहले जो दिनकर मानव-जीवन की चादनी मे अधकार और उत्थान मे पतन देखा करते थे अब उसकी क्षणभगुरता मे निहित शक्ति, तथा बुलबुलो मे छिपी आग देखते हैं। स्वप्न और सत्य, कल्पना और यथार्थ के समन्वय मे निहित उसकी

---

१ सामधेनी, पृष्ठ ४

२ वही, पृष्ठ ७

ताकत देखते हैं। उनकी रागिनी मनुष्य के प्रति चाद के उपहास का उत्तर देती है—

मै न वह जो स्वप्न पर केवल सही करते,
आग मे उसको गला लोहा बनाती हूं,
और उस पर नींव रखती हूं नए घर की,
इस तरह दीवार फौलादी उठाती हूं
मनु नहीं, मनुपुत्र है यह सामने, जिसकी
कल्पना की जीभ मे भी धार होती है,
बाण ही होते विचारों के नहीं केवल,
स्वप्न के भी हाथ मे तलवार होती है।[1]

'प्रतिकूल' कविता मे बार-बार इस आस्था का सकेत दिया गया है। क्षुब्ध राजनीतिक वातावरण मे क्रान्ति की आग लगाने की दैवी प्रेरणा का उल्लेख उन्होने बार-बार किया है—

उसकी इच्छा थी, उठा गूंज गर्जन गभीर,
मैं धूमकेतु-सा उगा तिमिर का हृदय चीर।
मृत्तिका तिलक लेकर प्रभु का आदेश मान,
मैंने अम्बर को छोड धरा का किया गान।[2]

इस कविता में दिनकर ने अपनी तत्कालीन काव्य-चेतना का विश्लेषण भी परोक्ष रूप से किया है, जिसके अनुसार वे अम्बर और अतीत के कवि नही, पृथ्वी और वर्तमान के कवि है। उन्होंने देवत्व के गीत गाना छोडकर मानवता के गीत गाये, समत्व के प्रत्यूहो को तोडने के लिए विष बुझे तीर छोड़े। वे तीर जिससे पृथ्वी जल उठती, दिशाए जाग उठती लेकिन उनका गर्जन व्यर्थ गया। उनकी माधुरी नष्ट हो गई पर अत्याचारियो का प्रमाद न जल सका। परन्तु वहा पर भी उनका साहस नही छूटा, वे निराश नही हुए लेकिन राजनीतिक नेताओ की ढीली नीति से उनकी हिम्मत पस्त हो गई—

आखिर क्लीवों को देख धीरता गई छूट,
धरती पर मैंने छिड़क दिया विष कालकूट।[3]

सृष्टि के समस्त जड और चेतन उपकरणो मे वे तप और तेज को ही

१. सामधेनी, पृष्ठ १५
२. वही, पृष्ठ ५६
३. वही

शक्ति का प्रतीक मानते है—मानव का तप सब से कठोर है क्योकि वह सर्वोच्च प्राणी है लेकिन कभी-कभी तप को चाहने वाले व्यक्ति के लिए भी अन्धकार अनिवार्य बन जाता है। सामधेनी के दिनकर भी निष्क्रियता, जडता और कर्म-हीनता के अधकार से घबडाकर क्रान्ति की बुझी हुई अग्नि को फिर से उद्दीप्त करना चाहते है, परन्तु परिस्थितियो से विवश है—

रे पथिक मुदित मन झेल, मिले जो अन्तराय
जलने दे मन का बोझ नहीं कोई उपाय।[1]

सामधेनी मे सकलित दूसरे वर्ग की रचनाए राष्ट्रीय पार्श्वभूमि मे लिखी गई है और अधिकतर समसामयिक घटनाओ पर आधृत है। उनका विवेचन द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है, इसलिए उनको फिर से दुहराना उचित नही जान पडता। तृतीय वर्ग की प्रमुख रचना है 'कलिंग विजय' जिसका विवेचन 'कुरुक्षेत्र' की पृष्ठभूमि मे इसी अध्याय के अन्तर्गत, पहले किया जा चुका है।

सक्षेप मे, सामधेनी दिनकर की काव्य-चेतना का वह सोपान है, जहा वह अन्धकार को फाडकर आलोक की ओर जाने का प्रयास कर रहे है। वैयक्तिक और समष्टि-जन्य परिस्थितिया उनके प्रतिकूल है। उनके विचारो और परि-स्थितियो के बीच एक खाई है, जिसे पाटने के प्रयास मे असफल होकर कभी वे ईश्वर से याचना करते है और कभी आग की भीख मागते है। उनके हाथो मे सरकारी नौकरी की लौह हथकडिया है पर उनके भाव और विचार मुक्त है, उनकी वाणी पर न कोई रोक है न नियन्त्रण। ब्रिटिश-शासन के युग मे जब भारतीय जनता की जबान पर वैधानिक ताला लगा हुआ था, जब पीडा की अभिव्यक्ति के लिए 'आह' करना भी गुनाह था, दिनकर सरकारी दमनचक्र से कैसे बचे रहे, उनकी नौकरी कैसे बची रही, समझ मे नही आता।

कुरुक्षेत्र-परवर्ती कृतियों में व्यक्त काव्य-चेतना

जैसा कि पहले कहा जा चुका है 'कुरुक्षेत्र' मे दिनकर की समष्टि-चेतना और जीवन-दृष्टि मानो लक्ष्य-बिन्दु पर पहुच गई है। 'कुरुक्षेत्र' परवर्ती काव्य मे उसी चेतना की अभिव्यक्ति थोडे-बहुत सशोधनो और परिवर्धनो के साथ हुई है।

रचनाकाल की दृष्टि से दिनकर की अग्रिम रचना है 'बापू'। उनके कुछ आलोचको की शिकायत यह है कि वे अवसर के अनुसार अपने काव्य का स्वर

१. सामधेनी, पृ० ५५

बदल लेते है, 'बापू' को इस कथन के प्रमाण-रूप मे उद्धृत किया जाता है। लेकिन, यदि हम बापू पर लिखी हुई कविताओ का विश्लेषण करे तो यह पूर्ण रूप मे स्पष्ट हो जाता है कि उनके प्रति दिनकर की आस्था बिना अपनी मान्यताओ को बदले हुए व्यक्त हुई है। बापू के प्रति उनकी आस्था वैसी ही है जैसे किसी सिद्ध पुरुष के अलौकिक चमत्कार से अनास्थावादी नास्तिक को भी उसकी शक्ति मे विश्वास करने के लिए बाध्य हो जाना पडता है। दिनकर गाधी तथा उनके उदात्त लक्ष्य की महानता और उच्चता मे विश्वास रखते हुए भी उनकी अहिंसा को साधन रूप मे कभी स्वीकार नही कर पाए थे, परन्तु गाधी की नोआखाली यात्रा की सफलता मे उनकी आत्मा की शीतल स्निग्ध किरण दिनकर को भी बेध गई। उनका ओज और आक्रोश भी द्रवित होकर करुणा और श्रद्धा बन गया। पार्थिव जीवन और मनुष्य की परिसीमाओ के कारण 'अगार' की अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए ही उन्होने गाधी की आध्यात्मिक शक्ति की महत्ता को स्वीकार किया।

प्रथम खण्ड मे बापू की बन्दना के पहले उन अगार भरे व्यक्तियो का गुण-गान किया गया है जो आग का सामना आग से करते है, विष का उत्तर विष से देते है, जिनकी आवाज़ से समय रुक जाता है, जिनके आदेश पर इतिहास झुक जाता है, जिनके ओज और शौर्य की कहानी युग-युगो तक चलती रहती है, पर गाधी की शक्ति उन सबसे परे अलौकिक आध्यात्मिक है—

पर, तू इन सबसे परे, देख
तुमको अंगार लजाते है,
मेरे उद्वेलित-ज्वलित गीत
सामने नहीं हो पाते हैं।[1]

गाधी के व्यक्तित्व की आध्यात्मिकता और अलौकिकता की अर्चना ही दिनकर का उद्देश्य रहा है। ज्वालाओं से परे, कूटस्थ पुरुष, अमृत-प्रवाही, गाधी का उन्होने नमन किया है। 'कुरुक्षेत्र' के तर्क-वितर्क के बाद भीष्म जिस उदात्त लक्ष्य को आदर्श रूप मे स्वीकार करते है, जिसकी रक्षा के लिए वे शौर्य की सार्थकता और युद्ध के अनघत्व की स्थापना करते है, वही आदर्श, वही आत्मा का किरण-अभियान दिनकर गाधी मे साकार देखते है। जिन उपादानों को उन्होने 'कुरुक्षेत्र' में युद्ध के लिए उत्तरदायी ठहराया था वही उपादान भारत-वर्ष मे धार्मिक और राजनीतिक स्वार्थों के आवरण में प्रबल हो रहे थे। हिंसा की दुर्गन्धमयी ज्वाला और घनघोर धुए से आकाश भरा हुआ था, साम्प्रदायिक

१. बापू, पृष्ठ ३

विष के प्रभाव से मनुष्य जहरीला साप बन रहा था, द्वेष और अविश्वास के वातावरण मे राक्षसी वृत्तिया खुल कर खेल रही थी, गाधी की आत्मा की कोमल किरण इसी तमस को भेदने के लिए जूझ रही थी। गाधी का मार्ग करुणा और स्नेह का मार्ग था, उसके आलोक मे कवि का विश्वास अडिग है लेकिन 'कुरुक्षेत्र' मे उठाए हुए प्रश्न का समाधान यहा भी नही मिलता। ईसा, बुद्ध, अशोक, गाधी सबका हम वचन से सम्मान करते है, पर उनका अलौकिक और उदात्त आदर्श केवल एक दो व्यक्तियो के हृदय भिगोकर ही उड्डीन हो जाता है। मानव जीवन की यह शाश्वत समस्या जब तक समाप्त नही होती, तब तक केवल आध्यात्मिकता के सहारे किसी राष्ट्र की समस्या के समाधान की कल्पना नही की जा सकती, यही प्रश्न 'बापू' मे फिर से दिनकर ने उठाया है—

अब प्रश्न नही, यह एक किरण
किस तरह द्वन्द्व से छूटेगी,
है प्रश्न, व्यूह पर इसी तरह
बाकी किरणें कब टूटेगी।[१]

और जब तक इस प्रश्न का उत्तर नही मिलता, तब तक दिनकर पर हिंसा और अहिंसा सम्बन्धी नीति के परिवर्तन का आरोप नही लगाया जा सकता।

'बापू' की पृष्ठभूमि का विवेचन द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। 'सापो की बामी' पर घूमते हुए, दूध और मिट्टी से बने हुए पुतले की अद्भुत सफलता ने दिनकर की कलम को उसका गुणगान करने के लिए बाध्य किया। साम्प्रदायिकता की घृणा और आग मे श्रद्धा, विश्वास, क्षमा, ममता और करुणा की पूजी लेकर निःशस्त्र घूमने वाला गाधी पशुबल पर मनोबल की जीत का प्रतीक था। अन्धकार और घृणा पर सत्य और करुणा की विजय का प्रमाण था—

वह सुनो सत्य चिल्लाता है
ले मेरा नाम अंधेरे में,
करुणा पुकारती है मुझको
आबद्ध घृणा के घेरे में।[२]

'दिनकर' के 'अगार' उस विराट के सामने लज्जित हो गए, और उन्होने 'बापू' मे विराट् के चरणो पर समर्पित वामन की अर्चना और पूजा की। पर

१. बापू, पृष्ठ १७
२. बापू, पृष्ठ २४

समष्टि के स्तर पर उसकी व्यावहारिक क्रियात्मकता के प्रति शका दिनकर के मन मे अब भी बनी रही। उस ज्योतिष्पिड के आलोक से अभिभूत स्थिति मे भी सशय की एक रेखा छिपी हुई है—

सच है कि समय के स्मृति-पट पर
रवि-सा होगा तू भासमान,
हम चमक चमक बुझ जायेंगे
क्षीणायु, क्षणिक उडु के समान
पर, कहीं राम सा साथ साथ
तेरे पीछे चल पडा देश,
बापू ! मै तेरा समयुगीन
होकर हूगा उपकृत विशेष ।[1]

'बापू' मे सकलित शेष दो कवितायें 'मृत्यु गीत' है और दिनकर की काव्य-चेतना के विकास मे उनका महत्व प्राय नही के बराबर है ।

स्वतन्त्रता के पश्चात् दिनकर की समष्टि-चेतना के विविध मोड़

सन् १९४७ मे भारत स्वतन्त्र हुआ, दिनकर पार्लियामेट मे आए और उसी दिन से वे राष्ट्र और जनता के कवि कम और राजनीति के कवि अधिक बन गए। भारत-विभाजन से उठी हुई समस्यायें उनकी आखो से प्राय: ओझल रही। राजनीति और धर्म की चक्की मे पिसी हुई जनता का आक्रोश और दुख वे निरपेक्ष और तटस्थ दृष्टि से देखते रहे, शायद इसका कारण यह था कि जिस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वे अब तक गाते आ रहे थे वह पूरा हो चुका था और जन, धन, सम्मान तथा मानवता का बड़े से बडा मूल्य भी उस सिद्धि की तुलना मे कम था। अब दिनकर जनता के कवि नही उसके प्रतिनिधि मात्र थे। भारत के भाग्य-विधायकों मे से एक थे, और विधाता नियम बनाता है, नीति-निर्धारित करता है, भाग्य निर्माण करता है, जनता पर उसकी प्रतिक्रियाओं के प्रति वह बेखबर और बेपरवाह रहता है। दिनकर की काव्य-चेतना का समष्टि तत्व अब भारतीय राजनीति, राष्ट्रनीति और परराष्ट्रनीति का प्रतिनिधित्व करने लगा। 'इतिहास के आसू' सकलन मे 'मगध महिमा' के कुछ स्थलो को इस मोड की प्रथम अभिव्यक्ति माना जा सकता है, जहा पाकिस्तान की वैमनस्य-नीति और काश्मीर-समस्या का चित्रण भारत-यूनान, चन्द्रगुप्त और सेल्यूकस के माध्यम से हुआ है। चन्द्रगुप्त के निम्नोक्त शब्दो मे जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल की दृढ़ घोषणाओ की ही आवृत्ति हुई है—

१. बापू, पृ० ३१

मगध नही चाहता किसी को अपना दास बनाना
छिन्न-भिन्न है देश, शान्ति भारत की बिखर गई है;
हम तो केवल चाह रहे है उसको एक बनाना।
मृदु-विवेक से, बुद्धि-विजय से, स्नेहमयी वाणी से,
अगर नहीं तो धनुष बाण से, पौरुष से, बल से भी।[1]

* * *

नहीं चाहते किसी देश को हम निज दास बनाना,
पर स्वदेश का एक मनुज भी दास न कहीं रहेगा,
हम चाहते सन्धि पर विग्रह कोई खड़ा करे तो,
उत्तर देगा उसे मगध का महा खड्ग बलशाली।[2]

'देह की लडाई देह से' का सिद्धान्त दिनकर यहा भी नही छोड सके है। स्वतन्त्रता के पहले तक एक महान शक्तिशाली साम्राज्यवादी शक्ति से हमे लोहा लेना था, उस लडाई मे विजय के तत्काल उपरान्त ही पाकिस्तान का आक्रमण अप्रत्याशित रूप मे सामने आया, और दिनकर को चाणक्य के मुँह से फिर कहलाना पडा—

आग के साथ आग बन मिलो,
और पानी से बन पानी,
गरल का उत्तर है प्रतिगरल,
यही कहते जग के ज्ञानी।[3]

परन्तु हिंसा का राक्षस उनका साध्य यहा भी नही बना। चाणक्य की प्रतिशोध-नीति को साधन रूप मे स्वीकार करते हुए भी उनका लक्ष्य अशोक की करुणा ही रहा—

व्यर्थ प्रभुता का अजय मद, व्यर्थ तन की जीत
सार केवल मानवों से मानवो की प्रीति।
ज्योति का वह देश—करुणा की जहां है छांह,
अबल भी उठते जहां धर कर बली की बांह।[4]

राष्ट्रवाद स्वजनो की रक्षा करता है परन्तु मानवतावाद राष्ट्र, देश और काल की सीमाओ का अतिक्रमण करके समस्त पृथ्वी को अपना बनाता है। राष्ट्र-

१. इतिहास के आंसू, पृष्ठ १७—दिनकर
२. वही, पृष्ठ १८
३. वही, पृष्ठ १९
४. वही, पृष्ठ २६

वाद की सरिता तटों की सीमा में बहती है, परन्तु मानवतावाद अथाह जलधि है, और जलधि की गम्भीरता ही हमारा ध्येय है—

चन्द्रगुप्त चाणक्य समर्थक रक्षक रहे स्वजन के,
हीन बन्ध को तोड़ हो गए पर, अशोक त्रिभुवन के।
दो कूलों के बीच सिमट कर सरिताएं बहती है,
सागर कहते उसे, दीखता जिसका नहीं किनारा।
कल्पने यह संदेश हमारा।[1]

'इतिहास के आंसू' की समष्टि-चेतना में इस प्रकार एक राजनीतिक की सैद्धान्तिक व्याख्याए प्रस्तुत की गई हैं, जिसकी पृष्ठभूमि में वे ही मान्यताए है जिनकी स्थापना कुरुक्षेत्र में की गई थी।

'रश्मिरथी' की रचना मैथिलीशरण गुप्त की प्रबन्धकाव्य-परम्परा में कुछ योग देने के उद्देश्य से हुई थी। उसी के फलस्वरूप दिनकर आगे बढने के बदले पीछे लौट गए है। उनका ध्यान प्रबन्ध-विन्यास, चरित्र-चित्रण और कथा-सवाद की विधा की ओर गया है। 'रश्मिरथी' की भूमिका की भाषा में कहा जाय तो वे जैसे ओट्स खाते-खाते ऊब गए है और स्वाद-परिवर्तन के लिए देशी पद्धति से जई उपजाने का आनन्द लेने को अपने समय से पीछे मुड़ गए है।

जहां तक उनकी काव्य-चेतना के इस नए रूप का सम्बन्ध है, वह अन्य कृतियो की काव्य-चेतना से अलग पडती है परन्तु यहां भी उसने समष्टि अथवा राष्ट्र का पल्ला नही छोड़ा है। 'रश्मिरथी' की रचना दलितों और उपेक्षितो के उद्धार के युग में हुई है। 'कर्ण' हजारो वर्षों से हमारे सामने उपेक्षित एव कलकित मानवता का मूक प्रतीक बन कर खडा रहा है। 'रश्मिरथी' मे उसी कलंक की गहरी कालिमा को आलोक मे परिवर्तित करने का प्रयास किया गया है। कुल और जाति के अहंकार को मिटा कर मानवीय मूल्यो और गुणो की स्थापना उनका ध्येय है। उच्च अथवा नीच-वश माता-पिता के गुण-दोष व्यक्ति की योग्यता और शक्ति के प्रतीक नही हैं, उसके व्यक्तित्व-मूल्याकन की सबसे बड़ी कसौटी है उसकी अपनी क्षमता और अपनी योग्यता। 'रश्मिरथी' मे कर्ण के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा द्वारा इसी मानवीय मूल्य की प्रतिष्ठा हुई है। मैथिली-शरण गुप्त का युग नारी-उद्धार का युग था, जिसकी प्रेरणा से यशोधरा और उर्मिला जैसे अमर और शक्तिशाली पात्रो का अस्तित्व सम्भव हुआ, उन्होने नारी को शोषित और दलित वर्ग की श्रेणी से निकाल कर उसे स्वतन्त्र सत्ता दी। नारी-शोषण का युग समाप्त हो गया ऐसा नही कहा जा सकता परन्तु

---

१. इतिहास के आसू, पृष्ठ २८

उसे शोषित वर्ग मे परिगणित करने की स्थिति अब नही रह गई। कर्ण के सिर पर दुहरा कलक है, वह एक ओर अविवाहिता का पुत्र है, दूसरी ओर सूतपुत्र। आज का साहित्यकार दलितो के उद्धार और उनके व्यक्तित्व-प्रतिष्ठा का ध्येय प्राय छोड चुका है और दिनकर की पीढी के कवियो ने तो इस उद्देश्य से अपनी कविता लिखी ही नही, परन्तु दिनकर के परम्परा-मोह ने ही उन्हे युग-चेतना के इस पक्ष के प्रति कर्तव्य-निर्वाह के लिए योग प्रदान किया, नही तो शायद काल का यह चारण अपने युग की एक प्रमुख सामाजिक समस्या को बिना छुए ही छोड देता।

इस नई पृष्ठभूमि मे भी दिनकर की मूल काव्य-चेतना के दर्शन अनेक स्थलो पर हो जाते है। महाभारत के युद्ध की पृष्ठभूमि मे कुरुक्षेत्र मे स्थापित मान्यताएं ही दुहराई गई है। कर्ण के इन शब्दो मे कुरुक्षेत्र की स्थापनाओ की ही आवृत्ति है—

रण केवल इस लिए कि सत्ता बढे न पत्ता डोले,
भूपो के विपरीत न कोई कहीं कभी कुछ भी बोले।
ज्यो-ज्यों बढ़ती विजय, अहं नरपति का बढता जाता है,
और जोर से वह समाज के सिर पर चढ़ता जाता है।[1]

'परशुराम की प्रतीक्षा' मे वर्तमान सकट के समय जिस शौर्य और धर्म के समन्वय का प्रतिनिधित्व 'परशुराम' के व्यक्तित्व के माध्यम से किया गया है, उसकी कल्पना दिनकर 'रश्मिरथी' मे ठीक वैसे ही रूप मे पहले कर चुके थे—

मुख में वेद, पीठ पर तरकस, कर में कठिन कुठार विमल,
शाप और शर, दोनों ही थे, जिस महान ऋषि के सम्बल।[2]

नये भारत के भाग्य-पुरुष की प्रतिष्ठा 'रश्मिरथी' के इन्ही शब्दो को दुहरा कर की गई है—

है एक हाथ मे परशु, एक मे कुश है,
आ रहा नये भारत का भाग्य पुरुष है।[3]

'रश्मिरथी' मे शौर्य और धर्म के समन्वय का सिद्धान्त भी 'कुरुक्षेत्र' की पूर्वभूमि पर ही स्वीकार किया गया है—

नित्य कहा करते हैं गुरुवर, खड्ग महा भयकारी है,
इसे उठाने का जग मे प्रत्येक नहीं अधिकारी है।

---

१. रश्मिरथी, पृष्ठ १४
२. रश्मिरथी, पृ० १२
३. परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० १५

वही उठा सकता है इसको जो कठोर हो कोमल भी,
जिसमें हो धीरता वीरता और तपस्या का बल भी।
वीर वही है जो कि शत्रु पर जब भी खड्ग उठाता है
मानवता के महागुणों को सत्ता भूल न जाता है।[1]

सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि विचारो और भावो के ऊहापोह, उत्थान-पतन और सशोधन-परिवर्धन के द्वारा दिनकर ने जिस सैद्धान्तिक जीवन-दृष्टि का निर्माण किया था, कर्ण के व्यक्तित्व मे उन्ही को उतार दिया। शौर्य और शील का समन्वय, कर्मवादी जीवन-दृष्टि, जाग्रत अह, अग्निमय प्रतिशोध दिनकर के अपने आदर्श पुरुष की कल्पना है, तथा दानवीरता, मैत्री-निर्वाह और कर्तव्य-निष्ठा इत्यादि गुण उन्होने परम्परा मे ग्रहण किये है। 'रश्मि-रथी' के कथानक के शेष अशो का विवेचन दिनकर के प्रबन्धकाव्य शीर्षक प्रसग के अन्तर्गत किया जायेगा।

एक बार अपनी मौलिक चेतना मे पीछे हट कर दिनकर फिर आगे बढ़ गये। उनके पास जैसे अब अपना और कुछ कहने को शेष नही रह गया था। कुरुक्षेत्र में उन्हे चरम-दृष्टि प्राप्त हो गई थी। स्वाद-परिवर्तन के लिए पहले वे उन स्वादो की ओर झुके जिनकी चटकारे वे बचपन मे ले चुके थे। फिर लौट कर उन नये मूल्यो की ओर बढ़े जिनका आविष्कार और प्रवर्तन उनकी पीढ़ी के बाद के कवि कर रहे थे—'नये कवियों का पिछलगुआ' बनने की आकाक्षा से 'नील कुसुम' का आविर्भाव हुआ।

पुस्तक की भूमिका मे उन्होने 'नील कुसुम' के लिए आलोचना की नई कसौटी की माग की है क्योंकि आलोचक नये कवि को कवि की पुरानी कसौटी पर कस कर उसके साथ न्याय नही कर सकता। जिस कसौटी पर 'रेणुका', 'रसवन्ती', 'हुकार' और 'सामधेनी' की कवितायें कसी गई है, उस पर 'नील कुसुम' की कविताओ को रखना ठीक नही होगा। अब प्रश्न यह है कि 'नील कुसुम' का निकष क्या हो ? एक ओर डा० नगेन्द्र और नन्ददुलारे वाजपेयी जैसे परम्परावादी आलोचको की कसौटिया है। दूसरी ओर, अज्ञेय तथा अन्य कवियों द्वारा दिए गए स्पष्टीकरण। स्वय दिनकर की प्रयोगवाद सम्बन्धी मान्यतायें इस प्रसंग मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

उनके अनुसार प्रयोगवाद के भीतर आनन्दमय मदोन्माद के लिए अधिक गुजाइश नही है। इसकी सफलता प्रेरणा के साथ बहने मे नही, उसे विचारो के अधीन रख कर काम करने में है। रोमाण्टिक मनोदशा उड़ने की मनोदशा

---

१. रश्मिरथी, पृ० १६

होती है और कल्पना की यह उडान अब तक कविता की सबसे बडी शक्ति मानी जाती रही है। इसके विपरीत क्लासिक कवियो की वह मनोदशा होती है जिसमे कवि धीर, स्थिर और अपने वर्ण्य विषयो पर हावी बना रहता है। किन्तु, क्लासिक चिन्तन की दिशा मे ही अब एक नई मुद्रा उत्पन्न हो रही है जो उडने की नही, जम कर मिट्टी तोडने की मुद्रा है, जो पर्वतो पर मूर्ति-खचन न करके सदेह उनके भीतर प्रवेश करना चाहती है। इस मुद्रा के नए कवि, मुख्यतः चिन्तक कवि होगे, किन्तु कल्पना को वे छोड नही सकते, क्योकि उनका सारा चिन्तन कल्पनामय होगा।...[1] वह, आदि से अन्त तक, शुद्ध साहित्यिक आन्दोलन है, कला का आन्दोलन है, उसका मुख्य ध्येय हमारी कला सम्बन्धी धारणाओं को परिवर्तित करना है।[2] उनकी रुचि अन्तर्राष्ट्रीय रुचि से प्रभावित है।

डा० नगेन्द्र के अनुसार प्रयोगवादी का आग्रह है कि वह अपने दृष्टिकोण को अधिक से अधिक वस्तुगत बनाए, वस्तु पर अपने मत का रग न चढा कर वस्तु की आन्तरिक अर्थ-व्यजना को अनूदित करे।[3]

एक गहन बौद्धिकता इन कविताओ पर सीसे के पर्त की तरह जमती जाती है, इनमे रागात्मक तत्वो को बौद्धिक माध्यम द्वारा व्यक्त किया गया है। इस कविता का मुख्य उपादान साधन बौद्धिक धारणायें है। शिल्प के क्षेत्र मे उसकी विशेषताये है—भाषा का सर्वथा वैयक्तिक प्रयोग—अप्रस्तुत योजना का विचित्र और असाधारण प्रयोग, छन्दो के परम्परागत रूपो का त्याग और नए प्रयोग, तुको और लय का बहिष्कार। उनके अनुसार प्रयोगवादी कवियो ने मूल्यो का सतुलन खो दिया है।

अज्ञेय के अनुसार दावा केवल यह है कि ये सातो अन्वेषी है। काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हे समानता के सूत्र मे बाधता है।...बल्कि उनके तो एकत्र होने का कारण ही यह है कि वे किसी एक स्कूल के नही हैं, किसी मजिल पर पहुचे हुए नही है, अभी राही है, राहो के अन्वेषी (तार सप्तक की भूमिका)।

इन्ही अन्वेषियो के स्वागत मे दिनकर ने 'नील-कुसुम' बिखेरा है। उनके अनुसार " 'नील कुसुम' के रचयिता के सहज बन्धु 'रेणुका' और 'हुकार' के रचयिता नही, वरन् वे लोग हैं, जिन्हें सही नाम के अभाव में हम प्रयोगवादी कहने लगे

१. काव्य की भूमिका, पृ० ६६
२. वही, पृ०-६४-६५
३. डा० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध, पृ० १०६

हैं। किन्तु, मैं प्रयोगवाद का अगुआ नही पिछलगुआ कवि हूँ।" इस स्पष्ट घोषणा के बावजूद 'नील कुसुम' की सब कविताओं का ध्यानपूर्वक पारायण कर लेने पर भी उसे प्रयोगवादी रचना मानने के लिए मन तैयार नही होता। कुछ छन्दहीन कविताओ, और कुछ नये प्रतीकों के प्रयोग मे ही कोई रचना प्रयोगवादी नहीं बन सकती। दिनकर आस्था के युग के कवि है, जिस युग के युवकों के पास सर्वस्व न्योछावर करने के लिए देशभक्ति का उद्देश्य था, जो पराधीनता के युग मे भी उदात्त लक्ष्य के ओज के बल पर जी रहे थे, दिनकर चाहे स्वय अपने व्यक्तित्व से 'नील कुसुम' के कवि को 'हुंकार' और 'रेणुका' के कवि से अलग कर सके हो, परन्तु मेरे विचार से एक प्रौढ कवि के सस्कारो पर नवीनता का जादू इतनी आसानी से नही चल सकता। दिनकर के ही शब्दो मे "हर युग नया जल लेकर आता है और हर युग जब जाने लगता है तो उसके लाये हुए जल से आगामी युग की प्यास नही बुझ पाती, इसलिए प्रत्येक युग को अपना कुआ आप खोदना पडता है, चाहे वह छिछला ही क्यो न हो।" दिनकर के काव्य के विषय मे भी यही तथ्य विपरीत क्रम से लागू होता है। उन्होने अपने युग मे जो कुआं लगभग पच्चीस-तीस साल पहले खोदा था, उसका जल उनके कवि-व्यक्तित्व के कण-कण मे समाया हुआ है, उनकी आत्मा उसमे डूबी हुई है। शरीर पर पड़े हुये जल को रगड़ कर सुखाया जा सकता है लेकिन-आत्मा और हृदय का रस तो रगो मे रक्त बन कर सम्पूर्ण व्यक्तित्व में संचारित हो जाता है। वैयक्तिक और समष्टिगत ऊहापोहों को झेलकर जिस स्वस्थ भूमि पर दिनकर खड़े हुये थे, उसके स्थान पर आज की अव्यवस्थित और विशृंखलित अराजकतावादी आधारभूमि को इच्छा होते हुये भी वे ग्रहण नही कर सकते, 'नील कुसुम' की कविताओं और भूमिका के वक्तव्य का विरोध इसी बात का साक्षी है। आज का मानव राजनीतिक-आर्थिक वैषम्यों, अविश्वास के वातावरण और आध्यात्मिक विद्रोह के बीच खड़ा है, आत्मा और ईश्वर दोनों के ही प्रति उसकी आस्था नही रह गई है। दिनकर का विश्वास-दृढ आशावादी व्यक्तित्व और 'नील कुसुम' की आस्था-भरी कविताओं का इस परिवेश मे कहां स्थान है ? स्पष्ट उत्तर है—कही भी नहीं। उनकी विस्फोटक, आवेशपूर्ण रसार्द्रता तथा बहिर्मुख मुखरता भी अपने मन की निविड़ गहनता मे उलझे हुए अन्तःमुखी प्रयोगवादी कवियो के साथ मेल नही खाती।

यदि यह मान लें कि 'नील कुसुम' की रचनाओ मे बौद्धिक तत्वों के अनुपात के कारण दिनकर उसे प्रयोगवादी रचना सिद्ध करने का मोह नही त्याग

पाये है, तब भी बात नही बनती, क्योंकि 'नील कुसुम' की रचनाओ मे भाव और विचार की संश्लिष्ट स्थिति कुरुक्षेत्र अथवा उर्वशी से अधिक भिन्न नही है। 'नील कुसुम' मे न तो ठोस बौद्धिक तत्व का बोझिलपन है और न अतिवैयक्तिक भाव-तत्व। जिस प्रकार कुरुक्षेत्र और उर्वशी में विचार और अनुभूति के बीच रागात्मक सबध है, वही 'नील कुसुम' मे भी विद्यमान है। अधिक से अधिक इतना कहा जा सकता है कि इस कृति मे राग-विचार संपुष्ट नही है बल्कि दोनो का संश्लिष्ट विधान अविच्छिन्न है। शैली की दृष्टि से भी उसमे प्रयोगवादी काव्य की कोई विशेषता नही दिखाई देती। कविताओ की शब्दावली दिनकर की चिरपरिचित शब्दावली है। एकाध स्थल पर चाय, कउए और भैस जैसे माडर्न और भदेस शब्द अवश्य आ गये है, लेकिन दिनकर ने शब्दो की प्रचलित अर्थ-व्यजना को ही सामान्यतः ग्रहण किया है, उनमे शब्दों की अर्थवत्ता पहले ही की तरह सारगर्भित और व्यापक है। लेकिन उनकी भाषा दुरूहता और अतिवैयक्तिकता के दोषो से बची हुई है। विराम-चिह्नो, अको, सीधे-उल्टे अक्षरो, अधूरे वाक्यो इत्यादि का प्रयोग उन्होने बिल्कुल ही नही किया है। छन्दो पर किये गये प्रयोग भी नाममात्र के लिए ही नये है। तुक, लय और सगीत-विधान प्राय· उनकी पहली रचनाओं के समान ही है। प्रतीक-विधान प्रयोगवादी रचनाओ की भाति अस्पष्ट, दुरूह और अतिवैयक्तिक नही है। निरपेक्ष और वस्तुगत दृष्टि से इन सब पक्षो पर विचार करने के बाद 'नील कुसुम' के विवेचन के लिए प्रयोगवादी 'निकष' का प्रयोग दिनकर के कहने के बावजूद नही किया जा सकता, लेकिन, इसमे भी कोई सन्देह नही है कि 'रेणुका' और 'हुकार' के निकष से भी यहा काम नही चल सकता। ये दोनों रचनाए क्राति और जागृति युग की रचनाए थी जब दिनकर देश-प्रेम का मूल्य आग, तूफान, क्राति और ध्वस से चुकाया करते थे, लेकिन 'नील-कुसुम' की कविताओ का प्रतिपाद्य विषय बदल गया है। एक ओर उनकी समष्टि-चेतना राष्ट्रवाद से अन्तर्राष्ट्रवाद, देश से विश्व की ओर झुकी है, राष्ट्र-देवता का विसर्जन करके उन्होंने मानवतावाद की उपासना आरम्भ की है, वहा दूसरी ओर उनकी बौद्धिक कविताओ का आयाम संकीर्ण हो गया है। 'कुरुक्षेत्र' के विशाल विश्वजनीन आधार-फलक का स्थान अब व्यक्तिचित्रों के छोटे चौखटो ने ले लिया है, लेकिन अधिकतर चित्रो का निर्माण सामाजिक परिपार्श्व मे ही हुआ है। 'नील कुसुम' की कुछ कविताओं मे प्रश्नाकुलता भी है। सामाजिक वैयक्तिकता और बौद्धिकता के समन्वय तथा प्रश्नाकुलता को हम नई कविता का प्रभाव मानना चाहे तो मान सकते हैं, लेकिन मेरे विचार

मे 'नील कुसुम' का सामाजिक व्यक्ति ग्राज का संदेहशील कुठाग्रस्त सामाजिक व्यक्ति नही है और न उसकी बौद्धिकता अनिवादी बौद्धिकता है। उनके प्रश्न भी अधिकतर जिज्ञासा-प्रेरित है। बुद्धि के अतिचार, जीवन के असामजस्य, अनास्था और बौद्धिक उद्विग्नता की तड़पन मे उठे हुए समाधानहीन प्रश्न वह नही उठाते।

'नील कुसुम' के प्रतिपाद्य को मुख्य रूप से चार भागों मे विभाजित किया जा सकता है—

१. युग-प्रेरित शान्तिवादी और मानवतावादी रचनाए
२. विचार-प्रधान सामाजिक और व्यक्तिवादी रचनाए।
३ जिज्ञासा-प्रेरित दार्शनिक रचनाए।
४. स्फुट, कल्पनाप्रधान, शृंगारिक रचनाए।

युग-प्रेरित, शान्तिवादी और मानवतावादी रचनाएं

प्रथम वर्ग की प्रमुख रचनाए हैं—'जनतत्र का जन्म', 'भूदान', 'किसको नमन करूँ मैं', 'राष्ट्र-देवता का विसर्जन' और 'हिमालय का संदेश'। २६ जनवरी १९५० को भारत मे गणतत्र की स्थापना हुई। 'जनतत्र का जन्म' की रचना उसी अवसर पर हुई। भाव-प्रेरित होते हुए भी यह रचना बुद्धिसपुष्ट है। समय के रथ का घर्घर नाद घोषित करता है कि जनता आ रही है, फावडे और हल, राजदण्ड बनने जा रहे हैं। धूल-धूसरिता सोने का शृंगार सजा रही है, विश्व के सबसे विराट जनतंत्र की स्थापना हुई है, 'विपथगा' और 'दिगम्बरी' की सत्रस्त, शोषित, रस्सो से कसी कोड़े खाती हुई जनता अब मुकुट सजा रही है, इस प्रकार के वर्णन मे द्रवीभूत भाव की अभिव्यक्ति है। परन्तु जनता आखिर है क्या? राजनीति के विद्यार्थी के दृष्टिकोण से इस प्रश्न पर विचार करते हुए उनके मन मे प्रश्न उठता है क्या भारतीय जनता के दुर्बल हाथ इस दायित्व को सम्हाल सकेंगे। 'बैलो की जोड़ी' और 'दीपक' के चिह्नो पर अगूठे का निशान लगा कर वोट देने वाली निरक्षर, दलित और शोषित जनता की परिसीमायें क्या उसे राजदण्ड सम्हालने की सामर्थ्य दे सकेंगी? भारतीय जनता की इस दुर्बलता के कारण क्या 'जनतत्र' के सिद्धान्तो की रक्षा हो सकेगी? निम्नांकित पंक्तियो में इसी स्थिति की व्यजना है—

मानों, जनता हो फूल जिसे एहसास नहीं,
जब चाहो तभी उतार सजा लो दोनों में,

अथवा कोई दुधमुंही जिसे बहलाने के
जन्तर-मन्तर सीमित हों चार खिलौनों मे।[1]

इस प्रश्न का उत्तर कविता मे नही दिया गया है और कवि की भावनाये कठोर सत्य की उपेक्षा कर जनता की सामूहिक शक्ति का गुण-गान करने मे लग गई है। इस प्रशस्ति मे उनका भाव-प्रवण व्यक्तित्व ही आगे आ गया है और प्रश्न उनके अवचेतन मे छिप गया है। उस समय तो दिनकर ने कविता का स्वर बदल कर कहा—

हुंकारों से महलों की नींव उखड जाती,
साँसों के बल से ताज हवा में उड़ता है,
जनता की रोके राह, समय मे ताब कहां,
वह जिधर चाहती, काल उधर ही मुड़ता है।[2]

परन्तु आगे चल कर भारतीय प्रजातत्र की इस दुर्बलता की जो परिणति हुई उसी के फलस्वरूप दिनकर के लिए 'अनार्की' जैसी कविता की रचना अनिवार्य हो गई, जिसमे वर्तमान अराजकता, अव्यवस्था और भ्रष्टाचार का चित्रण बडे जोरदार शब्दो मे किया गया है—

भारत में फैली है, आजादी बड़े जोर की।
सुनता न कोई फरियाद है।
देखिये जिसे ही वही जोर से आजाद है।
* * *
अजब हमारा यह तन्त्र है।
नकली दवाइयों का व्यापारी स्वतन्त्र है।
पुलिस करे जो कुछ, पाप है।
चोर का जो चचा है, पुलिस का भी बाप है।
* * *
गण, जन, किसी का न तत्र है।
साफ बात यह है कि भारत स्वतंत्र है।
मित्रता सम्हाले तार-तार की
राज करती है यहाँ चैन से 'एनार्की'।[3]

'नील कुसुम' की 'भूदान' कविता, उनके अस्थायी रूप से बदले हुए मूल्यों

---

१. नील कुसुम, पृ० ५८—दिनकर
२ नील कुसुम, पृष्ठ ५६—दिनकर
३. परशुराम की प्रतीक्षा, पृष्ठ ६१, ६३

का प्रमाण है। अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि इसी प्रकार की रचनाओं के लिए दिनकर अब कहते है कि ऐसी रचनाए लिखकर उन्होने अक्षम्य अपराध किया है। विनोबा और जयप्रकाश आज आध्यात्मिकता और राजनीति के मिलाने की जो भूल कर रहे है, उससे भारतीय राष्ट्रीयता और राजनीति दिन पर दिन उलझती जा रही है। चीन के आक्रमण और पाकिस्तान की शत्रु-नीति का सामना करने के लिए विनोबा और जयप्रकाश जिन अव्यावहारिक और असतुलित सिद्धान्तो और नीतियो का व्याख्यान करते रहते है, दिनकर उनके प्रति बहुत क्षुब्ध है। 'नील कुसुम' की रचना उस युग में हुई थी जब भारत एक ओर स्वाधीनता को अन्तिम लक्ष्य-प्राप्ति समझकर अपनी महान सिद्धि की खुशी मे सास्कृतिक और आध्यात्मिक पुनरुत्थान की बाते सोच रहा था। पूर्व युग के समान इस युग के युवको के पास जुलूसो और हडतालो मे भाग लेकर अपनी शक्ति का उपयोग करने का उत्साह नही था, उदात्त लक्ष्य के अभाव में एक निरुद्देश्य अनुशासनहीनता का भाव सर्वत्र व्याप्त हो रहा था, त्याग-बलिदान, सेवा और समर्पण का स्थान युवक-समारोहो, नाटक, नृत्य, सारगी और तबलो ने ले लिया था। दूसरी ओर परराष्ट्र नीति के क्षेत्र मे शातिवादिता और पचशील की तूती बोल रही थी। पाकिस्तान की ओर से खतरा कम हो गया था और हिन्दी चीनी भाई-भाई के नारो से भारतीय जनता और उससे भी अधिक भारतीय नेता गद्गद हो गए थे। दिनकर पर भी कुछ दिनो के लिए कृत्रिम और अव्यावहारिक आध्यात्मिकता का जादू चल गया। 'नील कुसुम' और नए सुभाषित में उन्होंने विनोबा और जयप्रकाश का नमन आध्यात्मिक पुरुषों के रूप मे किया। बाह्य आक्रमणो के अभाव और विदेशी राज्य की समाप्ति के कारण उनका ध्यान शरीरमूलक भौतिक साधनों से हटकर पूर्णत: साध्य पर टिक गया, 'रश्मिरथी के परशुराम' के हाथ मे अब केवल 'वेद' रह गया, परशु को अनावश्यक समझकर नीचे डाल दिया गया। 'भूदान' कविता मे उन्होंने विनोबा में एक नई ज्योति देखी। व्यक्ति रूप मे ही उन्होंने उनकी अभ्यर्थना नही की प्रत्युत उनके द्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिक क्राति के सिद्धान्तो पर भी विश्वास करने लगे, भूमिहीन कृषको की अपार सेना अपना स्वत्व स्वयं ही प्राप्त कर लेगी। विनोबा की आध्यात्मिक शक्ति समष्टि मे प्रवेश कर वामन से विराट बन जाएगी, आध्यात्मिक क्राति की सफलता के ये स्वप्न उन्होंने प्रायः उन्ही सम्भावनाओ से साथ देखे हैं जिसके साथ वे हिंसात्मक क्रांति की कल्पना किया करते थे।

कृष्ण दूत बनकर आया है, सन्धि करो सम्राट।
मच जायेगा प्रलय, कहीं वामन हो पड़ा विराट।

स्वत्व छीन कर क्रान्ति छोड़ती कठिनाई से प्राण ।
बडी कृपा उसकी भारत में माँग रही वह दान ।[1]

'किसको नमन करूं' कविता मे भी कवि का दृष्टिकोण बदला हुआ है। यहां भी उन्होने शरीर को छोडकर भारत के मन का नमन किया है। जड, भौगोलिक राष्ट्रीय सीमाओ का अतिक्रमण करके भारत की चेतना, आत्मा के सौरभ, स्नेह के स्रोत, समरसता के सिद्धान्त, शाति के घोष, धर्म के दीपक, और मानवता के ललाट-चन्दन को नमन किया है। उनकी दृष्टि यथार्थ धरातल को छोडकर आकाश को पृथ्वी पर उतारने की कल्पना करने लगी है।

'राष्ट्र देवता के विसर्जन' मे राष्ट्रवाद के दुर्बल पक्ष तथा परिसीमाओं की रागात्मक अभिव्यक्ति हुई है। राष्ट्रवाद का जन्म शोषण की भूमि मे होता है, घृणा और उन्माद की मादकता से वह पोषित होता है। राष्ट्र और देश की सीमाओ मे आबद्ध दृष्टि मानव और पृथ्वी को भूल कर, सकुचित हो जाती है। राष्ट्र और देश के नाम पर एक ओर उदात्त भावनाओ का पोषण होता है, ओज और त्याग को बल मिलता है पर दूसरी ओर राष्ट्रीय गौरव और देश-प्रेम के नाम पर अहकार और अभिमान भी ज्वाला बन कर दहक उठता है। शाति के पोषक और रक्षक राष्ट्रो को भी परिस्थितियो की आग मे घिरकर तलवार और बन्दूक का सहारा लेना पडता है। आज सम्पूर्ण विश्व राष्ट्रवादजन्य भय और शका की भावना से ग्रस्त होकर त्रस्त है। सत्रस्त विश्व के लिए छाया खोजते हुए दिनकर सार्वभौम प्रेम, करुणा और बन्धुत्व का आश्रय लेते है। पौराणिक उपाख्यानो और पात्रो को अपने विचारो का वाहक बनाकर उन्होने उनकी नए रूप मे प्रतिष्ठा की है। अहकारजन्य ध्वस और नाश को पार कर जब पुरुष अपनी रचनात्मक शक्तियो को पहिचानेगा, तभी ईर्ष्या, द्वेष, स्पर्धा और घृणा के भस्मावशेष पर प्रेम और करुणा का कमल खिल सकेगा—

विष्णु प्रेम का स्रोत, विष्णु करुणा की छाया,
जब भी यह संसार प्रलय से दब जाता है,
उठती ऊपर अमृत वाहिनी शक्ति पुरुष की,
नाभि कुण्ड से कमल पुष्प बाहर आता है।
खण्ड प्रलय हो चुका, राष्ट्रदेवता सिधारो,
क्षीरोदधि को अब प्रवाह जग का धोने दो,

१ नील कुसुम, पृष्ठ ७९

महानाग फण तोड अमृत के पास झुकेगा,
विषधर पर आसीन विष्णु-नर को होने दो।[1]

'हिमालय का संदेश' मे कुरुक्षेत्र के छठे सर्ग मे उठाई गई समस्या का पुनराख्यान किया गया है। बुद्धि और ज्ञान के मार्ग पर चलता हुआ मनुष्य हृदय को पीछे छोड़ता जा रहा है, विज्ञान मृत्यु का सेवक है और बुद्धि तृष्णा की दासी। 'हिमालय का संदेश' ध्वनिप्रधान नाटक है, जिसके मुख्य पात्र है : एक कवि, युद्ध-देवता और हिमालय। कवि का मन शंकाग्रस्त और चिन्ताकुल है। विभिन्न स्वरो के माध्यम से उसके मन में उठती हुई आशा और निराशामूलक प्रतिक्रियाओं की व्यंजना हुई है, जिनमें हिंसा-अहिंसा, आदर्श और यथार्थ के संघर्ष तथा जीवन के वैषम्यो का चित्रण हुआ है। एक स्वर, मानवता का उद्धार, आग और उत्क्रांति मे देखता है, दूसरा 'बाज पंख मे बंधी कटीली तलवारो के खोलने' मे। विचारो तथा भावनाओ की इसी आंधी मे युद्ध देवता का अट्टहास और गर्जन सुनाई देता है। जिसके अनुसार राष्ट्रवाद युद्ध की जड है, जातीय अहंकार और संकीर्णता को मिथ्या महत्व देकर मानव ने पृथ्वी को खण्ड-खण्ड कर दिया है। जब तक इस खण्ड भावना का अस्तित्व है, युद्ध अनिवार्य है। निम्नलिखित पंक्तियो मे यही व्यंजना है—

मेरा संकल्प, महावसुधा को एक नही होने दूंगा,
मैं विश्वदेवता का भू पर अभिषेक नहीं होने दूंगा।
रेखायें खींच महीतल के सौ खण्ड युक्ति से काटे हैं।
देशों में अलग-अलग झंडे मैंने न व्यर्थ ही बांटे हैं।
इन झण्डों के नीचे पृथ्वी भोगती रहे अंगच्छेदन।
मै राष्ट्रवाद का सखा कौन तोड़ेगा मेरा सम्मोहन।[2]

युद्ध देवता की घोषणा के बाद हिमालय के संदेश मे मानव की खण्डित एकता, विश्व-प्रेम, और निष्काम भोग के सिद्धान्तो की स्थापना कराई गई है।

विचारप्रधान, सामाजिक और व्यक्तिवादी रचनाएं

इस वर्ग की रचनाओं मे व्यक्त बौद्धिक-चेतना के कई रूप है। 'नील कुसुम' 'व्याल-विजय', 'सेतु रचना', 'शबनम की जंजीर', 'आशा की वंशी', 'अर्ध-नारीश्वर,' 'संस्कार' इत्यादि रचनाओ मे सामाजिक पृष्ठभूमि मे पल्लवित और निर्मित व्यक्ति का आशावादी तथा आस्थावादी दृष्टिकोण व्यक्त है। समाज की

---

१. नील कुसुम, पृ० ८८—दिनकर
२. नील कुसुम, पृ० ९४—दिनकर

समग्रता मे व्यक्ति की इकाई का बडा महत्व है। स्वस्थ, विश्वासपूर्ण, देह और आत्मा के बल से भूषित व्यक्ति दृढ और शक्तिशाली समाज की नीव के पत्थर बनते है, इसके विपरीत मानसिक और शारीरिक रूप से रुग्ण, अस्वस्थ, कुठित और विकृत चेतना के व्यक्तियो द्वारा निर्मित समाज कमजोर और निर्बल होता है। प्रथम वर्ग की रचनाए व्यक्ति के भावात्मक और बौद्धिक परिष्कार के उद्देश्य से लिखी गई है। इनका रूप वैयक्तिक भी है और सामाजिक भी। सकलन की प्रथम कविता 'नील कुसुम' मे विश्वास का यही स्वर प्रधान है। जीवन के प्रति दो दृष्टिकोण होते है। एक, जो है उसे ही चरम सिद्धि समझ कर स्वीकार कर लेना, कुछ और की प्राप्ति की न इच्छा करना और न चेष्टा। दूसरा, कामनाओ की माग, महत्वाकाक्षाओ और उदात्त लक्ष्य की पूर्ति के लिए सघर्ष करना, सपनो को सत्य करने, इच्छाओ की मूर्तियो को साकार करने के लिए सघर्ष करना। जिदगी का रस वही लेते है जिनमे आशाओ की भीषिका झेलने की सामर्थ्य होती है, जीवन वही सार्थक है जो किसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए अर्पित होता है—

तुम लाशें गिनते रहे खोजने वालो की,
लेकिन, उनकी असलियत नही पहचान सके ,
मुरदों मे केवल यही जिन्दगी वाले थे
जो धूल उतारे बिना लौट कर आ न सके।[1]

'चाद और कवि' तथा 'व्याल-विजय' मे भी मनुष्य की शक्ति की प्रतिष्ठा तथा उसके प्रति विश्वास की स्थापना हुई है। 'व्याल-विजय' मे कृष्ण की 'कालीयदमन लीला' को नयी प्रतीकात्मक अर्थवत्ता दी गई है। 'व्याल' जीवन के विष का प्रतीक है जो हर व्यक्ति को अपने राग और पर के द्वेष तथा ईर्ष्या के कारण झेलना पडता है। बासुरी मानव की मनःशक्ति की प्रतीक है जिसके द्वारा मनुष्य इस विष को झेलने मे समर्थ होता है। कहा जाता है कि दिनकर ने इस कविता की रचना व्यक्तिगत जीवन के कुछ विष भरे क्षणो को चुनौती देने के लिए की थी। निम्नलिखित पक्तियो मे कवि के आत्मविश्वास और शक्ति की निर्भय और समर्थ घोषणा हुई है—

फूक फूंक विष-लपट, उगल जितना हो जहर हृदय में,
यह बंसी निर्गरल, बजेगी सदा शान्ति की लय मे

---

१. नील कुसुम, पृ० २—दिनकर

पहचाने किस तरह भला तू निज विष का मतवाला ?
मै हूं सांपो की पीठो पर कुसुम लावने वाला।[1]

* * *

विषधारी ! मत डोल कि मेरा आसन बहुत कड़ा है,
कृष्ण आज लघुता में भी सांपो से बहुत बड़ा है।[2]

'जीवन' कविता मे मानव की शक्ति और जीवन के सत्य की स्थापना की गई है। चट्टानो और पाषाणों की नन्ही सी दरार मे जैसे दूब उग कर जीवन के विजय की कहानी कहती है, उसी प्रकार मृत्यु, संघर्ष, विपत्ति सबका सामना करते हुए, जीवन अपना मार्ग बनाता है—

बाल भर अवकाश होना चाहिए,
कुछ खुला आकाश होना चाहिए,
बीज की फिर शक्ति रुकती है कहां ?
भाव की अभिव्यक्ति रुकती है कहां ?[3]

'सेतु-रचना' भी किसी कटु अनुभव की प्रतिक्रिया मे लिखी गई जान पड़ती है। अपनी शक्ति और सामर्थ्य के प्रति पूर्णरूप से विश्वस्त और आश्वस्त होकर दिनकर ने ये पंक्तियां लिखी है—

भूंक रहे जो उन्हें नहीं उत्तर दो
तुम कुरूप हो, ऐसी बात नहीं है।
टूट रहे ये मुझे काट खाने को
तुम पर तो कोई आघात नहीं है।[4]

परन्तु संसार की कुटिल और स्वार्थी दृष्टि न उनके व्यक्ति को विचलित करती है और न कवि को। उन्हे मनुष्य के अक्षय व्यक्तित्व पर विश्वास है, मृत्यु से देह नष्ट हो सकती है, पर आत्मा का वह आलोक जो उनके गीतो मे व्यक्त है, तूफानो और आंधियो को पायल पहना कर जिसने उन्हे अमर बना दिया है, जो निराकार स्वप्नो की आभाओं को सासो के धागो से बाध चुका है कैसे तोड़ा जा सकता है। बकवास करने वालो के प्रति उनका व्यवहार और दृष्टिकोण उनके आत्मविश्वास और दृढता का द्योतक है—

---

१. नील कुसुम, पृ० १०
२. वही, पृ० ११
३. वही, पृ० ३६
४. वही, पृ० ४२

रचो सेतु, जो भाव मूकता मे हो,
दिन ढलने लग गया, उन्हे द्रुत स्वर दो ;
निर्विकल्प हो रहो सेतु-रचना मे,
भूंक रहे जो उन्हें नहीं उत्तर दो।[1]

ससार के प्रति इसी प्रकार का उपालम्भ और अपने प्रति विश्वास 'सस्कार' कविता मे भी व्यक्त है—

जब डंकों के बदले न डंक हम दे सकते,
इनके अपने विश्वास मूक हो जाते है ;
काटता असल मे प्रेत इन्हे अपने मन का
मेरी निर्विषता से नाहक घबराते है।[2]

उपर्युक्त प्राय सभी रचनाए जीवन के कटु और विषम अनुभवो की प्रेरणा से लिखी गई हैं, परन्तु उनमे व्यजित दृढ विश्वास, आस्था और शक्ति का स्वर, उन्हे प्रयोगवादी रचनाओ की कुठित और क्षुब्ध आवाज से पृथक् कर देता है।

'नील कुसुम' की बौद्धिक चेतना के दूसरे रूप मे व्यक्ति का निजत्व गौण और सामाजिक तत्व प्रधान हो गया है। गायक, नर्तकी, कवि की मृत्यु, कवि और समाज इस वर्ग की प्रमुख रचनाए है। इन सभी कृतियो मे कवि ने कलाकार के मर्म को समझने की कोशिश की है, गायक की कला के मूल मे दिनकर ने वेदना देखी है, उसकी कला के आलोक के पीछे मानो किसी की वेदना और आसू प्रेरणा रूप मे छिपे हुए है। पत जी की 'वियोगी होगा पहला कवि' का भाव अधिक मुखर, स्पष्ट और व्यजक रूप मे फूटा है—

तुम्हारी बाँसुरी की तान में, छिप कर रो रहा कोई
गुलाबी आंख अपनी आँसुओ से धो रहा कोई
* * *
कसकती वेदना ऐसे कि जैसे प्राण हिलते हों
किरण सी फूटती मानों तिमिर मे फूल खिलते हो ,[3]

'नर्तकी' मे कलाकार का सामाजिक व्यक्तित्व अधिक उभरा है। कला की साधना मे लीन नर्तकी—समाज मे उपहास का ही पात्र बनती है, वह उन्ही के सामने नृत्य करती है जो उसे सुयश की भिखारिणी समझते है। नर्तकी की साधना का पीयूष-घट उनकी आंखो से छिपा रहता है, अगोचर की वाणी को

---

१. नील कुसुम, पृ० ४२
२. वही, पृ० ६३
३. वही, पृष्ठ २७

अपनी कला के पखो मे समेटती हुई नर्तकी की कठिन साधना को न समझ कर वे केवल उसकी कटि, ग्रीवा, और नयन की बाह्य गति-विधियो से ही उलझ कर रह जाते है। योगी और तपस्वी की सी साधना करने पर भी उसे कोई महत्व नही दिया जाता। वह अनुरजन की चलती-फिरती सामग्री समझी जाती है। कलाकार की निधि है कल्पना और स्वप्न—स्वप्नो को पृथ्वी पर उतारने का प्रयास करते-करते कलाकार की साधना अधूरी ही रह जाती है। कल्पना और यथार्थ के प्रति कलाकार के दृष्टिकोण की बडी सुन्दर और सबल अभि-व्यक्ति इन पक्तियो मे हुई है—

हमारा व्यय ? हवा के खेत मे कुछ स्वप्न बो देना !
हमारी आय ? अम्बर मे हजारो फूल खिलते है।
बहुत है चाहते, रक्खें चरण चट्टान पर लेकिन,
शिलायें भी हमारी बर्फ का निर्माण बन जातीं
पदो की उष्णता का स्पर्श पाते ही पिघलती है।[1]

* * *

जहां तक सत्य की पूजा, वही तक धर्म गेही का,
कला में स्वप्न जब भरते शुरू सन्यास होता है।

'कवि की मृत्यु' कविता अतिरजित भावुकता से आरम्भ होकर बुद्धि की ओर बढी है। गीतकार के मरने पर चाद, सूरज, आकाश, देवता, स्त्री, पुरुष कवि के गुणो का ज्ञान करके उसकी स्मृति मे आसू बहाते है। उसके बाद उसकी कठिन और मौन साधना की सराहना करते हुए उसके प्रति अपनी श्रद्धाजलि इन शब्दो मे अर्पित करते है—

आवरण गिरा, जगती की सीमा शेष हुई,
अब पहुंच नहीं, तुम तक इन हाहाकारों की।
नीचे की महफिल उजड़ गई, ऊपर कल से,
कुछ और चमक उट्ठेगी सभा सितारों की।[2]

'कवि और समाज' कविता का स्वर बिल्कुल उल्टा है। उसमे कवि की करुण कल्पना के स्थान पर उसकी शक्ति का गान हुआ है। इस कविता का कवि केवल आकाश और अदृश्य के सपने नही देखता, बल्कि जीवन के दाह, अनल, शपाओ और गर्जन को अपने व्यक्तित्व मे साकार करता है। वह पृथ्वी

१. नील कुसुम, पृष्ठ ३१
२. वही, पृष्ठ ३४

की पीड़ा का गान करता है, मानव की बेकली, वेदना, स्वेद और श्रम के गीत गाता है। 'मखमल भोगियो' की मखमली सेज पर चिनगारियो की वर्षा करने की कसम खाता है, उसके गीतो मे चट्टानो को तोड कर अपनी राह बनाने की शक्ति है, उसके स्वर मे पाप और अज्ञान के गहरे अन्धकार को भेद कर आग की ज्वाला फैला देने की सामर्थ्य है।

इसी सामाजिक बौद्धिक चेतना का एक और रूप उनकी 'शबनम की जंजीर', 'अर्धनारीश्वर', 'लोहे के पेड अमर होगे', 'नग्नता', 'स्वप्न और सत्य', 'स्वर्ग के दीपक' और 'नई आवाज' इत्यादि कविताओ मे मिलता है। प्रथम तीन कवितायें उनकी परम्परावादी विचारधारा की प्रतीक है। इन कविताओ मे पाषाण और कुसुम, अपार्थिव और पार्थिव, मस्तिष्क और हृदय, भस्म और कुकुम के सामजस्य की स्थापना है, जो दिनकर की परम्परागत विचारधारा का एक मुख्य अग है। 'लोहे के पेड हरे होगे' मे भी भौतिकता पर आध्यात्मिकता, विज्ञान पर कला, मस्तिष्क पर हृदय की विजय की कामना व्यक्त की गई है। इस कविता मे वर्तमान युग की सास्कृतिक और आध्यात्मिक अराजकता और विश्रृ खलता का चित्रण भी किया गया है, वातावरण सिसकियो और चीत्कारो से भरा है, प्रज्ञा और आदर्शों के विभिन्न रूप विश्व को कुछ देने के बदले आपस मे ही टकरा रहे है, आवर्त्तों के विषय-जाल मे फसी बुद्धि निरुपाय होकर टकरा रही है। विज्ञान ध्वस का कारण बन रहा है—मस्तिष्क की इस भूलभुलैया मे दिनकर रास्ता दिखाते है, उनके स्वर आशा से भरे हुए और विश्वास से दृढ हैं—

शीतलता की है राह हृदय, तू यह सवाद सुनाता चल।
धरती के भाग हरे होगे, भारती अमृत बरसायेगी,
दिन की कराल दाहकता पर चादनी सुशीतल छायेगी।
जलदों से लदा गगन होगा, फूलों से भरा भुवन होगा।
लोहे के पेड़ हरे होगे, तू गान प्रेम का गाता चल,
नम होगी यह मिट्टी जरूर आंसू के कण बरसाता चल।[1]

'स्वप्न और सत्य', 'स्वर्ग के दीपक' और 'नई आवाज' मे सौन्दर्य पर सत्य की विजय तथा दोनो के सामजस्य की स्थापना की गई है। यह विचारधारा भी दिनकर की पुरानी विचार-परम्परा का ही विकसित रूप है। 'तुम क्यो लिखते हो'? 'नग्नता', 'अमरता' जैसी कविताओ मे छोटे-छोटे अनुभव खण्डो को अभिव्यक्ति मिली है। साहित्य का प्रयोजन क्या है? प्रथम कविता में दिनकर

---

१. नील कुसुम, पृष्ठ ६७-६८—दिनकर

ने इसी शास्त्रीय प्रश्न का काव्यात्मक उत्तर दिया है। काव्य रचना का उद्देश्य, शेष विश्व के साथ रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना करना है, अथवा अपने असली रूप को शब्दो की पोशाक मे छिपाना ? दिनकर का उत्तर है साहित्य रचना मे अपने को छिपाने की प्रेरणा के मूल मे मिथ्या अह और असत्य महत्व का भाव निहित रहता है। साहित्य कवि के व्यक्तित्व की दुर्बलताओ को छिपाने वाला मुखौटा नही है। उसका प्रयोजन है आत्माभिव्यक्ति, भावनाओ का स्वस्थ और यथार्थ सप्रेषण, कवि के अन्तर की गहराइयो की सच्ची अभिव्यक्ति—

धो डालो फूलों का पराग गालों पर से,
आनन पर से यह आनन अपर हटाओ तो
कितने पानी मे हो इसको जग भी देखे,
तुम पल भर को केवल मनुष्य बन आओ तो
सच्चाई की पहचान कि पानी साफ रहे,
जो भी चाहे, ले परख जलाशय के तल को,
गहराई का वे भेद छिपाते है केवल,
जो जानबूझ गंदला करते अपने जल को।[1]

'नग्नता' कविता मे अनुभव खण्ड का रूप कुछ और ही है। दृष्टि यहा भी विचारप्रधान और बौद्धिक है। सभ्यता के प्रारम्भ मे नारी के शील-सकोच और लज्जा से प्रेरित होकर वल्कल का आविष्कार हुआ, परन्तु आज वस्त्र ही नग्नता प्रदर्शन के साधन बन रहे हैं—

एक नग्नता यह भी है जब तन तो नग्न नहीं है,
लेकिन, मन है विकल आवरण से बाहर आने को,
लज्जा वसनों में अनेक वातायन खोज रही है,
देह पहनती चीर नग्नता अपनी दिखाने को।[2]

'नील कुसुम' की उन रचनाओ को भी इसी वर्ग मे रखा जा सकता है, जिसमे दिनकर अपनी पूर्व परम्परा से जरा हट गए है। पूर्वोक्त कविताओ की विशेषता है उनके बुद्धिप्रेरित प्रतिपाद्य का परम्परित प्रतिपादन। परन्तु 'नील-कुसुम' की कुछ ऐसी रचनाए भी हैं जो प्रतिपाद्य और प्रतिपादन दोनो ही दृष्टियो से नई हैं। इस वर्ग की प्रमुख रचनाएं हैं—दर्पण, भावी पीढी से, नई आवाज, सबसे बड़ी आवाज, काटो का गीत, नीव का हाहाकार।

१. नील कुसुम, पृष्ठ ५१—दिनकर
२. वही, पृष्ठ ५३—दिनकर

'दर्पण' मे आजन्म उद्विग्न मनुष्य की भौतिक और मानसिक व्याधियो के प्रतिबिम्ब के साथ आदर्श और यथार्थ की टक्कर, कल्पना की ऊची उडानो और धरती की काली गहरी रेखाओ की छाया प्रतिबिम्बित है। एक ओर गिरती और ढहती हुई परम्पराए है, दूसरी ओर बदलते हुए जीवन के नए मूल्यो की झाकी दिखाई गई है। इसी पार्श्वभूमि मे दिनकर एक नए युग की कल्पना करते है—वह युग जिसकी सम्भावनाओ के प्रति उन्हे बडा विश्वास है जिसके प्रवर्तको और स्तम्भो के प्रति उन्होने 'नील कुसुम' की पखुड़िया बिखेरी है—

झांकी उस नई परिधि की जो
है दीख रही कुछ थोड़ी-सी
क्षितिजों के पास पड़ी पतली,
चमचम सोने की डोरी सी।
छिलके उठते जा रहे, नया
अंकुर मुख दिखलाने को है;
यह जीर्ण तनोवा सिमट रहा,
आकाश नया आने को है।[1]

'भावी पीढी से' कविता नई पीढी की परम्परा-भजन की प्रवृत्ति को लक्ष्य करके लिखी गई है। 'इलियट' परम्परा को तोडकर चले, यह बात नवयुवको को बहुत पसन्द आई। किन्तु, वे यह देखना भूल गए कि परम्परा की जितनी टूटी कडिया इलियट मे आकर जुडी उतनी पहले और कभी नही जुडी थी। दिनकर के अनुसार 'प्राचीनता और नवीनता के सतही भेद गलत है।' इलियट ने भी कहा है कि नवीनता आकाश से नही टपकती और न कभी प्राचीनता का सर्वथा नाश होता है। इतिहास सर्वथा ध्वस्त युगो की गाथा नही, प्रत्युत ऐसा मान-चित्र है जिसमे भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनो एक साथ जीवित दिखाई देते हैं। हड्डी के भीतर अपने युग का अस्तित्व और पीठिका मे परम्परा का ध्यान, यह साहित्य लिखने की सही मुद्रा है। परन्तु, इलियट मे परम्परा-भजन का जो नाद है, उसे तो हमारे नवयुवको ने सुना, उनके भीतर परम्परा को जोडने वाले जो विचार हैं, उन्हे ही ये कवि पकड नही पाते। वे बार-बार हमे यही बताये जा रहे है कि प्राचीनता उन्हे तनिक भी स्वीकार्य नही है। इसी प्रवृत्ति का थोथापन सिद्ध करने के लिए यह कविता लिखी गई है। साहित्य का वर्तमान बराबर अतीत को अपने साथ लिए रहता है, पूर्व पीढ़ी की प्रवृत्तिया वर्तमान

---

१. नील कुसुम, पृष्ठ ७—दिनकर

पीढ़ी मे, और वर्तमान पीढी का उत्साह तथा ओज पुरानी पीढी को प्रभावित करता रहता है।

मनुष्य की विचार-प्रणाली के शाश्वत सातत्य की स्थापना निम्नोक्त पक्तियो में की गई है—

जिज्ञासा का धुंवा उठा जो मनु के सिर से,
सब के माथे से वह उठता ही आया है,
घटी-बढ़ी पर नहीं तनिक नीलिमा गगन की,
और न बरसा समाधान कोई अम्बर से।

कविता की परिणति परम्परावादी विचार-दर्शन की स्थापना के साथ होती है—

श्रम है केवल सार, काम करना अच्छा है,
चिन्ता है दुःख भार, सोचना पागलपन है।[1]

टेकनीक और प्रतिपाद्य दोनो की दृष्टि से 'काटो के गीत' इस वर्ग की महत्व-पूर्ण रचना है। इस कविता मे वर्तमान युग की विकृतियो की पोल खोली गई है। आर्थिक, आध्यात्मिक और सामाजिक जीवन-दृष्टि का थोथापन नई शैली मे खोलकर रखा गया है। लक्ष्मी का नया जार कुबेर पद पाने की भागदौड मे लगा है, उसे गीत नही काटे चाहिए, सुविधाओ की खोज मे मनुष्य अपने सुख और सामंजस्य को खो बैठा है। सोने की गगरी पर पहरा देते हुए इस विषैले साप पर उच्च शिखर की पुकार का प्रभाव नही पड सकता, उसकी भोग-जड़ आत्मा उदात्त भावो के सुख को भूल बैठी है, परन्तु दिनकर का स्वर यहा भी आशावादी है, उन्हे विश्वास है कि फूलो के ये प्रेमी काटो का सामना नही कर सकते, फिर फूल भी कैसे ? कागज़ के—जिनका सौरभ अन्तर मे नही बसता, ऊपर से छिड़का जाता है—जैसे मध्यकालीन सस्कृति की लाद-फाद समाप्त हो गई है, जामे, कलगिया और मुकुट हवा मे उड गए हैं—वैसे ही आज की सभ्यता के ये विकृत लक्षण भी अस्थायी है, मिट जाने वाले है—यहा भी दिनकर ने गाधी और विनोबा के आदर्शों के अनुसरण मे ही विश्व का कल्याण देखा है। मार्क्स के समकक्ष गाधी को खडा करके उनके नाम के दुरुपयोग द्वारा अपनी स्वार्थपूर्ति और सचय-वृत्ति को साधने वालो से उनका कहना है—

कहो, मार्क्स से डरे हुओं का
गांधी चौकीदार नहीं है;

---

१. नील कुसुम, पृष्ठ १८—दिनकर

· सर्वोदय का दूत किसी
सचय का पहरेदार नहीं है।[1]

'नीव का हाहाकार' मे भारतीय प्रजातन्त्र और राजनीतिक व्यवस्था के मूल मे छिपी हुई दुर्बलताओ और विषमताओ की करुणा की आक्रोशपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। प्रजातन्त्र के ऊचे और भव्य प्रासाद की नीव मे दुर्बलों और पीडितो की कराह सुनाई पड रही है—

प्रासाद को स्थायी बनाने के लिए आवश्यक है कि नीव के पत्थरो को हटा कर इन जीवित मुर्दों को मुक्त किया जाय। यदि इस तथ्य की उपेक्षा की गई तो यह वज्र की दीवार टूटकर गिर जाएगी, दुर्बलो की आहे आग की ज्वाला बन कर सारी व्यवस्था को मिटा देगी—
क्योकि—

वज्र की दीवार जब भी टूटती है,
नींव की यह वेदना विकराल बनकर छूटती है।
दौड़ता है दर्द की तलवार बन कर
पत्थरों के पेट से नरसिंह ले अवतार
कांपती है वज्र की दीवार।[2]

जिज्ञासा-प्रेरित दार्शनिक रचनाएं

'नील कुसुम' की कुछ रचनाए दार्शनिक पीठिका मे लिखी गई हैं जिनमे मुख्य है 'नीरव प्रकाश', 'सकेत', 'अशब्द', 'नासदीय', 'इच्छाहरण', 'सब से बडी आवाज', 'ये गान बहुत रोए' तथा 'गृह-रचना'। 'नीरव प्रकाश' मे नैसर्गिक अनुभूतियो और अलौकिक भावो की अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन किया गया है। शब्दो की सकेतात्मकता उनकी अर्थवत्ता को बढाती है, परन्तु अछूते भावो की गहराई का आनन्द गू गे के गुड के आनन्द की तरह होता. है, जहा पहुच कर वाणी मूक हो जाती है। 'सबसे बडी आवाज' मे मौन के बल की अभिव्यक्ति की गई है। मुखरता और वाचालता सतही भावो की प्रतिक्रिया के अनुभव है, परन्तु मौन, गम्भीरता का घोष है, जिस गहराई मे काल की निस्सीमता सिमट आती है। व्यक्त करके, सिर धुन करके व्यक्ति केवल अपनी शक्ति का क्षय करता है, मूक होकर वह उसी शक्ति से शक्तिशाली बन जाता है—सबसे बडी आवाज मूक है, प्रच्छन्न है। 'सकेत' 'अशब्द' और 'ये गान बहुत रोये'

१. नील कुसुम, पृष्ठ ६७
२ वही, पृष्ठ ७१

कविताओ मे छायावाद की रहस्य-चेतना का विकसित रूप मिलता है, परन्तु यह चेतना केवल काल्पनिक और रागात्मक नही है, यहा दिनकर, एक तत्वदर्शी दार्शनिक की भाति अपनी जिज्ञासु बुद्धि के प्रश्नो का समाधान प्रस्तुत कर रहे है जिनमे विचार, भाव और कला सपृक्त है। कुरुक्षेत्र के समष्टि-दर्शन की भाति ही चिन्तन के इन क्षणो मे भी दिनकर ने पृथ्वी का आधार नही छोडा है। दर्शन को जीवन से उच्चतर अथवा पृथक् न मान कर उसे उसी की रगो मे पिरो कर प्रस्तुत किया है। 'नासदीय' और 'गृह-रचना' इस क्षेत्र मे नये प्रयोग माने जा सकते है जहा पौराणिक, दार्शनिक मान्यताओ और पात्रो की नई बौद्धिक चेतना की पृष्ठभूमि मे नई प्रतिष्ठा की गई है। 'नासदीय' सूक्त का सारार्थ है 'न है न नही है, है भी और नही भी है।' अस्तित्व और अनस्तित्व की इसी उलझी हुई गुत्थी के दोनो पक्षो पर विचार करते हुये दिनकर इस निष्कर्ष पर पहुचे है—

ठहरो अगम प्रश्न के स्रोतो ! मन मे कुछ गुनने दो।
अपना समाधान अपनी ही धारा में सुनने दो।[1]

पौराणिक प्रसिद्धि है कि लोमश ऋषि ने स्थायी रूप से गृह नही बनाया। गृह-रचना को सकीर्ण जीवन-दृष्टि का प्रतीक मान कर दिनकर ने उस पर अपने विचारो का महल खडा किया है। गृह की सीमाओ मे बंध कर व्यक्ति की दृष्टि सकुचित हो जाती है, घर बनाने का अर्थ है बृहत् विश्व और महाकाश से अपने को विच्छिन्न कर लेना, खुले आकाश और मुक्ति के सुखद और स्वस्थ प्रभाव से वचित होकर सुरक्षा की अति की भावना सासो मे अवरोध उत्पन्न करती है। प्राणो पर लक्ष्मण रेखा लगा देती है—झझाओ को झेल कर तथा दोपहर की किरणो के तेज से प्राप्त होने वाली जीवनीशक्ति से व्यक्ति वचित हो जाता है, दिनकर का कर्मठ व्यक्तित्व सुख और सुविधाओ की शीतलता मे पलने वाले व्यक्तियो के ठडे लहू, प्रेरणाहीन प्राणशक्ति, तथा मरी हुई चादनी ओढ कर सोने वालो को केवल दया और करुणा की दृष्टि से देखता है परन्तु यहा भी उनका समन्वयवादी व्यक्तित्व सामजस्य खोज लेता है—

मिल सकती ताजगी अगर वातायन बड़े-बड़े हों,
मगर, खिड़कियां सन्धिपत्र के ही आखिर पन्ने हैं।
ये पन्ने खुलते जब रातों में मिठास होती है,
हो जाते ये बन्द जभी तूफान बड़ा आता है।[2]

---

१. नील कुसुम, पृष्ठ ४७—दिनकर
२. नील कुसुम, पृ० ५६—दिनकर

यद्यपि, इन दार्शनिक रचनाओ का आकाश छोटा हो गया है, परन्तु उनकी गहराई बढ गई है। आयाम की सकीर्णता ने दिनकर की विचार-कल्पना को सूक्ष्मता और विस्तार मे जाने का अवसर दिया है।

स्फुट, कल्पनाप्रधान, शृंगारिक रचनाएं

'नील कुसुम' के चतुर्थ वर्ग की रचनाओ को छायावाद की सौन्दर्य-कल्पना और रसवन्ती की शृ गार-भावना का अवशेष माना जा सकता है। आनन्दातिरेक कविता मे एक रूमानी मदोन्माद है। 'नील कुसुम' की अन्य कविताओ का बुद्धि तत्व तथा विचार यहा आकर तिनके की तरह लुप्त हो गया है—

नींद है वह जागरण जब फूल खिलते हों,
चेतना के सिन्धु में निश्चेत प्राणों को;
उर्मियों मे फूटते से गान मिलते हों।

* * *

मीठा बहुत उल्लास यह, मादक बहुत अविवेक यह,
निस्सीम नभ, सागर अगम, आनन्द का अतिरेक यह।[1]

'चन्द्राह्वान' और 'पावस का गीत' मे प्रकृति को आलम्बन रूप मे ग्रहण किया गया है। ये गीत दिनकर की काव्य-चेतना के मोड के नही, केवल कुछ देर के लिए रुचि-परिवर्तन के प्रयास के द्योतक है।

निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि दिनकर ने 'नील कुसुम' मे, प्रयोगवादी कवियो से दृष्टि-ग्रहण की है, परन्तु यह अर्जित दृष्टि उनके अपने सस्कारो की गहराई में लिपट कर नये कवियों की रचनाओ से अधिक स्वस्थ, सतुलित और प्रौढ बन गई है।

'नये सुभाषित' मे लगभग सौ विषयो पर कोई दो सौ कण्डिकाये सगृहीत हैं। जिन्हे और किसी नाम के अभाव मे दिनकर ने 'सुभाषित' नाम दिया है। ये अवकाश के क्षणो की रचनाए हैं। अनेक सुभाषितो पर विदेशी साहित्य का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव मिलता है। विषय की विविधता का अनुमान तो उनकी संख्या से ही लगाया जा सकता है। एक ओर प्रेम, सौन्दर्य, यौवन और विवाह सम्बन्धी फुलझड़ियां हैं तो दूसरी ओर पत्रकार, अभिनेता, आलोचक और कवियो की रगडाई हुई है, कुछ सुभाषितो मे धर्म, नीति, दर्शन, राजनीति और सस्कृति की गम्भीर और मार्मिक झलकियां है, तो कुछ मे आख-कान, आलस्य-मूर्ख और क्वारों का मुक्त और हास्यपूर्ण विश्लेषण है। अध्ययन, विज्ञान, साहस, तथ्य, और सत्य, भूल, अनुभव, विकास, नाटक इत्यादि विषयो

---

१ नील कुसुम, पृ० ४०

से सम्बद्ध कण्डिकायें दिनकर की वाक्‌विदग्धता की परिचायक हैं। विनोद-गोष्ठी मे जैसे ससार भर के व्यक्ति और घटनाये चर्चा का विषय बन जाती है, उसी प्रकार दिनकर की इस विनोद-गोष्ठी मे मार्क्स, फ्रायड, गाधी, जवाहर, जयप्रकाश, विनोबा सबको समेट लिया गया है। दिनकर की काव्य-चेतना के विकास मे इन रचनाओ का वही योग-दान है जो मजिल की ओर बढ़ते हुये राही के लिये, यात्रा के पडावो का होता है। ऊबड-खाबड, पथरीली राहों के श्रम को हास्य, विनोद, प्रमोद और विश्राम द्वारा दूर कर वह आगे का रास्ता पार करने की शक्ति अर्जित करता है। इन सुभाषितो को भी दिनकर के साहित्यिक सघर्ष के मार्ग का पडाव माना जा सकता है।

कुछ सुभाषितो मे समष्टि-चेतना की गम्भीरता जैसे बरबस आ गई है। हँसी-विनोद मे जिस प्रकार मन की तहे खुल जाती हैं और एकाएक वातावरण गम्भीर हो उठता है वैसे ही 'भारत' और 'गाधी' शीर्षक सुभाषितो मे भारत मे बढते हुए आन्तरिक भ्रष्टाचार, कृत्रिम आध्यात्मिकता, पाश्चात्य और भारतीय सस्कृतियो के सगम से उद्‌भूत जीवन के उलझे हुये मूल्य, राजनीतिक दलबन्दियो और गुटबन्दियो के हथकण्डे, भारत की विदेशनीति का मिथ्या महत्वांकन इत्यादि इन सुभाषितो का विषय बन गया है। इनमे व्यग्य के छीटों के साथ आक्रोश और चिन्तन की गम्भीरता भी है।

दिनकर की समष्टि-चेतना की अन्तिम और चरम अभिव्यक्ति हुई है 'परशुराम की प्रतीक्षा' मे। चीन के आक्रमण के प्रति दिनकर की प्रतिक्रियाओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि समय की माग ढीली पडने पर चाहे वे रसवन्ती मे रमे, 'उर्वशी' की साधना करें, 'नील कुसुम' के प्रयोग करें अथवा सुभाषितकार बन कर हँसी और व्यंग्य की फुहारे उडायें, पर मूलत वे युग के चारण हैं, समय की पुकार उनके रक्त मे आग भर देती है, उनका गम्भीर घोष आक्रोश के गर्जन मे परिवर्तित हो जाता है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' चीनी आक्रमणकाल मे लिखी गई सबलतम कविता है। उसकी प्रेरणा आक्रोशमूलक है इसमे कोई सन्देह नही है, पर जब किसी देश की जनता का आक्रोश सामूहिक और सगठित रूप से व्यक्त होता है तभी क्रान्तियो का जन्म होता है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' चीन के आक्रमण की तात्कालिक प्रतिक्रिया मात्र नही है। उसमे भारतवर्ष की राजनीति और जीवन-दर्शन के अनुदिन गिरते हुए स्तर के कारणो का अध्ययन, मनन और विवेचन करके दिनकर ने अपनी पुरानी मान्यताओ का पुनरावर्तन किया है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' का विचार-दर्शन हुकार और कुरुक्षेत्र का सम्मिलित और संतुलित विचार-दर्शन ही है। 'हुकार की आग' ब्रिटिश साम्राज्य-

वाद को जला-डालने के उद्देश्य से बरसाई गई थी, और 'कुरुक्षेत्र' मे विश्व-युद्ध की पृष्ठभूमि के कारण उस आग को बुद्धि के शीतल जल के छीटो से सतुलित किया गया था। 'कुरुक्षेत्र' मे उन्होने जिन स्थितियो का चिन्तन किया था, एक आक्रान्त देश के विशिष्ट नागरिक होने के नाते आज वे उसी के भुक्त-भोगी है। यह आक्रोश, उनका व्यक्तिगत आक्रोश नही है, दिनकर इस कविता मे जनमानस का प्रतिनिधित्व कर रहे है। इस प्रसग मे, श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' के सार्थक और सटीक व्याख्यान को उद्धत करने का लोभ-सवरण नही हो रहा है। 'परशुराम के छन्दो का भाव है जन जन का, पर प्रभाव है कवि का, तो भाव को प्रभाव देकर दिनकर जनमानस के कवि का इतिहास पद पा गए है। अब से ठीक ५१ वर्ष पूर्व जन-जन की भावना को छद-बद्ध किया था कवि मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत भारती' मे, और इतिहास पद पाया था।··· आखे खोलता, अगडाई लेता जन-मन भारत भारती है तो आखें तरेरता, मुट्ठी बाधता क्रुद्ध जन-मन परशुराम की प्रतीक्षा है।'[1]

'परशुराम की प्रतीक्षा' मे दिनकर की युद्ध सम्बन्धी नई और पुरानी कवि-ताये संकलित है। पुरानी कविताओ की चर्चा सामधेनी की काव्य-चेतना के अन्तर्गत की जा चुकी है।

चीन के आक्रमण पर, युद्धसम्बन्धी उनकी नई कविता 'जौहर' सबसे पहले दृष्टि मे आई। ऐसा लगा जैसे सोता हुआ शेर जाग कर अभी केवल अंगडाइया ले रहा है। इस कविता मे चीनी आक्रमण के प्रति जनता के आक्रोश और उत्तेजना तथा भारतीय सेना की प्रारम्भिक पराजयो से उत्पन्न अवसाद का चित्रण हुआ है। 'जनता जगी हुई है', 'आज कसौटी पर गाधी की आग है' 'अहिंसावादी का युद्ध गीत' और 'आपद्धर्म' मे दिनकर का विचारक और दार्शनिक ही प्रबुद्ध हुआ है। उनका दर्शन आकाश की ऊचाई को छूता हुआ भी पृथ्वी का आधार नही छोडता। जिस आधार के बिना दर्शन का अनुसरण करके त्रिशकु की स्थिति ही हाथ आती है। 'आज कसौटी पर गाधी की आग है' नामक कविता मे राष्ट्र-अग्रणी की पशु न बनने की आज्ञा को चुनौती दी गई है और आपद्धर्म की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया गया है। वास्तव मे 'कलिंग विजय' के अशोक, 'कुरुक्षेत्र' के युधिष्ठिर और आज के जवाहर एक ही विचार-परम्परा के तीन प्रतिनिधि हैं। अन्तर केवल इतना है कि पहले दो, युद्धजन्य ध्वस के उत्तरदायित्व के कारण ग्लानियुक्त है। तीसरा उनसे मिली हुई अहिंसा

---

१. जागो अब परशुराम, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, साप्ताहिक हिंदुस्तान, १४ जुलाई, १९६३

और क्षमा के सस्कारो से मुक्त होने मे असमर्थ है। जवाहर के व्यक्तित्व मे छिपे हुए अशोक, युधिष्ठिर और गाधी के सस्कारो की दिनकर सराहना करते है—

अब भी पशु मत बनो कहा है वीर जवाहरलाल ने।
अन्धकार की दबी रोशनी की धीमी ललकार,
कठिन घडी मे भी भारत के मन की धीर पुकार।
सुनती हो नागिनी! समझती हो इस स्वर को?
देखा है क्या कही और भू पर उस नर को—
जिसे न चढ़ता जहर न तो उन्माद कभी आता है
समर भूमि मे भी जो पशु होने से घबराता है?

परन्तु यह सस्कार, यह विवेक, यह ज्ञान और द्वन्द्व आज की समस्या का समाधान नही है। आज के उमडते हुए ज्वार का उत्तर है प्रतिशोध। आज जनता को हमारी पुण्यभूमि को रौंदने वाले का मस्तक चाहिए। युद्ध के समय प्रतिकार ही पुण्य है इसीलिए दिनकर ने निर्भीक और निर्द्वन्द्व होकर राष्ट्र-अग्रणी की मानव बने रहने की आज्ञा को चुनौती दी है। मन और कर्म का असामजस्य जब तक बना रहेगा, जब तक शौर्य हमारी सास्कृतिक चेतना का एक अग बन कर हमारी रग-रग मे समा नही जाता इस द्विधापूर्ण स्थिति मे पशु की जीत होगी, मनुष्य हार जाएगा इसीलिए दिनकर सबके सामने खुला समाधान रखते हुए राष्ट्र के सूत्रधार को जनमानस की भीष्म प्रतिज्ञा और ज्वलित अगारमयी भावनाओ से अवगत कराते है—

खड्ग सींचा जाता है
नही युद्ध में गंगा के जल की फुहार से।
दबा पुण्य का वेग अखंड़िया गीली मत होने दे
कस कर पकड़ कृपाण मुट्ठियां ढीली मत होने दे
ऋषियों को भी सिद्धि तभी तप से मिलती है
पहरे पर जब स्वयं धनुर्धर राम खड़े होते हैं।

युद्ध में द्विधा सब से बड़ा पाप

परिस्थितियो की विवशता की दुहाई देकर, अवसाद-ग्रस्त होकर, आसू बहा कर लडना युद्ध का समाधान नही है। केवल गर्जन, तर्जन, रोष और आवेश-प्रदर्शन से भी उस उद्देश्य की प्राप्ति नही की जा सकती जो हमे चाहिए। बल्कि सच्चा शूर-धर्म है आत्म गौरव के प्रति जागरूकता, निर्भीकता और द्विधामुक्त चिन्तन। हर विजय के पीछे मन का दृढ़ संकल्प प्रधान होता है। जहां युद्ध,

शुद्ध सकल्प, आशा, साहस और विचार द्वारा प्रेरित होता है, वही विजय होती है। कहने की आवश्यकता नही कि दिनकर को यह सब बाते समय की मांग के कारण ही कहनी पडी है। जिस अग्नि के लिए उन्होने जनता का आह्वान किया था उसके अनुकूल वातावरण उन्हे नही मिला। 'गाधी के शान्ति सदन मे आग लगाने वाले' भयानक विषधर का फण कुचल देने के लिए एक ओर जनता मे उबाल है दूसरी ओर राष्ट्रनायको और सूत्रधारो के वक्तव्यो मे वय और सस्कारजन्य शान्ति और समझौते की आवाज़ बढती ही जा रही है। यही दिनकर उद्विग्न हो उठे है। कर्म-अकर्म, धर्म-अधर्म की द्विधा से कुठित हो मानवीय मूल्यो की दुहाई दे दे कर युद्ध-नीति का निर्धारण करने वालो के प्रति उनका सन्देश है—

> युद्ध मे जीत कभी भी उसे नहीं मिलती है
> प्रज्ञा जिसकी विकल, द्विधा-कुंठित कृपाण की धार है।
>
> * * *
>
> विजयकेतु गाड़ते वीर जिस गगन जयी चोटी पर
> पहले वह मन की उमंग के बीच मढ़ी जाती है
> विद्युत बन छूटती समर में जो कृपाण लोहे की
> मुट्ठी में पीछे, विचार में प्रथम गढ़ी जाती है।

आवेश यदि विवेक और कर्म-सपुष्ट न हो तो निरर्थक है, इसीलिए जनता को सम्बोधित करके वे कहते है—

> किन्तु, बुलाने को जिसको तू गरज रहा है,
> उसे पास लाने में केवल गर्जन नहीं समर्थ है।
> रोष घोष स्वर नहीं, मौन शूरता मनुज का धन है
> और शूरता मात्र नहीं अंगार,
> शूरता नहीं मात्र रण मे प्रकोप से धुंधुआती तलवार,
> शूरता स्वस्थ जाति का चिर अनिद्र जाग्रत स्वभाव,
> शूरत्व त्याग, शूरता बुद्धि की प्रखर आग।

पापी कौन ? 'मनुज से उसका न्याय चुराने वाला'

उपर्युक्त पक्ति 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म ने युधिष्ठिर की ग्लानि का समाधान करने के लिए कही थी। वर्तमान महाभारत मे कर्म और शान्ति के नाम पर उठती हुई द्विविधाओ का निराकरण करने के लिए कवि ने फिर भीष्मनाद किया है—

> पापी कोई और, चित्त क्यों म्लान करें हम ?
> भारत में जो निधि मनुष्यता की संचित है

क्यों पशुत्व भय से उसका बलिदान करें हम ?
किसे लीलने को आई यह लाल लपट है ?
गांधी पर यदि नहीं और किस पर संकट है ?

* * *

गांधी की रक्षा करने को गांधी से भागो ।

'परशुराम की प्रतीक्षा' से पहले लिखे गए इन गीतो मे कुरुक्षेत्र का भीष्म ही मस्तिष्क के स्तर पर बोल रहा था लेकिन कोलम्बो प्रस्ताव की स्वीकृति के बाद से तो जैसे दिनकर पर हिंसा और प्रतिशोध का जनून चढ गया, और वे फिर 'रेणुका' और 'हुकार' के युग मे पहुच कर आग बरसाने लगे, 'सामधेनी' का पाठ कर युद्धाग्नि मे आहुति डालने लगे । उनका विचार है गाधी और गौतम की रक्षा करने के लिए 'परशुराम' को अवतार लेना होगा, जिसे चीन से पराजय का कलक 'लोहित' कुड मे धोना पडेगा ।

आज का समाधान अध्यात्म दर्शन नही

निवृत्तिमूलक अथवा कोमल मधुर भावनाओ का पोषण करने वाले दर्शन से आज हमारे राष्ट्र की समस्या नही सुलभ सकती । आध्यात्मिकता-प्रधान राष्ट्र का तेज नष्ट हो जाता है—

उपशम को ही जो जाति धर्म कहती है
शमदम विराग को श्रेष्ठ कर्म कहती है
दो उन्हे राम तो मात्र नाम ले लेंगी,
विक्रमी शरासन से न काम वे लेंगी ।
नवनीत बना देती भट अवतारी को
मोहन मुरलीधर पांचजन्य धारी को ।

समय की माग को न पहिचान कर जीवन के उदात्त गुणो और मानवीय मूल्यो का झण्डा उठाकर जनता का उत्साह ठडा करने वालो के प्रति दिनकर कही-कही बहुत ही कटु हो गए है—

गीता में जो त्रिपिटक निकाय पढ़ते है
तलवार गला कर जो तकली गढ़ते हैं
सारी वसुन्धरा मे गुरुपद पाने को
प्यासी धरती के लिए अमृत लाने को,
जो संत लोग सीधे पाताल चले है
अच्छे हैं अब (पहले भी बहुत भले हैं)

देश की पराजय का कारण उनकी दृष्टि मे यही आध्यात्मिकताजन्य पलायनवादी जीवन-दर्शन है। जनता के प्रति उनका सन्देश है—

जो पुण्य-पुण्य बक रहे उन्हें बकने दो,
जैसे सदियां थक चुकी उन्हे थकने दो।
पर देख चुके हम तो सब पुण्य कमा कर
सौभाग्य, मान, गौरव अभिमान गंवा कर।
वे पिएं शीत तुम आतप घाम पियो रे।
वे जपे राम तुम बनकर राम जियो रे।

दिनकर ने भारत के उज्ज्वल भविष्य की कल्पना उसके पूर्ण सैन्यीकरण मे ही की है, उनके लिए राष्ट्र के सम्मान तथा सस्कृति की रक्षा का यही एक मार्ग है। एक हाथ मे परशु और दूसरे मे वेद लेकर ही भारतीयता की रक्षा की जा सकती है। उद्दाम ध्वसक शक्ति के द्वारा ही भारत पर ललचाई नजर डालने वालो को उचित शिक्षा दी जा सकती है इसीलिए उन्होने शकर, गौतम और अशोक का इन शब्दो मे आह्वान किया है—

पर्वतपति को आमूल डोलना होगा,
शंकर को ध्वंसक नयन खोलना होगा।
गौतम को जयजयकार बोलना होगा।

आज कुरुक्षेत्र का भीष्म फिर 'हुकार' कर कृशानु-उद्दीपक 'सामधेनी' का उच्चार कर रहा है—

एक वस्तु है ग्राह्य युद्ध में,
और सभी कुछ देय है;
पुण्य हो कि हो पाप,
जीत केवल दोनों का ध्येय है।

निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि दिनकर की समष्टि-मूलक काव्य-चेतना अभाव से भाव, निवृत्ति से प्रवृत्ति, दिवास्वप्नो से चिन्तन और कल्पना से कर्म की ओर अग्रसर हुई है। उसका मूल रूप भाव-प्रेरित रूमानी है। बुद्धि-विवेक द्वारा विरोधी सत्ताओ के साथ सामजस्य की कल्पना वे नही करते, कर ही नही सकते। उनके पास अव्यवस्था और अन्याय के उन्मूलन और उच्छेदन के अतिरिक्त और कोई समाधान नही है। उनका मार्ग समझौते का नही विद्रोह और क्रान्ति का मार्ग है। उनकी दृष्टि विप्लव की दृष्टि है। राष्ट्रीय सघर्ष के दिनो मे महात्मा गाधी के असहयोग आन्दोलन से उनका सदैव मतभेद रहा, केवल चुपचाप मार खाना उनकी समझ मे कभी नही आया और न उनका यह

विश्वास बना कि केवल भीख मागने से स्वतन्त्रता मिल सकती है अथवा उसकी रक्षा की जा सकती है।

दिनकर की क्रान्ति का रूप निरुद्देश्य-ध्वसमूलक नही है। उनके लिए अराजकतावादी अथवा अव्यवस्थावादी इत्यादि शब्दो का प्रयोग भ्रामक है। शरत्चन्द्र ने सुभाष के व्यक्तित्व मे 'सव्यसाची' का स्वप्न पूरा देखना चाहा था, सव्यसाची—जिसका मार्ग भवर, तूफान और बवण्डर का मार्ग था—जिसकी मजिल अनिर्दिष्ट और अनिश्चित थी, जब क्षितिज के पीछे का आलोक, दमन और शोषण की घनघोर तमिस्रा मे छिपा हुआ था। दिनकर ने बवडर, तूफान और तमिस्रा के बाद स्वतन्त्रता-सूर्य का उदय भी देखा, जिसकी किरणो के आलोक मे वह देश से विश्व की ओर बढे, हिमालय की उत्तुग प्राचीरो और महासागरो की उत्ताल लहरो का अतिक्रमण कर सम्पूर्ण पृथ्वी को अपनी चेतना मे समेटना चाहा, पर क्षितिज पर उदित, बालारुण मे अकस्मात् ही ग्रहण लग गया और दिनकर को फिर हिमालय के इस पार लौट आना पडा। अन्धकार मे सव्यसाची के लिए मार्ग बनाने वाली थी उसके हृदय मे जलती हुई मशाल और जेब मे छिपी हुई बारूद। 'सूर्य-ग्रहण' के कलकपूर्ण काले धब्बो को मिटाने के लिए दिनकर ने भारत के भाग्य-पुरुष 'परशुराम' के एक हाथ मे वेद और दूसरे मे परशु दिया है। वेद धर्म, सस्कृति और दर्शन की रक्षा के लिये, और परशु, पापी, अधर्मी, अत्याचारी और लोलुप शत्रुओ की गर्दन उडाने के लिए। यह भाग्य-पुरुष कोई विशिष्ट व्यक्ति नही, है 'स्वय हम और तुम' है। उत्तेजित और क्रुद्ध भारत है—विशुद्ध भारत। 'काल के चारण' दिनकर उसी की अभ्यर्थना कर रहे हैं—

> रह जायेगा नहीं ज्ञान सिखला कर,
> दूरस्थ गगन में इन्द्रधनुष दिखला कर,
> वह लक्ष्य-बिन्धु तक तुमको ले जायेगा,
> उंगलियां थाम मंजिल तक पहुंचायेगा।[1]
> वृक हो कि व्याल जो भी विरुद्ध आयेगा,
> भारत से जीवित लौट नहीं पायेगा।
> संसार धर्म की नई आग देखेगा,
> मानव का करतब पुनः नाग देखेगा।[2]

ग्रहण के धब्बे दिन पर दिन काले पड़ते जा रहे है, कलक के दाग गहरे हो रहे है, उन्हें मिटाने के लिए 'परशुराम की प्रतीक्षा' है।

१. परशुराम की प्रतीक्षा, पृष्ठ १७—दिनकर
२. वही, पृष्ठ ११

चौथा अध्याय

दिनकर की काव्य-चेतना का विकास—२

शृंगार-चेतना और नारी-भावना

दिनकर मुख्यत ओज और पौरुष के कवि है। पिछले अध्याय मे जिन कृतियो के आधार पर उनकी काव्य-चेतना के विकास का निरूपण किया गया है उनमे उनकी समष्टि-चेतना प्रधान और वैयक्तिक चेतना गौण तथा परोक्ष रही है। उसके अन्तर्गत विवेचित रचनाओ मे उनके राग का रूप वेदना अथवा उत्साह मिश्रित तथा समष्टि के प्रति उन्नयनित है। दिनकर के राग का दूसरा रूप एकान्त वैयक्तिक है जिसके कुछ सूत्र रेणुका की रचनाओ मे मिलते है परन्तु जिनका सम्यक् रूप विकास रसवन्ती मे और चरम परिणति उर्वशी मे होती है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि दिनकर की काव्य-प्रेरणा मे वैयक्तिक और समष्टिगत अनेक विरोधी और अविरोधी तत्व साथ-साथ विद्यमान रहे है। क्रान्तिकारी और राष्ट्रीय कवि के पद पर प्रतिष्ठित हो जाने के बाद रसवन्ती की रसमयी भावनाओ को सार्वजनिक रूप से जनता के समक्ष रखने में दिनकर का संकोच और भय स्वाभाविक था, क्योकि समष्टि से व्यष्टि की ओर लौटना प्राय उसी रूप मे ह्रास का चिह्न माना जाता है जैसे कि अध्यात्म-साधना से विरत और च्युत होकर कोई व्यक्ति कंचन और कामिनी की ओर लौट आए। पथभ्रष्ट साहित्यकार की स्थिति योगभ्रष्ट साधक की स्थिति से अधिक भिन्न नही होती। रसवन्ती को प्रकाश मे लाते समय दिनकर के मन मे यही सकोच था। समष्टि-चेतना के काव्य मे उनकी भावनाओ का उन्नयन हुआ था, रसवन्ती मे उनका उद्रेक व्यक्त है। अनेक आलोचको ने रसवन्ती के दिनकर को पलायनवादी मानकर उन पर यथार्थ और सघर्ष से कायरतापूर्वक मुँह मोड़ लेने का दोषारोपण किया है, लेकिन जैसा कि पहले कई बार कहा जा चुका है, दिनकर की काव्य-चेतना मे व्यक्ति और समष्टि, सुन्दर और सत्य, ओज और प्रेम, प्रवृत्ति और निवृत्ति साथ-साथ चले है। द्वन्द्व गीत का धुवा, हुकार की आग और रसवन्ती का रस उनके हृदय मे एक साथ विद्यमान रहे है। दिनकर ने अपनी काव्य-चेतना के इस वैयक्तिक रूप को बिना किसी हिचक और लज्जा

के स्वीकार किया है—"सस्कारो से मै कला के सामाजिक पक्ष का प्रेमी अवश्य बन गया था, किन्तु मन मेरा भी चाहता था कि गर्जन-तर्जन से दूर रहू और केवल ऐसी ही कविताए लिखू जिनमे कोमलता और कल्पना का उभार हो। यही कारण था कि जिन दिनो हुकार की कविताए लिखी जा रही थी, उन्ही दिनो मे 'रसवन्ती' और 'द्वन्द्वगीत' की भी रचना कर रहा था और अजब संयोग की बात कि सन् १९३९ मे ही ये तीनो पुस्तके एक वर्ष के भीतर-भीतर प्रकाशित हो गई और सुयश तो मुझे हुकार से ही मिला, किन्तु आत्मा मेरी अब भी रसवन्ती मे बसती है।"[1]

रसवन्ती मे 'गिरि-हृदय के व्याकुल निर्झरो' को गति मिली है। बड़े यत्न से छिपाए हुए भाव मुकुलो को हृदय से नीचे उतारते हुए दिनकर के मन मे कातरता है। 'गीत-शिशु' नामक कविता मे यह भाव-स्निग्ध कातरता बडी आर्द्रता के साथ व्यक्त हुई है। कल्पना के ये शिशु ससार की रीति-नीति नही जानते, पृथ्वी की रागद्वेषमयी अकरुणा से उनकी रक्षा किस प्रकार हो सकेगी, दिनकर का मन इसी आर्द्र शंका से युक्त है। उडु से द्युति, बाल-लहर से गति और मलय से सौरभ लेकर उनका रूप सवारा गया है, सासारिकता के बोध से अनभिज्ञ वे केवल धूल से खेलना जानते है, रेणु और रत्न का भेद उन्हे नही मालूम परन्तु सरस्वती की आराधना मे पुष्प चढाने के लिए, कवि-पिता ने साहस करके उन्हे पृथ्वी पर उतार दिया है। नेत्रो मे विस्मय तथा शील और मन मे अभिलाषा लिए वे पृथ्वी पर उतर पडे है। उनके प्रति मोहग्रस्त दिनकर के हृदय की एक आवाज है जिसमे उनका आर्द्र-कठोर हृदय बोल रहा है—

छूकर भाल वरद कर से, मुख चूम विदा दो इनको ;
आशिष दो ये तरल गीत-शिशु विचरे अजर-अजय से।[2]

'रसवन्ती' कविता मे यह शब्द दिनकर की काव्य-प्रेरणा के प्रतीक रूप मे प्रयुक्त हुआ है जिसमे कोमल, आर्द्र तथा ओज-प्रखर तत्वो के आरोह-अवरोह और उत्थान-पतन का विवेचन किया गया है। कभी उन्होने कोकिल से माधवी कुजो का मधु राग सीखा और कभी बाडव की दाहक अग्नि अज्ञात ही उनके कण्ठ मे आकर बैठ गई, कभी प्रकृति के सुकुमार उपकरण उनके हीरे से कठोर दिल को चीर गए और कभी अतीत के खण्डहर मे बैठ कर वे विकल मानवता के कल्याण का मार्ग ढूढते रहे। दलित देशो का हाहाकार और विज्ञान की आग मे जलता हुआ मानव भी उनकी कविता का विषय बना, इस प्रकार व्यष्टि और

१. चक्रवाल—भूमिका, पृष्ठ ३३
२. रसवन्ती, पृष्ठ ४—दिनकर

समष्टि, बिन्दु और सिन्धु दोनों को ही समेट कर उनकी रसवन्ती आगे बढी। कभी ऐसे भी क्षण आए जब सिन्धु की विशालता विलीन हो गई और बिन्दु की कोमल स्निग्ध गहराइयो मे ही उसने अवगाहन किया। वैयक्तिक सुख-दु ख, मधुमास का पराग, यौवनकाल की उष्णता, प्रेम की शीतलता, और रूप की चकाचौध मे कुछ दिनो के लिए उनकी रसवन्ती लजीली, शर्मीली कोमलागी तन्वगी ही रह गई, 'रसवन्ती' मे उनकी कला-चेतना का यही मधुर कोमल रूप प्रधान रूप से व्यक्त हुआ है।

'रसवन्ती' मे सकलित रचनाओ के प्रतिपाद्य के तीन मुख्य रूप माने जा सकते है—

१. शृङ्गार-चेतना।
२. नारी-भावना।
३. आत्माभिव्यक्ति प्रेरित रागमूलक और विचारमूलक चेतना।

शृंगार-चेतना

'रेणुका' मे व्यक्त विभिन्न सूत्रो का विवेचन करते हुए दिनकर की शृङ्गार-चेतना के प्रारम्भिक रूप का परिचय पहले दिया जा चुका है परन्तु उसका सम्यक् और स्पष्ट रूप रसवन्ती मे आकर ही प्रस्फुटित हुआ है। दिनकर की समष्टि-चेतना के काव्य के दो सोपानो की भांति ही उनकी शृङ्गार-चेतना के भी दो रूप माने जा सकते है (१) परम्परागत रागमूलक शृङ्गार-चेतना (२) दर्शन तथा मनोविज्ञान पर आधृत विचार-मूलक शृङ्गार-चेतना।

प्रथम वर्ग की शृङ्गार-भावना का विश्लेषण करते हुए पहला प्रश्न मस्तिष्क मे यह आता है कि उसकी मूल प्रेरणा उनके काल की उस वैयक्तिक काव्य-परम्परा को माना जाय जिसके प्रतिनिधि कवि बच्चन है, अथवा रसवन्ती का शृङ्गार उससे भिन्न है? और उसका स्पष्ट उत्तर यह है कि रसवन्ती की रचनाओ को समसामयिक वैयक्तिक काव्यधारा के अन्तर्गत नही रखा जा सकता। वैयक्तिक कविता की अपनी अलग विशेषताये है। "इस कविता का विषय आज के समाज की व्यक्तिगत समस्याये है जो मूलत काम और अर्थ के चारो ओर केन्द्रित है। काम के दो रूप है: एक रसिकता और दूसरा प्रेम। सामान्य तल पर काम रसिकता है और वैयक्तिक तल पर प्रेम।"[1] रसवन्ती के शृंगार को न रसिकता माना जा सकता है और न उसमे प्रेम का वैयक्तिक दृष्टिकोण प्रधान है। इस शृंगार को तो छायावाद के अतीन्द्रिय शृंगार और

---

१. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां, पृष्ठ ६७—डा० नगेन्द्र

वैयक्तिक कविता की रूमानी स्वच्छन्दता के बीच की एक कडी ही माना जा सकता है। रसवन्ती के शृगार मे उपभोग और विस्मय दोनो ही है तथा उसकी अभिव्यक्ति मे मनोमयता और मासलता दोनो के ही तत्व मिलते हैं। रहस्यमयी चेतना और शरीर की भूख दोनो के बीच की स्थिति रसवन्ती के शृंगार की है। न नैतिक आतंक से सहम कर नारी के प्रति उनका आकर्षण कौतूहल मे परिणत हुआ है और न वैयक्तिक कविता की भाति उनके स्वरो मे कुण्ठा-जन्य विषाद है। प्रेम के लौकिक रूप की स्वीकृति जिस सामान्य स्तर पर की गई है वह केवल रसिकता न होते हुए भी पूर्णत वैयक्तिक नही है। व्यक्ति-विशेष के प्रति राग की अभिव्यक्ति रसवन्ती मे बहुत कम है। इन गीतो की रचना असन्तोष, विद्रोह अथवा अनास्था के फलस्वरूप नही उनकी समष्टि-चेतना के विद्रोह, आक्रोश के तनावो को शिथिल करने के उद्देश्य से हुई है। जिस प्रकार बच्चन, नरेन्द्र और अचल इत्यादि कवियो ने नैतिक मर्यादाओ और जीर्ण आदर्शों को खुले शब्दो मे चुनौती दी और प्रवृत्तिमूलक सहज सत्य की प्रतिष्ठा की वैसा प्रयास रसवन्ती की रचनाओ मे नही मिलता। सामाजिक नीति-पाश को तोड कर स्वच्छन्दता की ओर बढने और उसकी खुली घोषणा करने का साहस दिनकर मे नही मिलता—रसवन्ती का शृगार तो पर्वत के हृदय मे बहती हुई उस स्निग्ध जलधारा के समान है, जो उसके उपलमय व्यक्तित्व और वातावरण को आर्द्र रख कर उसको सरस बनाये रखती है।

रसवन्ती की मुख्य शृगारिक रचनाये है—गीत-अगीत, प्रीति, दाह की कोयल, अगरु धूम, रास की मुरली, पावस गीत, सावन मे, प्रतीक्षा और शेष गान—इन सभी कविताओ मे उनकी कोमल भावनाओ को अभिव्यक्ति मिली है। गीत-अगीत कविता भाव और अभिव्यक्ति दोनो ही दृष्टि से सफल रचना है। व्यक्त-प्रेम और अव्यक्त-प्रेम दोनो का अपना-अपना आकर्षण है। निर्झरिणी विरह के गीत गाती हुई, उपलो से अपने मन की व्यथा कहती आगे बढती जाती है शायद उसके हृदय का भार हल्का हो जाये, परन्तु तट पर खड़ा हुआ गुलाब अपनी प्रणय-कहानी को मन मे ही समेटे मूक सोचता है—काश मैं भी अपने पतझर के सपनो की व्यथा जग को सुना पाता—दोनो मे कौन सुन्दर है—तटिनी की अभिव्यक्ति अथवा पाटल का मौन। बसन्ती किरणो के स्पर्श से मुग्ध शुक की चहक सुन्दर है अथवा वन मे गूजते हुए अपने शुक के कलरव पर पख फुलाती हुई मन्त्रमुग्ध शुकी का उल्लास—साझ के समय आल्हा गाते हुए प्रेमी का सगीत सुन्दर है अथवा उसके स्वर से आकर्षित नीम की छाया मे खड़ी चोरी-चोरी उसकी प्रेमिका के अन्तर की आकाक्षा ?—

'हुई न क्यों मै कड़ी गीत की
विधना', यों मन में गुनती है
वह गाता, पर किसी वेग मे
फूल रहा इसका अन्तर है।
गीत, अगीत, कौन सुन्दर है।'[1]

'प्रीति' कविता मे गम्भीर, अव्यक्त, मधुर मगल अन्तर्दाह की अभिव्यक्ति हुई है। प्रेम का स्तर सामान्य होते हुए भी उसमे केवल रसिकता नही है, ऐन्द्रिय होते हुए भी वह स्थूल नही है, छायावाद की अतीन्द्रिय और वैयक्तिक कविता की निर्बन्ध प्रेम-भावना के बीच मे कही इसको स्थान दिया जा सकता है। प्रीति साझ के अरुण घन के समान, कनक-गोधूलि मना कर बिखर जाने वाली वस्तु नही है, वह नील गम्भीर, गगन के समान है धरणी के साथ जिसका शाश्वत मूक प्रेम अक्षय और अपार है। प्रीति पूर्ण चन्द्र नही है जिसकी विभा अनुदिन क्षीण पडती जाती है, वह तो द्वितीया के चन्द्र की कला के समान है जिसकी शीत स्निग्ध रश्मिया दिन पर दिन बढ़ती ही जाती है—प्रेम असीम है जन्म-जन्मान्तरो की सीमा पार कर अव्यक्त प्रेम ही सत्य है—विरहिणी की पीडा सुलगती हुई आग के समान है—सम्पूर्ण कविता मे व्यक्त शृ गार आरम्भ से लेकर अन्त तक एक कोमल मधुर सात्विक भाव से युक्त है—द्विवेदीयुगीन नैतिक प्रतिबन्धो के प्रति विद्रोह और विरोध का इसमे स्पर्श भी नही है, कोमल भावनाओ के अस्तित्व की घोषणा करने का साहस भी कवि को बडी मुश्किल से हुआ है—यह प्रेम—हृदय का अधिक, शरीर का कम है—उसमे भावनाओ की आर्द्रता और स्निग्धता अधिक है, ऐन्द्रियता बहुत कम।

'दाह की कोयल' कविता मे वियोग के उद्दीपन का एक नया रूप मिलता है। जीवन के विषम कठोर सघर्षो के रेगिस्तान मे कभी-कभी अनायास ही अतीत की कोमल मधुर स्मृतियो की कुहुक से भावनाये उद्दीप्त हो जाती है। स्मृति संचारियो द्वारा उद्दीप्त भावनाओ की आर्द्र स्निग्धता का, सार्थक उपमान सकलन द्वारा जो चित्रण किया गया है, उसमे भावनाओं की सात्विकता के साथ ही सात्विक अनुभावो का भी चित्रण हुआ है। दाह के आकाश मे पंख खोल कर स्मृति की कोयल बोल उठी है और कवि का रोम-रोम मधुर स्मृतियो और पुलको से भर उठा है—

मुंद गई पलकें, खुले जब कान,
सज गया हरियालियों का ध्यान,

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ ६—दिनकर

मुद गई पलकें कि जागी पीर,
पीर, बिछुडी चीज़ की तस्वीर।[1]

अतीत की ये स्मृतिया वर्तमान के तपते हुए मरु-पन्थ मे छाया प्रदान करती है। बालुओ के दाह मे इस गुमरते दर्द की अनुभूति सुधा की धार, सुकुमार चादनी, और जुही के फूल के समान है। कवि के पास केवल आग है वर्तमान के वैपम्यो की लू मे उसे यही मन्दाकिनी की धार, और हरी सुकुमार आशा उसे शीतलता प्रदान करती है।

अगरु धूम कविता मे भी प्रेम भावनात्मक स्तर पर है। भावनाओ के अतिरेक का मधुर सुरभित अन्धकार इन पक्तियो मे साकार है—

मै अमित युगों से हेर रहा,
देखी न कभी यह विमल कान्ति,
ऐसी स्व-पूर्ण भू बंधी तरी
ऐसी अमेय निर्मोघ शान्ति।
नभ सदृश चतुर्दिक तुम्हे घेर
छा रहे प्रेम प्रभु निराकार।
मै समझ न पाई गूढ़ भेद,
छा गया अगरु का अन्धकार।[2]

प्रेमी और प्रेमिका के बीच की वह स्थिति जहा स्थूल और साकार मिट जाता है, भावनाओ का पागलपन ही शेष रह जाता है, इस कविता मे वर्णित है, परन्तु यहा भी उनके शृगार मे पुष्प, अक्षत, अर्चना-दीप, धूम्र-जाल, सुमन-हार ही है आकुल आकाक्षाये और उष्ण अनुभूतिया नही है। यह प्रेम शृगार की अपेक्षा भक्ति के अधिक निकट है। यह पूजा-अर्चना का विधान सजीव अनुभूतियो के स्पर्श के कारण उपहासप्रद होने से बच जाता है। प्रेमी द्वारा समर्पित हृदय के मधुर प्यार को, प्रेमिका मन मे, पुतली मे सजा कर रखती है; प्रेमी की अर्चना न स्वीकार करने का उसके मन मे दुख और पश्चाताप है—अन्त मे प्रवृत्तियो की विजय होती है परन्तु जिन प्रवृत्तियो की स्थूलता और उष्णता की अभिव्यक्ति के साहस के अभाव मे छायावादी कवियो ने साकेतिकता और प्रतीकात्मकता का सहारा लिया था, दिनकर ने पूजा, उपासना और आराधना का सहारा लिया है जिससे चित्रण मे अस्वाभाविकता आ गयी है। पार्थिव अनुभूतियों का यह अपार्थिव रूप अविश्वसनीय और अस्वाभाविक हो उठा है। विरह

१. रसवन्ती, पृष्ठ २२
२. वही, पृष्ठ ३२

और मिलन की जगह साधना और सिद्धि, प्रेमी और प्रेमिका के लिए देवी और साधक शब्दो के प्रयोग से प्रेम-सहज पार्थिव प्रवृत्तियो ने अपार्थिव आलम्बन के प्रति उन्नयनित कामनाओ का रूप धारण कर लिया है जो सर्वथा स्वाभाविक नही जान पडता। इसी प्रकार प्रेम के अन्तिम सोपान मे कामनाओ की अभिव्यक्ति के स्थान पर कर्तव्यनिष्ठा और समर्पित त्याग भावना इत्यादि मे पूर्ण नारीत्व के विश्लेषण से भी कविता मे अनावश्यक ही आदर्शों का आरोप हो गया है, उनका आलम्बन न छायावादी कविता का 'अव्यक्त सत्ता' रह गया है और न वैयक्तिक कविता का आश्रय विद्रोही युवक। निम्नलिखित पक्तिया प्रेमिका के भावनापूर्ण विवश आत्मसमर्पण की व्यजक नही जान पडती, प्रत्युत ऐसा मालूम पडता है जैसे कोई नवपरिणीता जीवन भर कर्तव्य निभाने का व्रत ले रही हो—

मां की ममता, तरुणी का व्रत,
भगिनी का लेकर मधुर प्यार,
आरती त्रिवर्तिक सजा करूंगी
भिन्न अगरु का अन्धकार।[1]

इस कविता मे व्यक्त सयम, नियम और आदर्शों के साथ पूर्ण लय की स्थिति की कल्पना, उस युवक की कल्पना है जिसमे अपने समसामयिक अन्य कवियो की भाति सामाजिक बधनो और नैतिक आदर्शों को तोडने की प्रेरणा और इच्छा नही है—जो कोमल भावनाओ को सामाजिक परिवेश और आदर्शों के घेरे मे ही देख सकता है। एक वाक्य मे कहा जाए तो रसवन्ती मे उन्मुक्त प्रेम की साहसपूर्ण, निर्भय और आत्मविश्वासपूर्ण अभिव्यक्ति नही है।

'रास की मुरली' मे कृष्ण-लीला के रास-प्रसग को माध्यम बना कर शृंगार की विभिन्न मानसिक स्थितियो का चित्रण किया गया है। इस कविता मे भी कवि की दृष्टि मे शृ गार का सामान्य स्तर है। रास की मुरली, काम की अदम्य प्रेरणा और आकर्षण की प्रतीक है। शृ गारपरक उद्दीपक वातावरण और प्रकृति-चित्रण के साथ कविता का आरम्भ होता है। कोकिल की तान और चादनी की मादकता शृ गार के परम्परागत उद्दीपन हैं, परन्तु यहा उनका प्रयोग केवल परम्परा-निर्वाह के लिए नही हुआ है—ये सभी उपकरण भावो के साथ सन्निविष्ट होकर प्रयुक्त हुए है। वकुल-वन में गूंजती हुई कोकिल की तान, और

---

१. रसवंती, पृष्ठ ३६—दिनकर

चादनी मे उमड़ती हुई मद की मधुर उफान का संकेत वातावरण को मिलन के प्रतीक 'रास' के उपयुक्त बनाता है। प्रकृति पर शृंगारिक कार्य-कलापो के आरोपण द्वारा वातावरण को और भी उष्ण और तप्त बना दिया गया है—

गिरा चाहता भूमि पर इन्दु
शिथिल वसना रजनी के संग ;
सिहरते पग सकता न सम्हाल
कुसुम कलियों पर स्वयं अनंग।[1]

कविता के विभिन्न खण्डो मे विभिन्न काम-स्थितियो का चित्रण हुआ है। प्रथम खण्ड मे काम के आकर्षण से अभिभूत विभोरता का चित्र है—

ठगी सी रुकी नयन के पास
लिये अंजन उंगली सुकुमार,
अचानक लगे नाचने मर्म
रास की मुरली उठी पुकार।[2]

द्वितीय खण्ड मे प्रतीक्षा की अधीरता और उद्विग्नता है परन्तु उपालम्भ और दैन्य का स्वर प्रधान होने के कारण उसमे अभीष्ट प्रभावोत्पादकता नही आने पाई है। तीसरा खण्ड प्रभाव की दृष्टि से सार्थक है। तरगित यौवन के ज्वार की तीव्रता, अस्तव्यस्तता, आकुलता और व्याकुलता, सुन्दरता के साथ व्यक्त हुई है—मानसिक ग्रन्थियो के बन्ध ढीले करके कामनाये खुल कर व्यक्त होना चाहती है, मुरली के स्वर का प्रभाव उसे पागल बना देता है। साज-शृंगार के उपकरणो मे वह अस्तव्यस्त हो उठती है। चतुर्थ खण्ड में कवि फिर पूर्व परिचित धरातल पर आ कर प्रेम-भावनाओ के सात्विक और सत्य रूप का विश्लेषण करने लगता है। पूर्ण समर्पण का नाम प्रेम है—मिलन-पर्व नग्न उल्लासो और भावो का त्यौहार है,…कुकुम, अजन और अधरो के रग आज निष्फल है; आज तो हृदय मे सचित अनुराग, नयनो मे सज्जित मादकता मे सराबोर होकर ही सुहाग सफल किया जा सकता है, बाँहों की मृदुल मृणालो का हार तथा भावनाओ की मल्लिका के फूल बिखेर कर ही प्रेम-देवता की उपासना की जा सकती है। अन्तिम खण्ड मे फिर पूर्ण समर्पण और तादात्म्य की स्थिति का भावात्मक चित्रण हुआ है—महालय के मगलकाल मे लज्जा का व्यवधान नही चल सकता, यदि द्विधा और सशय मे ही मोहन का मादक रस समाप्त हो गया तो आकुल प्राणों की आकाक्षा अतृप्त रह जायेगी, यौवन का मधुमास

१. रसवती, पृष्ठ ३७—दिनकर
२. रसवंती, पृष्ठ ३७—दिनकर

असफल हो जायेगा। राग का आकर्षण शाश्वत है, सनातन है, असीम और ससीम, पुरुष और नारी, आत्मा और परमात्मा—के सम्बन्ध इसी राग के विविध रूप है—चरम मिलन के क्षणो मे दोनो पक्षो का पार्थक्य मिट जाता है—बासुरी और ककण एक हो जाते है—काम के इसी सनातन अविच्छिन्न प्रवाह मे अचेतन विश्व लीन और लिप्त होकर बहा चला जा रहा है—

सनातन महानन्द मे आज
बासुरी-कंकन एकाकार,
बहा जा रहा अचेतन विश्व,
रास की मुरली रही पुकार।[1]

सनातन पुरुष और सनातन नारी का जो समस्या-मूलक रूप 'उर्वशी' के प्रतिपाद्य के रूप मे ग्रहण किया गया है—'रास की मुरली' मे व्यक्त इन भावनाओ को उसका भावनात्मक और प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है।

गीत शीर्षक कविता मे कुछ वैयक्तिक तत्व अवश्य आ गया है, परन्तु उसमे प्रेम की स्वीकृति नही निषेध की व्यजना हुई—

लहरे अपनापन खो न सकी,
पायल का शिंजन ढो न सकी,
युग चरण घेर कर रो न सकी,
जीवन की अयि रूपसी प्रथम !
तू पहली सुरा पिला न सकी।[2]

'अन्तर्वासिनी' कविता मे भी प्राणो के सर मे अर्धस्फुटित भावनाओं के कमल की प्रेरक रूप कल्पना से कवि प्रश्न पूछता है—

भीगने नहीं देती पद की
अरुणिमा सुनील लहर मे ही ?
तुम कौन प्राण के सर में ?[3]

यहां भी उसकी शृङ्गार-चेतना रूपानुभूति के आगे नही बढी है। 'अगरु के अन्धकार' के समान ही उनके मन पर छाई हुई सुनहरी, इन्द्रधनुषी कनकाभ-कल्पनाओं का रूप भी वायवी और मानसिक धरातल पर ही है परन्तु शृङ्गार की अनुभूतियो मे उष्णता के हल्के स्पर्श से यह चित्रण बडा स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक हो गया है—

१. रसवन्ती, पृष्ठ ४१
२. वही, पृष्ठ ६१
३. वही, पृष्ठ ६२

जब से चितवन ने फेरा
मन पर सोने का पानी,
मधु वेग ध्वनित नस-नस में,
सपने रंग रही जवानी ।[1]

'पावस गीत' और 'सावन मे' कविताओ की शृङ्गार-चेतना मे परम्परागत तत्वो का समावेश हुआ है, परन्तु केवल उसके यान्त्रिक निर्वाह पर ही उनकी दृष्टि टिककर नही रह गई है। वर्षा ऋतु को परम्परा से विप्रलम्भ शृङ्गार के उद्दीपन रूप मे स्वीकार किया जाता रहा है। पावस गीत मे यद्यपि प्रकृति को आलम्बन रूप मे ग्रहण किया गया है, परन्तु कही-कही कवि ने अपने हृदय की भावनाओ के सस्पर्श से उसे उद्दीपन रूप दे दिया है—

फूट रहे बुलबुले या कि मेरे दिल के छाले सजनी ?

*　　　*　　　*

बुझती नहीं जलन अन्तर की, बरसे दृग बरसे जलधार ;
मैंने भी क्या हाय, हृदय मे अगारे पाले सजनी ![2]

'सावन मे' कविता मे आसू, विरह, और वेदना की बाढ आ गई है। उन्होने भी करीब-करीब प्रसाद की तरह ही छिल-छिल कर छाले फोड़े है और साथ ही उनमे शृङ्गार की खुली अभिव्यक्ति का भी साहस आ गया है—

हां, सच है, छाया सुरूर तो मोह और ममता कैसी ?
मरना हो तो पिये प्रेम-रस, जिये अगर बाउर हौले ।[3]

'भ्रमरी' कविता मे भी आह, उच्छ्वास, उलाहने और शिकवे प्रधान हो गये है—

किसे कहूं ? धर धीर सुनेगा
दीवाने की कौन व्यथा ?
मेरी कड़ियां कसी हुईं,
बाकी सबके बन्धन ढीले ।[4]

प्रतीक्षा और शेषगान मे उनकी शृङ्गार-चेतना का रूप स्वस्थ और प्रकृत हो गया है। एक ओर उनके भावो की स्निग्धता ने कृत्रिम आध्यात्मिकता का

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ ६३
२. वही, पृष्ठ ६४
३. वही, पृ० ६४
४. वही, पृ० ६६

बाना उतार दिया है, और दूसरी ओर उनके आसू उच्छ्वास और आहे सयत हो गई है।

इस प्रकार 'रसवन्ती' की शृङ्गार-भावना मे मन की कोमल मधुर वृत्तियो को ही अधिक मूल्य दिया गया है। शारीरिकता की स्वीकृति उसमे बहुत कम है। इसीलिए उसमे तीव्रता और उत्कटता न होकर माधुर्य और सात्विकता है, परन्तु छायावादी शृङ्गार-चेतना के समान उसमे न कल्पना के रूमानी स्पर्श है और न परिष्कृत लावण्य। सुकुमारता, सरसता और कोमलता उसके प्रधान गुण हैं परन्तु रस और कान्ति की दृष्टि से उसका अधिक महत्व नही है।

रसवन्ती में व्यक्त नारी-भावना

'रेणुका' की राजा-रानी कविता मे दिनकर ने नारी को पुरुष की भावनात्मक प्रेरणा के रूप मे ही देखा था, तथा उसके जीवन की सार्थकता माना था। खुले शब्दो मे कहा जाय तो उनका दृष्टिकोण पूर्ण रूप से परम्परावादी था, और 'यशोधरा' तथा 'उर्मिला' के आसुओ को ही उन्होने भी नारी के मूल्याकन की कसौटी रूप मे स्वीकार किया था। रसवन्ती मे भी नारी के प्रति उनकी दृष्टि और प्रतिक्रियाये अधिकतर परम्परावादी ही रही है। नारी शीर्षक से उसमे दो रचनाये सगृहीत है। प्रथम कविता मे उनकी कल्पनायें छायावादी अतीन्द्रियता के निकट हैं जहा उसके व्यक्तित्व मे नैसर्गिक सौन्दर्य और अलौकिक व्यक्तित्व का आरोपण किया गया है। नारी को उन्होने विधि की अम्लान कल्पना, ज्योति की कली, और एक दिव्य विभा के रूप मे देखा है। कोमलता, दिव्यता और कान्ति जिसकी मुख्य विशेषताये है। ज्ञानी, कर्मी, कलाकार सभी को वह प्रेरणा देती है। उसके सौन्दर्य के प्रभाव से निर्जीव स्वप्न बोलने लगते हैं, उसकी चितवन की नैसर्गिकता और अलौकिक प्रभाव से हिंस्र मानव के हाथ से धनुष और बाण शिथिल होकर गिर जाते है, सिंह और गयन्द के समान शक्तिशाली मनुष्य भी नारी के रूप-ततु मे बिंध कर विवश और असहाय हो जाते है। कर्मी उसकी प्रेरणा से शिव-धनुष तोडते है, मत्स्यभेदन करते है, प्रेमी उसके लिए पहाड खोद डालते है, कवि उसकी अर्चना के लिए चाद को जमीन पर उतार लाता है। उसके सकेत पर शूर 'कनक मृग' के पीछे दौड पडते हैं—और उसकी एक मुस्कान पर ऋषियो की समस्त सिद्धिया लुट जाती हैं। कविता के उत्तरार्ध मे कवि की दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक लौकिक और ऐन्द्रिय हो गई है। नारी-सौन्दर्य को रेखाओ मे बाधने के लिए दिनकर ने बहुत बार उसे सद्य स्नाता के रूप मे देखा है शायद विद्यापति से प्राप्त सस्कार इस प्रकार की रचनाओं मे स्वत. प्रकट हो जाते हैं—

कढ़ीं यमुना से कर तुम स्नान,
पुलिन पर खड़ी हुईं कच खोल,
सिक्त कुन्तल से झरते देवि !
पिये हमने सीकर अनमोल ।[1]

पुरुष शैशव मे उसके हृदय के रसपीयूष से अपनी क्षुधा और यौवन मे उसका मधु मकरन्द पान कर अपनी प्यास बुझाता है, पर उसके प्राणो की तृष्णा सदैव अतृप्त ही रहती है, जन्मजन्मान्तर से पुरुष उसके कोमल स्निग्ध रूप पर भूला रहा है परन्तु उसकी माया का मूल रहस्य समझने मे असमर्थ रहा है। नारी वह अगुण और अमेय कल्पना है जिसे छू सकने मे पुरुप असमर्थ है, अन्तर की वह गूढ भावना है जो युग-युग से अकथ और अजेय रही है।

'पुरुष प्रिया' कविता मे नारी के अपरूप आदर्श और प्रेरक रूप को अभिव्यक्ति मिली है। यहा भी उसमे सुन्दर की प्रतिष्ठा ही कवि का उद्देश्य रहा है। पुरुष ओज और पौरुष है जो तरुण भानु के समान पृथ्वी पर उतरता है जिसके शीश पर बह्नि-किरीट और हाथो मे आलोक का धनुष है, जिसके बाणो से चिनगारिया फूटती हैं। उसकी शक्ति से अम्बर नि शब्द और धरणी अवाक् रह जाती है, पृथ्वी, सागर और आकाश उसके इगित पर नाचते है। पुरुष का अहकार किसी के सामने झुकना नही जानता। परन्तु, नारी-सौन्दर्य और उसके प्रणय की कोमल भावना की चादनी के सामने अहंकार का अनल लज्जित हो जाता है, शिरीष कुसुम के तन्तुओ से भी अधिक कोमल भावनाये अहंकार के शैल को झुका देती है, नारी के रूप की किरण पुरुष को अपने ऊसर का ज्ञान कराती है, और उसका आकर्षण उसके जीवन के अभावो और परिसीमाओं का पूरक बन जाता है। इसी प्रकार नारी की भावनाये भी पुरुष पर अर्पित होकर सार्थक होती है।

नर और नारी के सनातन सम्बन्धो का सूत्र भी इसी 'पुरुप-प्रिया' कविता मे प्रथम बार ग्रहण किया गया है। वायवी, मानसिक और अतीन्द्रिय धरातल पर ही स्थित रहने वाली श्रृंगार-भावना मे समस्याओ के लिए अवकाश नही रहता परन्तु जब मन की कल्पना उतर कर भूमि पर खडी हो जाती है, पुरुष के नयन मे बलि का स्थान विस्मय-जन्य कौतूहल ले लेता है, कौतुक, कामना मे परिवर्तित होता है और सम्पूर्ण सृष्टि तथा प्रकृति ही उसे अनुरागरजित जान पड़ने लगती है। शिखरो पर उतरती हुई ऊषा, अतल मौन सागर पर झुकती हुई संध्या मे भी उसे अपनी प्रणयानुभूति की प्रथम अभिव्यक्ति की अनुगूज

१. रसवन्ती, पृष्ठ २६

सुनाई पडती है'। काम की अज्ञात प्रेरणा से हृदय द्रवित होकर आसू बन जाता है, वायवी स्तर पर प्राणो का यह अकलक सम्बोधन और कोई समझ ले, पर पुरुष की आकाक्षाये और अह किसी सौमित्र रेखा और प्रतिबन्ध को नही मान सकता। पुरुष, जिसका स्वभाव ही है नवीनता की खोज करना, अलभ्य की लाभ-प्राप्ति, और रहस्यो को अनावृत करना, अपरूप और वायवी सीमाओ की घुटन मे नही रह सकता। मार्ग मे आये हुए पर्वतो को पार कर अपार व्याधाओ के सागर का सतरण करके बियाबान जंगलो को पार करके भी वह अपनी राह बनाने को आगे बढता है। नारी के प्रति जिज्ञासा कामना मे परिवर्तित होकर उसे विजय-प्राप्ति के भाव की ओर अग्रसर करती है, ऐन्द्रिय लोलुपता उसे जिस ओर ले जाती है उस मार्ग पर भी उसे शान्ति और सुख नही मिलता, फूल के सौरभ को न पाने पर उसकी पखुडियो को ही तोड-मरोड़ देने से क्या सुख मिल सकता है ? केवल रूप-भोग ही मन के चिरन्तन दाह का समाधान नही बन सकता, चादनी को पीकर अथवा चाद का रस निचोड़ कर उसकी ज्वलित कामनाओ की अग्नि बढती ही जाती है कम नही होती। प्रेम के वायवी और ऐन्द्रिय उलझनो के मोह-जाल मे पुरुष सारी आयु गंवा देता है, परन्तु नारी विषयक केवल एक सत्य उसके हाथ आता है जिससे वह बच नही सकता— 'तुम सा न कही सुन्दर कोई।' युग-युग से पुरुष व्यग्र और चंचल होकर इस 'सस्मित, मौन अचल' नारी के इर्द-गिर्द तीव्र गति से घूम रहा है, परन्तु युग-युग से एक शाश्वत सत्य चला आ रहा है—पुरुष नारी के माधुर्य और सौन्दर्य से अपने को मुक्त नही कर सकता, और नारी की भी उसके बिना कही गति नही है। श्रान्त पुरुष का सहारा है नारी का प्रेम, और नारी की सहज कोमल-मधुर वृत्तियो का एकमात्र आश्रय है पुरुष की शक्ति की छाह।

रसवन्ती की 'नारी' नामक दूसरी कविता मे दिनकर की नारी-भावना सामाजिक परिपार्श्व मे व्यक्त हुई है। उसमे नारी के तीन पक्षो का उद्घाटन हुआ है—

(१) आधुनिका (२) रक्षणीया (३) माता

आधुनिका के प्रति दिनकर के पास केवल भर्त्सना है। परिवार के सुव्यवस्थित और सुदृढ वातावरण से वचित गार्हस्थ की एकरसता और उत्तरदायित्व से ऊबी हुई और भयभीत आत्मकेन्द्रित, अहंवादिनी आधुनिका आज सचमुच ही अपने और समाज दोनों के लिए एक समस्या बन गई है। मिथ्या सुख की खोज मे उसे कहा-कहा नही भटकना पडता, महत्वाकांक्षाओ से प्रेरित वह कहा-कहा टकरा कर फिर टूट जाती है। पत्नीत्व और मातृत्व की गरिमा

से वचित त्याग और समर्पण के सुख से अनभिज्ञ, पुरुष के साथ स्पर्धा और प्रतियोगिता की चेष्टा मे वह किसी की भी सहानुभूति की पात्र नही रह गई है। दिनकर की दृष्टि मे भी आधुनिका के प्रति घृणा और भर्त्सना ही है और कुछ नही, परन्तु उसमे यथार्थ का अभाव है ऐसा नही कहा जा सकता। आज की नारी सब प्रकार के दायित्वो से अलग अपने आपको ही सबसे महत्वपूर्ण मान बैठी है। अपनी रूप-सज्जा के प्रति जागरूकता उसका प्रधान कर्तव्य-कर्म बन गया है। रूप के उपयोग के द्वारा महत्वाकाक्षाओ की पूर्ति उसका सहज कार्य बन गया है, दिनकर ने इस कविता के प्रथम अश मे उसकी आत्म-सकीर्ण दृष्टि, उसके विकृत जीवन-दर्शन और हल्केपन की हँसी उडाई है। आधुनिका की उपलब्धियो की ओर उनका ध्यान नही गया है। कवि के हाथ मे आकर कोई भी वस्तु सामान्य बन जाती है, दिनकर के हाथ मे आधुनिका किसी व्यग्य चित्र का आलम्बन मात्र बन कर रह गई है, उसके भौतिक सघर्ष, उसके सामाजिक परिपार्श्व और उसके हृदय के ऊहापोहो पर कवि ने ध्यान देने की आवश्यकता नही समझी है, वह तो आधुनिका के दोषो को पूर्वाग्रहो के चश्मे से ही देख सका है—

> **निरावरण, उद्दाम किरण सी खिलती और मचलती,**
> **आज दीखती नही समाती हुई आप अपने में।**
> **अपना चित्र विविध रंगों में आप सृजन करती हो,**
> **और जांचती हो फिर उसको स्वयं पुरुष के दृग से।**[१]

उनकी दृष्टि मे आधुनिका केवल लालसा की एक लहर है जो पुरुष के मन को रग देती है, वातावरण मे मादक सौरभ भर देती है, परन्तु यह मादक सौरभ, यह राग-रग की प्रवृत्ति उसे नारी-सुलभ सहजताओ से वचित किये दे रही है, पख-रगी तितली को उस प्रमद वन मे स्थान नही मिल सकता जहा तितलिया पख नही रगती, जिनके पख मे अकृत्रिम सहज सौन्दर्य रहता है, जहा 'गुलाब' का सौरभ उसके अन्तर मे निहित रहता है। उसे बाह्य कृत्रिम प्रसाधनो को सुरभित करने की आवश्यकता नही होती, जहा रूप और यौवन प्रेम-सम्बन्धो के आधार नही होते बल्कि जहा मन का बन्धन जीवन भर एक दूसरे से बधे रहने की प्रेरणा देता है।

वे, आधुनिका से निर्भ्रान्ति और स्पष्ट प्रश्न पूछते है : "अपने रूप और यौवन से कितने व्यक्तियो का मन बाधोगी ? तुम्हारे प्रेम की चोट जित नी हल्की है, उससे बिंधने वालो की पीडा उससे भी हल्की है। किसी पुरुष के हृदय पर

१. रसवन्ती, पृ० ४६—दिनकर

गहरी रेखायें खींचने मे तुम असमर्थ रहोगी, इस प्रकार के हल्के-फुल्के प्रेम-व्यापार जल की रेखाओ के समान आते और चले जाते है, यह रोमाच केवल शरीर को प्रभावित कर सकता है हृदय को नही। पुरुष वह गम्भीरता चाहता है, जिससे तुम पूर्णतः अपरिचित हो। इस प्रकार के कार्य-कलापो से तुम्हारी मर्यादा और गौरव का नाश हो रहा है और तुम नारीत्व के सहज गुणो से वञ्चित होती जा रही हो।"

इसी कविता के दूसरे खण्ड मे भारतीय नारी के उस रक्षणीया और अबला रूप का चित्रण हुआ है, जिसके कारण उसे परिगणित और दलित जातियो के अन्तर्गत रखने की बात की जाती रही है। जो युग के प्रकाश से ही नही दिन की खुली धूप से भी वचित है, जिसका मनोबल क्षीण है, जिसको अपनी शक्ति का रंचमात्र भी विश्वास नही है, जो लोलुपता भरी दृष्टियो के बाण से अपने को भयभीत हरिणी की तरह बचाती है, उसके पास केवल एक वस्तु शेष है और वह है उसका शील। वही उसका सर्वस्व है तथा उसी की रक्षा करना उसका ध्येय है। आधुनिका को दिनकर ने नारीत्व के गुणो की याद दिलाई थी, उसके खण्डित होते हुए शील की ओर उसका ध्यान आकर्षित किया था, परन्तु ग्रामीणा मे उन्होने उसी शक्ति को जगाने की कामना की है जिससे वह अपनी रक्षा आप कर सके, जिस शक्ति के सामने उस पर लगे लोलुप-नेत्र अपने आप झुक जाए—

> **जी करता है, अपना पौरुष, इज्जत उसे उढ़ा दू।**
> **या कि जगा दूं उसके भीतर की उस लाल शिखा को**
> **आखों में जिसके बलने से दिशा कांप जाएगी।**
> **घोर ग्लानि से झुक जाएगे नयन घूरने वाले,**
> **झुक जाएंगी कलुष-ज्ञान से दबी क्षीण ग्रीवाए।[१]**

तीसरे चित्र मे सद्य माता का चित्रण प्रस्तुत करते-करते कवि का मन मातृत्व की गरिमा मे रंग गया है. मा बन कर नारी समष्टि का भार वहन करने वाली महत्वपूर्ण इकाई बन जाती है। उसकी सरलता और चपलता दायित्व-ज्ञान मे बदल जाती है, वाणी मे सयम, पदो मे धीरता, और आखो मे सकोच और शील-गौरव भर जाता है। मातृत्व-प्राप्ति के साथ ही नारी अपने जीवन को सार्थक समझने लगती है। क्रीडा, कौतुक और प्रणय से ऊपर भी कोई गम्भीर तत्व है यह रहस्य उसके सामने खुल जाता है। जीवन के जिस

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ ४६—दिनकर

मगीत के माधुर्य मे वह अब तक झूमती रही थी उसका अद्भुत अर्थ उसे मातृत्व के बाद स्पष्ट होता है। कल्पनाओ और भावनाओ के ससार के निकल कर वह यथार्थ की भूमि पर चरण टिकाती है, और समष्टि के प्रति अपने दायित्व को पहली बार समझती है। दिनकर की नारी-भावना मे पत्नीत्व की अपेक्षा मातृत्व की गरिमा को अधिक महत्वपूर्ण स्थान मिला है। भारतीय मान्यता मे नारी पति और पुत्र के माध्यम से ही समष्टि को अपना योग देती है। दिनकर ने रसवन्ती तक नारी के पत्नी रूप को अधिक मान्यता नही दी हे परन्तु नारी का मातृत्व ही उसके जीवन की सार्थकता है यह घोषणा बार-बार की है। पत्नीत्व के त्याग और समर्पण की गरिमा तो आगे चल कर उर्वशी मे औशीनरी और सुकन्या के चरित्र के माध्यम से व्यक्त हुई है। दिनकर यद्यपि मैथिली-शरण गुप्त की दूसरी पीढी के कवि है परन्तु उनकी इन मान्यताओ मे अधिकतर गुप्त जी की मान्यताओ की ही आवृत्ति हुई है। उनके अनुसार, नारी जग के सघर्षो का सामना स्वय नही करती प्रत्युत अपना सदेश बेटो के मुख से कहा करती है, पुरुष जीवन के सगर मे अपने तेज और बल से विजय प्राप्त करता है, परन्तु मा के हृदय की आग उसके बेटे की तलवार में चमकती है—

नारी की पूर्णता पुत्र को स्वानुरूप करने मे,
करते है साकार पुत्र ही माता के सपने को
बिना पुत्र नारी का सम्यक् रूप नहीं खुल पाता,
जीवन में रमणी प्रवेश करती है माता बन कर।[1]

यहा भी दिनकर आधुनिकाओ पर दश करने से नही चूके है—

काश ! समझती जन्म निरोधातुर कृत्रिम बन्ध्याएं
पुत्र कामना इच्छा है अपने को ही पाने की।[2]

निष्कर्ष यह है कि 'रसवन्ती' की नारी-भावना मे अधिकतर अश परम्परा का है। दिनकर ने नारी की मानसिक शक्ति को ही अधिक महत्ता दी है और मातृत्व और पत्नीत्व मे ही उसकी सार्थकता मानी है। आधुनिक परिवेश मे रख कर उसे उन्होने प्राय. नही देखा और जहा देखा है वहा उनकी दृष्टि मे घृणा और भर्त्सना ही प्रधान है। नारी-भावना के ये ही सूत्र उर्वशी मे चल कर पल्लवित हुए है जहा औशीनरी और सुकन्या के माध्यम से नारी और पत्नीत्व की गरिमा की स्थापना हुई है और 'उर्वशी' तथा अप्सराओ मे आज की बौद्धिक नारी की भावनात्मक समस्याओ का उद्घाटन किया गया है।

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ ५१—दिनकर
२. वही, पृष्ठ वही ,,

इन मूल चेतनाओ से अलग 'रसवन्ती' की अन्य रचनाओ के निम्न वर्ग किए जा सकते है—

(१) राग-प्रेरित रचनाए ।

(२) विचार-प्रेरित रचनाए ।

प्रथम वर्ग की मुख्य रचनाए है, 'बालिका से वधू', 'कत्तिन का गीत', 'कवि कालिदास' और 'अगेय की ओर' । प्रथम रचना मे नवविवाहिता की विदा-प्रसग के मधुर, कोमल और आर्द्र चित्र प्रस्तुत किए गए है । नववधू के शृङ्गार, भावी उमगो और बिछोह की वेदना की उठती-गिरती लहरो की प्रतिक्रियाओ और विदा के बाद की अभावमूलक कल्पनाओ का चित्रण तो मार्मिक रूप से हुआ ही है—बालिका की चपलता, चचलता और सहजता के स्थान पर वधू के गाम्भीर्य और दायित्वपूर्ण कर्तव्यो की स्थापना भी की गई है—

जगे हृदय को शीतल करने वाली मीठी पीर,
निज को डुबो सके निज मे मन हो इतना गम्भीर ।[1]

'कत्तिन' का गीत कोमल भावनाओ का राष्ट्रीय गीत है, जिसकी प्रेरणा मे गाधी का वह स्वदेशी आन्दोलन है जिसने लकाशायर और मैनचेस्टर से चलते हुए व्यापार को चुनौती देकर उनका दीवाला निकाल दिया था । गीत मे लोक-गीतो की सी सहजता, माधुर्य और सामूहिक प्रेरणा विद्यमान है ।

'कवि' नामक कविता मे कवि के व्यक्तित्व मे अलौकिक गुणो का आरोपण करके उसमे सौन्दर्य, सत्य और शिव की प्रतिष्ठा की गई है । 'कालिदास' कविता मे उनके कवि व्यक्तित्व और काव्य कृतियो की काव्यात्मक व्याख्या और आख्यान है । 'मरण', 'समय', 'आश्वासन', 'विजन', 'रहस्य' इत्यादि कवितायें विचार-प्रेरित है, इन सभी रचनाओ मे दिनकर की सौन्दर्य-चेतना का विचार-सपुष्ट रूप मिलता है, जिसमे आशा और विश्वास का स्वर प्रधान है । परन्तु उनकी काव्य-चेतना के दोनो ही मूल उत्सों मे इनका कोई विशिष्ट और उल्लेखनीय योगदान नही माना जा सकता ।

उर्वशी में व्यक्त शृंगार-चेतना और नारी-भावना

दिनकर की काव्य-चेतना की पृष्ठभूमि और परिपार्श्व मे उर्वशी का विश्लेषण किस प्रकार किया जाय, यह प्रश्न मस्तिष्क मे प्रधान हो उठता है । इस कृति पर निकली हुई अगणित समीक्षाये मेरे सामने है । एक ओर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० राजबली पाण्डेय, डा० नगेन्द्र और नरेन्द्र शर्मा से लेकर विद्यार्थी

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ ६—दिनकर

आलोचको तक की लिखी हुई प्रशसात्मक आलोचनाये है और दूसरी ओर मुद्राराक्षस तथा डा० भगवतशरण उपाध्याय का खण्डनात्मक और ध्वसात्मक दृष्टिकोण भी है। विभिन्न मतो के खण्डन-मण्डन से काम बनता नही, इसलिए स्वतन्त्र रूप से अपनी गलत या सही प्रतिक्रियाओ के आधार पर ही उर्वशी मे व्यक्त दिनकर की काव्य-चेतना का विश्लेषण और निरूपण किया जा रहा है। सबसे पहला प्रश्न यह है कि उर्वशी की रचना किस उद्देश्य से हुई है। उसका मूल प्रतिपाद्य क्या है ? स्पष्ट उत्तर है कि उसकी रचना का उद्देश्य कुछ वैसा नही है जैसा द्विवेदी-युगीन प्रबन्ध काव्यो का था। न तो कवि उर्वशी और पुरुरवा की मार्मिक और आकर्षक कथा मे मौलिक उद्भावनाओ का स्पर्श देकर उसे नये रूप मे प्रस्तुत करना चाहता है, न पौराणिक पात्रो के माध्यम से युग-धर्म की स्थापना करना चाहता है और न वह किसी उपेक्षित, अनादृत अथवा विस्मृत पात्र का उद्धार करना चाहता है। 'रश्मिरथी' के दिनकर का जो उद्देश्य था, वही उद्देश्य उर्वशी के दिनकर का नही है। यहां तो उनके सामने एक समस्या है—काम अथवा प्रेम की समस्या। और दर्शन तथा मनोविज्ञान के द्वारा इस समस्या का उद्घाटन उर्वशी के कवि का उद्देश्य रहा है।

जिस प्रकार उनकी प्रारम्भकालीन कृतियो की समष्टिपरक उग्र चेतना कुरुक्षेत्र मे आकर दर्शन और मनोविज्ञान से सपुष्ट होकर सतुलित हुई थी उर्वशी की सृजन-प्रेरणा और प्रक्रिया मुझे करीब-करीब वैसी ही जान पड़ती है। दिनकर 'वर्तमान के बैताली' है। प्रेरणा उन्हे वर्तमान से मिलती है परन्तु इतिहास और परम्परा के मोह के कारण वह अतीत का अचल छोडने मे असमर्थ रहते है। मेरे विचार से तो 'कुरुक्षेत्र' और 'उर्वशी' एक ही प्रतिपाद्य के अलग-अलग ऐंगिल से लिए हुए दो चित्र है। दोनो ही चित्रो का आधारफलक सार्वभौम और विश्वजनीन है और दोनो ही की अभिव्यक्ति के माध्यम पौराणिक-ऐतिहासिक और भारतीय है ठीक वैसे ही जैसे प्रेम और घृणा सार्वजनीन और सार्वभौम है परन्तु व्यक्ति और परिवेश की भिन्नता से उनकी अभिव्यक्ति मे भिन्नता आ जाती है। कुरुक्षेत्र मे दिनकर की नई काव्य-प्रेरणा पुराने माध्यम से इसलिए रूपायित हुई थी कि द्वितीय महायुद्ध के प्रति दिनकर की प्रतिक्रियाए उतनी प्रतिष्ठा नही प्राप्त कर सकती थी जितनी कि भीष्म जैसे महासेनानी के मुँह से कहलाई गई उक्तियो को मिली। भारतीय इतिहास मे शौर्य की महिमा का गान करने तथा व्यक्ति-धर्म और समष्टि-धर्म का आख्यान-प्रत्याख्यान करने योग्य आप्त पुरुषो का अभाव नही था, दिनकर ने युद्ध की गहन समस्या का विवेचन-विश्लेषण

करने के लिए भीष्म जैसे महामहिम व्यक्ति को चुना यह उनकी दूरदर्शिता थी, परन्तु भारतीय साहित्य और इतिहास मे प्रेम के क्षेत्र मे धर्माधर्म के सकट की स्थितिया प्रायः नही मिलती। भारत की प्राचीन सामाजिक व्यवस्था मे एक-पत्नीव्रत राम कितने हैं? और अगर है भी तो उनका आदर्श दृढ है, उस निष्ठा और विश्वास मे द्वन्द्व और सघर्ष नही है, उनका प्रेम देवता का प्रेम है जो कर्तव्य-प्रेरित है और जो निष्ठा और विश्वास के कारण ही सीता की अग्नि-परीक्षा के लिए तैयार हो जाता है।

स्पष्ट है कि पुरुरवा का द्वन्द्व एकनिष्ठ राम का द्वन्द्व नही हो सकता। भारतीय सामाजिक व्यवस्था मे प्रचलित बहुपत्नी प्रथा, रक्षिताओ की स्वीकृति तथा स्त्री के व्यक्तित्व की स्वतन्त्र इकाई मे केवल भावनात्मक मूल्यो की स्थापना भोग के लिए खुला क्षेत्र छोडकर, सासारिक व्यक्तियो के लिए भी द्वन्द्व के लिए कोई अवकाश नही प्रस्तुत करती। सामाजिक निषेध अथवा आदर्श-च्युति दोनो मे से एक भी अवरोध वहा उपस्थित नही है। ऐसी स्थिति मे पुरुरवा के हृदय मे उठे हुए प्रश्न प्राचीन इतिहास के व्यक्तियो के भी प्रश्न नही हो सकते। नारी को लेकर धर्माधर्म के प्रश्न का आध्यात्मिक पहलू भी यहा स्वीकार नही किया जा सकता क्योकि पुरुरवा का द्वन्द्व एक सासारिक व्यक्ति का द्वन्द्व है जो आदर्शो की मर्यादा का उल्लघन करके सहज प्रवृत्तियो से अनुप्रेरित उद्वेलन द्वारा आलोडित होता है। काम के त्याग, ग्रहण अथवा सतुलन का प्रश्न शाश्वत है ठीक उसी अर्थ मे जैसे युद्ध की समस्या मनुष्य की सनातन समस्या है, परन्तु उर्वशी की रचना आधुनिक जीवन मे व्यापक रूप से छाई हुई काममूलक समस्याओ की प्रेरणा से हुई है यह भी उतना ही बडा सत्य है, जितना यह कि 'कुरुक्षेत्र' की रचना द्वितीय महायुद्ध की प्रेरणा से हुई थी।

पुरुरवा का द्वन्द्व किसी आदर्शवादी गृहस्थ, निर्बन्ध भोगवादी अथवा अध्यात्म की ओर झुकते हुए व्यक्ति का द्वन्द्व नही है, वह तो उस युग के व्यक्ति का द्वन्द्व है जिसके सामने मर्यादा की रक्षा और प्रवृत्तियो की अभिव्यक्ति के प्रलोभन मे सतत रूप से सघर्ष चलता रहता है। 'पुरुरवा आज के युग का भारतीय पुरुष है, जो सस्कारवश चिन्मय आस्वाद को न तो सर्वथा अस्वीकार कर मृण्मय आस्वाद के अमिश्र रस का भोग कर सकता है और न अपने पूर्वजो की भाति मृण्मय अनुभूति का सहज परित्याग कर चिन्मय अनुभूति मे लीन हो सकता है'। आज के व्यक्ति की भौतिक दृष्टि और कामासक्ति चाहे उसे प्रगाढ सुख दे सकती हो पर शान्ति नही दे सकती। वर्तमान युग के इसी व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण और निरूपण उर्वशी मे हुआ है। इस दृष्टि से उर्वशी को हिन्दी

कविता का एक नया मोड माना जा सकता है। कामजन्य समस्याओ से प्रेरित साहित्य-सर्जना हिन्दी के लिए नई वस्तु नही है। काम की प्रेरणा की अनेक स्वस्थ और विकृत उल्टी-सीधी अभिव्यक्तियां हिन्दी के कथा-साहित्य मे दीर्घ-काल से होती आ रही है। फ्रायड, युग और ऐडलर के सिद्धान्तो को साहित्यिक अभिव्यक्ति देने के लिए एक ओर हिन्दी के मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासो और कहानियो मे मानसिक रोगो से पीडित, कुठित, विकृत और रुग्ण व्यक्तियो का चित्रण ही प्रधान हो गया, तो दूसरी ओर काम-समस्याओ पर केन्द्रित जैनेन्द्र और अज्ञेय के उपन्यास हिन्दी के स्तम्भ-दीप बन गए। इन समस्याओ को सामाजिक परिवेश और काल्पनिक पात्रो के माध्यम से चित्रित करना सम्भव भी था और उचित भी। परन्तु प्रबन्ध काव्य की मान्य गरिमा और भव्यता की रक्षा करते हुए प्रस्तुत समस्या का आख्यान और विश्लेषण करने के लिए पौरा-णिक आख्यान और पात्रो का माध्यम स्वीकार करना ही ठीक था। हिन्दी के मुक्तक और गीति काव्य मे द्विवेदी-युग के बाद से अनेक उतार-चढाव आए परन्तु प्रबन्ध-परम्परा प्राय द्विवेदीयुगीन कलेवर मे ही चलती रही—आज तक हिन्दी का कोई भी प्रबन्ध काव्य सामने नही आया जिसे साकेत, प्रियप्रवास और कामा-यनी का विकास मानना तो दूर उनका गौरवपूर्ण अवशेष भी माना जा सके।

दिनकर ने प्रबन्ध काव्यो की परम्परा मे पहला प्रयोग 'कुरुक्षेत्र' मे किया जिसमे समस्या प्रधान थी, पुराण और पौराणिक पात्र निमित्त मात्र। उर्वशी मे भी समस्या ही प्रधान है। कुरुक्षेत्र के षष्ठ सर्ग मे कवि ने अतीत का पल्ला छोड कर वर्तमान की बात स्वय कही है, उर्वशी के तीसरे अक मे पुरुरवा और उर्वशी कथा के पात्र कम दिनकर की विचारधारा के प्रतिनिधि और प्रतीक अधिक हो गये है। प्रबन्ध काव्य की वैचारिक गरिमा और भव्यता सुदूर अतीत की घटनाओ और पात्रो के माध्यम से अधिक उपयुक्तता से व्यक्त हो सकती है। नित्यप्रति सम्पर्क मे आने वाले जाने-पहचाने व्यक्तियो और जानी-मानी घटनाओ से अभीष्ट गरिमा की उपलब्धि नही की जा सकती। सामान्यत शाश्वत और विशेषत समसामयिक इस समस्या के प्रतिपादन के लिए उर्वशी और पुरुरवा का प्रतीक उचित ही बन पड़ा है।

उर्वशी के प्रथम अंक को सूच्य अक माना जा सकता है, जिसमे अप्सराओ द्वारा घटनाओ का वर्णन तो कराया ही जाता है, उर्वशी की मूल समस्या की स्थापना भी उन्ही के द्वारा कराई जाती है। मेनका, सहजन्या और रम्भा के कथोपकथन मे शृङ्गार के ऐन्द्रिय, अतीन्द्रिय, मासल और रूमानी पक्षो का

विवेचन किया गया है। इस विश्लेषण मे दिनकर की रसवन्ती की नारी कविता मे व्यक्त नारी-भावना को ही पौराणिक परिपार्श्व मे रख कर उसे नई प्रतीकात्मकता दी गई है। सूत्रधार नाटक के पात्रो और पृष्ठभूमि का परिचय देने के साथ ही साथ समस्या की स्थापना भी करता है। इस अक मे अमर लोक के अरूप और पृथ्वी के ऐन्द्रिय प्रेम का विवेचन करते हुए, प्रेम के दैहिक और मानसिक दोनो ही पक्षो की एकागिता की स्थापना की जाती है। दैवी प्रेम मे एक ओर अतितृप्ति-जन्य जडता है, तो दूसरी ओर अतीन्द्रियता, पार्थिव प्रेम मे केवल तृष्णा, उद्रेक, और उद्वेग है। पार्थिव मनुष्य स्थूल को भेद कर स्पर्शमुक्त प्रेम को ही सत्य समझता है, और देवता कभी-कभी अरूप की तृप्तिजन्य कुठा और जडता से ऊब कर रूप को बाहो मे भरने के लिए अकुलाते है—समस्या यही से आरम्भ होती है। रम्भा, मेनका और सहजन्या उसे आगे बढाती है। उन्ही की उक्तियो के द्वारा नारी-जीवन और व्यक्तित्व के अनेक पक्षो का उद्घाटन होता है। 'उर्वशी' की कथा के वर्णन मे पूर्वराग-जन्य विरह की मानसिक स्थितियो तथा कामदशाओ का वर्णन हुआ है जो अधिकतर परम्परा पर आवृत है, परन्तु अनुभावो और सूक्ष्म संचारी भावो की अभिव्यक्ति मे अलंकार्य और अलंकार के पूर्ण तादात्म्य के कारण विरह की तन्मयता, क्लान्ति, श्रान्ति और उद्विग्नता आदि का मार्मिक चित्रण हुआ है। एक प्राकृत मानव के लिए स्वर्ग-परी उर्वशी का पागलपन मानवी और दैवी प्रेम के विचार-सूत्र को आगे बढ़ने का अवसर देता है। यही से 'उर्वशी' की शृङ्गार-भावना दो भागो मे बट जाती है। एक ओर अप्सरा-प्रेम चलता है तथा दूसरी ओर मानवी-प्रेम। इन दोनों ही प्रकार के शृङ्गार में दिनकर की पहली ही मान्यताओ की आवृत्ति हुई है। आश्चर्यजनक संयोग यह है कि जिन तत्वो को आधुनिका नारी की विकृतिया मानकर दिनकर ने उसकी भर्त्सना की थी, अप्सराओ के व्यक्तित्व-निर्माण मे उन्ही का प्रयोग किया गया है, जिन विशेषताओ के लिए दिनकर ने उनको धिक्कारा था वही विशेषताये अप्सराओ की परिचयोक्तियो मे मिलती है—जैसे 'नारी' कविता की पक्तिया है—

जनाकीर्ण संसार बीच कितनों का मन बांधोगी ?
निरुद्देश्य बेधोगी चलते राह हृदय किस-किस का ?[1]

प्रकारान्तर से वही बात रम्भा कहती है—

---

१. रसवन्ती, पृ० ४७

सृष्टि हमारी नहीं संकुचित किसी एक आनन से,
किसी एक के लिये सुरभि, हम नहीं संजोती मन मे।

* * *

प्रेम मानवी की निधि है अपनी तो वह क्रीड़ा है;
प्रेम हमारा स्वाद, मानवी की आकुल पीडा है।[1]

रसवन्ती की आधुनिका का चित्र है—

अपना चित्र विविध रंगो में आप सृजन करती हो
और जांचती हो फिर स्वयं पुरुष के दृग से
दर्पण में, रंगों में, नर की अमित लुब्ध आंखों में
देख रहीं सबमें अपने को क्रम से बिठा बिठा कर।[2]

उर्वशी की अप्सरा का चित्रण है—

हम तो है अप्सरा पवन में मुक्त विहरने वाली,
गीत-नाद, सौरभ सुवास से सबको भरने वाली।
अपना है आवास न जाने, कितनों की चाहों में,
कैसे हम बंध रहें किसी भी नर की दो बाहो में।[3]

अप्सरा-दृष्टि की प्रतिनिधि रम्भा मातृत्व के प्रति जो घृणा का भाव व्यक्त करती है, उसके सकेत भी हमे इसी कविता मे मिल जाते है। इस पीढी के पहले की भारतीय आधुनिका ने पत्नीत्व और मातृत्व के बोझ से बच कर अनियन्त्रित और स्वतन्त्र जीवन बिताने का बीडा उठा लिया था, अपना व्यक्तित्व, अपना सुख और अपना सौन्दर्य ही उसके लिए प्रधान हो उठा था, मातृत्व की गरिमा और पत्नीत्व की मर्यादा उसे अपने हाथो मे पडी हुई हथकड़िया जान पड़ने लगी थी। दिनकर ने इसी ओर इंगित करते हुए कहा था—

काश! समझतीं जन्म निरोधातुर कृत्रिम बन्ध्याये,
पुत्र-कामना इच्छा है अपने को ही पाने की।[4]

मातृत्व के प्रति इसी अनादर और घृणा का व्यक्तीकरण रम्भा करती है। उसकी दृष्टि मे मातृत्व की पवित्रता की अपेक्षा यौवन के स्वप्न, प्राणो के इन्द्रधनुष और फूलो के देश मे उन्मुक्त घूमने का मूल्य अधिक है। वात्सल्य की

१. उर्वशी, पृ० १५
२. रसवन्ती, पृ० ४६
३. उर्वशी, पृष्ठ १६
४. रसवन्ती, पृ० ५१

स्निग्धता और सार्थकता की अपेक्षा प्राणो का वेग उसके लिए अधिक महत्वपूर्ण है, मातृत्व उसकी दृष्टि मे एक विरूपता है—

किरणमयी यह परी करेगी यह विरूपता धारण ?
वह भी और नहीं कुछ, केवल एक प्रेम के कारण ?

*　　　*　　　*

गर्भ भार उर्वशी मानवी के समान ढोयेगी ?
यह शोभा यह गठन देह की, यह प्रकान्ति खोयेगी ?[1]

तथा—

पुत्रवती होंगी, शिशु को गोदी में हलरायेंगी
मदिर तान को छोड़ सांझ से ही लोरी गायेंगी।
पहनेंगी कंचुकी क्षीर से क्षण-क्षण गीजी-गीली,
नेह लगाएंगी मनुष्य से, देह करेंगी ढीली।[2]

'उर्वशी' मे आए हुए इसी प्रकार के अनेक कथनो से ऐसा जान पडता है कि वर्तमान युग की उलझनपूर्ण वैयक्तिक समस्याए और तद्सम्बन्धी उनकी अपनी मान्यताएं दिनकर के अवचेतन मे विद्यमान है और उर्वशी की प्रेरणा मे उनका काफी महत्वपूर्ण योग रहा है। मातृत्व की गरिमा सम्बन्धी मेनका की उक्तियो मे भी उसी कविता के तीसरे भाग मे व्यक्त मान्यताओ की आवृत्ति हुई है। नारी पुत्र के माध्यम से समष्टि मे प्रवेश करके ससीम से असीम बन जाती है। निर्बन्ध परी क्रीड़ा कौतुक और प्रणय से परे जीवन की उदात्त गम्भीर भूमि पर चरण रख कर महाविश्व को जीवित रखने के दायित्व का अनुभव करने लगती है। उर्वशी मे भी प्रकारान्तर से इन्ही भावनाओ की आवृत्ति की गई है—

गलती है हिम शिला, सत्य है, गठन देह की खोकर,
पर हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर।
युवा जननि को देख शान्ति कैसी मन में जगती है
रूपमती भी सखी ! मुझे तो त्रिया वही लगती है
जो गोदी में लिए क्षीरमुख शिशु को सुला रही हो
अथवा खड़ी प्रसन्न पुत्र का पलना झुला रही हो।[3]

इस प्रकार उर्वशी के प्रथम अंक मे विभिन्न पात्रों के द्वारा वर्णित घटनाओ तथा उनकी विचारधाराओ मे उसके प्रतिपाद्य के दो प्रमुख सूत्रों की स्थापना

---

१. उर्वशी, पृष्ठ १६
२. उर्वशी, पृष्ठ १६
३. वही, पृष्ठ १६

होती है। एक ओर अतीन्द्रियता-जन्य जडता से ऊबी हुई चेतना पार्थिव शृङ्गार की आग को झेलने के लिए तैयार होती है और दूसरी ओर 'मानवी' के मातृत्व की पवित्र गरिमा की स्थापना होती है जिसका पलड़ा आगे चल कर उर्वशी की प्रणय-भावना से भारी हो जाता है और जिसके द्वारा कवि परोक्ष रूप से मातृत्व को नारी जीवन की चरम सार्थकता के रूप मे घोषित करता है।

प्रथम तथा द्वितीय अंको मे उर्वशी और पुरुरवा मच पर नही आते। अप्सराए ही उनकी कहानी का वर्णन करती है। और ये दोनो ही अभी तक केवल कहानी के पात्र मात्र हैं उनका प्रतीकात्मक महत्व प्राय: कुछ भी नही है। पुरुरवा और उर्वशी के पूर्वानुराग की समाप्ति जिन पक्तियो से होती है उन्ही से यह सकेत मिल जाता है कि आगे उसकी परिणति क्या होने वाली है—

यही समुद्वेलन नर का शोभा है रूपमती की।
सुन्दर थी उर्वशी, आज वह और अधिक सुन्दर है।
राका की जय तभी, लहर उठता जब रत्नाकर है।[1]

द्वितीय अंक की कथा में भारतीय पत्नीत्व की आसू भरी मर्यादा और गीली गरिमा की कहानी कही गई है। रेणुका की 'राजा रानी' की कल्पना यहां साकार हो गई है। औशीनरी 'वर्षा की रानी' अपने दृगो के पानी से 'धरा' को सीच कर पति के जीवन मे वसन्त के कुसुम खिलाती है। औशीनरी के चरित्र मे प्राय. सभी कुछ वही है जिसकी कल्पना मैथिलीशरण गुप्त ने यशोधरा और उर्मिला के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा के लिए की थी। परन्तु यहा एक बहुत बडा अन्तर यह है कि गुप्त जी द्वारा निर्मित वे नारिया खण्डिता नही थी ; उनके पति कर्तव्य-मार्ग पर जाकर उनके जीवन मे भी आदर्श की प्रेरणा छोड गए थे, जब कि औशीनरी का पति उसके गम्भीर प्रेम, निष्ठा और त्याग की अवहेलना करके केवल प्रवृत्तिगत दुर्बलताओं के कारण अप्सरा के प्रेम मे फँस गया है। अपने रूप और यौवन का जाल फेंक कर पुरुष के मन का आखेट करने वाली उस 'अप्सरा' के प्रति उसके मन मे आक्रोश और क्रोध है पर वह विवश और असहाय का क्रोध है जो केवल उपालम्भ बन कर व्यक्त होता है। निपुणिका और मदनिका द्वारा वर्णित उर्वशी के प्रति पुरुरवा की पागल आसक्ति का वर्णन वह हृदय को सयमित और नियन्त्रित करके सुनती है। पत्नी और परकीया के प्रेम के भेदाभेद की तुलना ही इस अंक में प्रधान रही है। एक ओर नारी का वह प्रमदा रूप है जिसके सामने अजेय केसरी तन-मन की समस्त सुधि-बुधि भूल कर, उसके चरणो में पडा रहता है। पुरुष के उद्वेलित और आतुर मन का

१. उर्वशी, पृष्ठ १५

आवेग निर्बन्ध ज्वार की तरह उमडता है और नारी की अर्ध-जाग्रत भावनाओं को छोड कर शान्त हो जाता है और फिर प्रेम की आकांक्षिणी नारी जन्म भर आसुओ की माला पिरोती बैठी रहती है। ये ही आसू औशीनरी के जीवन का इतिहास कहते है। इस अंक मे भी प्रेम के विविध रूपो का विश्लेषण चेतन और अचेतन स्तर पर किया गया है। पुरुष की उद्दाम काम-प्रवृत्ति के कुछ चित्र देखिए—

जलती हुई छांह में आती याद छांह की, जल की,
या निकुंज में राह देखती प्रमदा के अंचल की।
और नरों में भी, जो जितना ही विक्रमी प्रबल है,
उतना ही उद्दाम, वेगमय उसका दीप्त अनल है।[1]

* * *

जितना ही जो जलधि रत्न पूरित, विक्रान्त अगम है,
उसकी बाड़वाग्नि उतनी ही अविश्रान्त, दुर्दम है।
बन्धन को मानते वही, जो नद नाले सोते है,
किन्तु महानद तो, स्वभाव से ही, प्रचंड होते हैं।[2]

और इस प्रचण्डता का तूफान झेलने वाली होती है वह पत्नी, जिसकी निष्ठा उसे पति की दुर्बलताओं से समझौता करने को बाध्य करती है, जिसको छोड कर वह अपने लिए दूसरा मार्ग नही बना पाती। विधि का विधान उसके मार्ग का बाधक नही होता, उसकी अपनी निष्ठा ही पति के मार्ग से भिन्न मार्ग की कल्पना उसके मस्तिष्क मे नही आने देती। परन्तु इस निष्ठा के मूल मे कुठा-जन्य उद्विग्नता नही उन्नयन-जन्य शान्ति और शक्ति है, वह शक्ति जिसके सहारे भारतीय नारी देवी का पद पाती जा रही है।

उर्वशी के प्रथम दो अको की शृङ्गार-चेतना भारतीय परिवेश और आदर्शों के बीच पल्लवित हुई है। पत्नीत्व की परिभाषा और मातृत्व के गौरव की स्थापना पूर्णत भारतीय है। उर्वशी और पुरुरवा अवश्य सनातन नर और नारी माने जा सकते है, क्योकि उनमे वह आदर्श-जन्य पार्थक्य नही है जो विभिन्न देशों और विश्व के भू-भागों की सास्कृतिक, नैतिक तथा अन्य मूल्यो की विभिन्नता के कारण अनिवार्य हो जाता है। उनका प्रेम तो प्रवृत्तिजन्य है और प्रवृत्तियों का रूप विश्वजनीन, सार्वकालिक और सार्वभौम होता है।

---

१. उर्वशी, पृष्ठ ३८

२. वही, पृष्ठ ३८

तीसरे अंक मे भारतीय पृष्ठभूमि प्राय पूर्ण रूप से हट जाती है। ऐसा लगता है कि पहले दो अको का अभिनय मच के अग्र भाग पर भारतीय पृष्ठ-भूमि के परदे के आगे हो रहा था, स्वर्ग भी नीचे पृथ्वी के किसी अन्य भाग मे नही, भारत की भूमि पर ही उतरा था, औशीनरी के आसू भी भारतीय पत्नी की कहानी कहते थे, पर तृतीय अक मे जैसे यवनिका फट जाती है और नाटक का अभिनय विश्व की विशाल पृष्ठभूमि मे होने लगता है जहा सास्कृतिक, भौगोलिक, सामयिक अथवा नैतिक रेखायें विश्व को राष्ट्रो और देशो मे विभाजित नही करती, पुरुरवा और उर्वशी विश्व-नर और विश्व-नारी के प्रतीक बन जाते है। कुरुक्षेत्र के विश्वजनीन आधार-फलक पर लिए हुए चित्र मे फोकस सामूहिक पक्ष पर था, उसमे प्रकाश और अन्धकार के अनेक उतार-चढाव थे, परन्तु उर्वशी का यह चित्र तो उस छायाचित्र के समान है जिसमे व्यक्ति की घनी और गहरी छाया का उभार ही प्रधान रहता है, और अमूर्त प्रतीकात्मकता के द्वारा ही हम उसका प्रभाव ग्रहण करते है। पुरुरवा और उर्वशी यहा नायक-नायिका कम प्रतीक अधिक हो जाते हैं।

इन पात्रो की प्रतीकात्मकता के विषय मे कवि ने भूमिका मे जो कुछ कहा है उसका उल्लेख करना यहा अनिवार्य सा जान पड़ता है। "उर्वशी शब्द का कोषगत अर्थ होगा उत्कट अभिलाषा, अपरिमित वासना, इच्छा अथवा कामना। और पुरुरवा शब्द का अर्थ है वह व्यक्ति जो नाना प्रकार का रव करे, नाना ध्वनियो से आक्रान्त हो। उर्वशी चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक तथा श्रोत्र की कामनाओ का प्रतीक है, पुरुरवा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से मिलने वाले सुखो से उद्वेलित मनुष्य"।[१] जहा तक पुरुरवा की प्रतीकात्मकता है मुझे उसके विषय मे कुछ नही कहना है। पुरुरवा का द्वन्द्व पार्थिव मनुष्य का द्वन्द्व है जिसका स्वभाव ही है सघर्ष-ग्रस्त रहना। वह सुख की कामना भी करता है और उससे आगे निकलने का प्रयास भी करता है। परन्तु उर्वशी की प्रतीकात्मकता मुझे कवि की उक्तियों द्वारा ही खण्डित होती जान पडती है। उपर्युक्त उद्धरण मे उर्वशी को विभिन्न इन्द्रियो की कामनाओ तथा सनातन नारी का प्रतीक माना गया है। परन्तु थोडी दूर आगे चलकर ही कवि कहता है "उर्वशी द्वन्द्वो से सर्वथा मुक्त है। देवियो मे द्वन्द्व नही होता, वे त्रिकाल अनुद्विग्न निर्मल और निष्पाप होती है। द्वन्द्वों की कुछ थोडी अनुभूति उसे तब होती है जब वह माता अथवा पूर्ण मानवी बन जाती है, जब मिट्टी का रस उसे पूर्ण रूप से अभि-

१. उर्वशी भूमिका, पृष्ठ ख—दिनकर

षिक्त कर देता है।"[1] इस प्रकार उर्वशी के तीन रूप हमारे सामने आते है (१) कामनाओ और सनातन नारी की प्रतीक उर्वशी (२) देवी उर्वशी (३) मानवी उर्वशी। प्रथम रूप मे कवि ने उसे नारी का प्रतीक माना है—नारी जो केवल कामनाओ की जड वाहक नही है, जिसमे आदर्श और कामनाओ का सघर्ष, पुरुष के द्वन्द्व से कही अधिक होता है—पुरुरवा को जैसे राम की एकनिष्ठता का प्रतीक नही माना जा सकता—उर्वशी को भी सीता नही माना जा सकता। उसमे दैवी गुण कहा है ? प्रथम अक मे विभिन्न अप्सराओं के द्वारा ही जिस अप्सरा-धर्म का वर्णन-विवेचन कराया गया है—क्या उर्वशी उनसे अलग है ? 'देवी' शब्द का रूढ अर्थ भी उसके ऊपर चरितार्थ नही होता, देवी की जो अनुद्विग्न निर्मल और निष्पाप कल्पना दिनकर की है—उर्वशी में वह कहां है। उर्वशी को दिनकर यदि आरम्भ से ही मानवी बना सकते तो शायद यह प्रतीक अधिक सफल होता। उसकी भावनाओ का ज्वार उसे अनुद्विग्न देवी के पद से वचित कर देता है और द्वन्द्व से रहित होकर वह सनातन नारी की प्रतीक होते हुए भी नारी नही रह जाती। वह तो पुरुष की आकाक्षाओ को उभारने वाली प्रवृत्तियो की केन्द्र मात्र बन कर रह जाती है। दिनकर के अनुसार "नारी के भीतर एक जो नारी है जिसका सन्धान पुरुष तब पाता है जब दैहिक चेतना से परे प्रेम की दुर्गम समाधि मे पहुचता है।" वह द्वन्द्व से परे नही है, जड नही है। अच्छा होता यदि दिनकर वह द्वन्द्व भी देख सके होते, तब शायद उर्वशी अपने प्रणयिनी रूप मे केवल भोग्या बन कर ही न रह जाती, उसमे एक व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा भी हो सकती। और यदि सच कहा जाय तो इन दोनो पात्रो की प्रतीकात्मकता प्राय. तीसरे अक तक ही केन्द्रित और सीमित होकर रह गई है।

उर्वशी के तीसरे अक को उसी अर्थ मे उसका प्राण तत्व माना जा सकता है जिस अर्थ मे कि कुरुक्षेत्र के षष्ठ सर्ग को उसका सार माना जाता है। इसी अक मे उर्वशी के मुख्य प्रतिपाद्य का विवेचन-विश्लेषण हुआ है। रतिभाव अथवा काम तत्व मानव-जीवन की सबसे प्रबल वृत्ति है। उसी के "सूक्ष्म-प्रबल, कोमल-कठोर, तरल-प्रगाढ़, मोहक-पीड़क, उद्वेगकर और सुखकर, दाहक और शीतल, मृण्मय और चिन्मय अनेक रूपो का उर्वशी मे अत्यन्त मनोरम चित्रण है और सबसे अधिक आकर्षक है प्रेम की उस चिर अतृप्ति का चित्रण,

---

१. उर्वशी, भूमिका, पृष्ठ ग

जो भोग से त्याग और त्याग से भोग अथवा रूप से अरूप और अरूप से रूप की ओर भटकती हुई मिलन तथा विरह मे समान रूप से व्याप्त रहती है।"[1]

तृतीय अक का आरम्भ गन्धमादन पर्वत के रूमानी वातावरण मे होता है और आरम्भ मे ही उर्वशी सहज मानवी के रूप मे आती है। रतिभाव के विकास की प्रारम्भिक स्थितिया मनोवैज्ञानिक स्पर्श से आरम्भ होती है। पुरुष नारी की सहजता, कोमलता और सौन्दर्य की ओर आकर्षित होता है, परन्तु नारी के लिए पुरुष का सबसे प्रबल आकर्षण होता है उसका पौरुष, शौर्य, आत्मविश्वास और अह। उर्वशी भी मानवी सहज भावनाओं से प्रेरित पुरुरवा से कहती है—

पर, इस आने में किंचित् भी स्वाद कहां उस सुख का,
जो सुख मिलता उन मनस्विनी वाम लोचनाओं को
जिन्हें प्रेम से उद्वेलित विक्रमी पुरुष बलशाली
रण से लाते जीत या कि बल सहित हरण करते है।

* * *

वही धन्य जो मानमयी प्रणयी के बाहु वलय में
खिची नही, विक्रम तरंग पर चढ़ी हुई आती है।
हरण किया क्यों नही, मांग लाने मे यदि अपयश था ?[2]

जैसा कि नरेन्द्र जी ने इगित किया है "तीसरे अक मे प्रेम कम हो गया है प्रेम की व्याख्या अधिक हो गई है। प्रेम मे पल कर प्रेमी एकाकार नही होते। वह आत्मज्ञापन करते लगते हैं। यह कर्म नही क्रिया है, क्रिया नही प्रतिक्रिया है"।[3] पुरुरवा के मन मे आरम्भ से ही द्वन्द्व है और कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय वह प्राय. इन्ही मूल्यो द्वारा करता है जिनका निर्धारण भीष्म ने कुरुक्षेत्र मे युधिष्ठिर के मन की अपराधजन्य हीन भावना को मिटाने के लिए किया था। वैयक्तिक और शृङ्गारिक अनुभूतियो के स्तर पर भी उनके चिन्तन की पृष्ठभूमि में अनासक्ति और निष्काम काम की भावना है, इच्छा और क्रिया के असामजस्य से उत्पन्न द्विधा का निराकरण यहां भी गीता की पृष्ठभूमि मे किया गया है। अनासक्ति, काम से इतर इच्छाओ तक ही सीमित नही है उसका किंचित् स्पर्श प्रणय को भी पवित्र करता है। उर्वशी की कुछ पक्तियो मे तो

१. अन्तर्मन्थन का काव्य उर्वशी, डा० नगेन्द्र—दिनकर सृष्टि और दृष्टि, पृष्ठ २३१, सं० गोपाल कृष्ण कौल

२. उर्वशी, पृष्ठ ४५

३. मणिकुट्टिम काव्य उर्वशी, नरेन्द्र शर्मा—दिनकर सृष्टि और दृष्टि, पृष्ठ २४०, सं० गोपाल कृष्ण कौल

यह विचार कही-कही प्राय कुरुक्षेत्र की शब्दावली मे ही व्यक्त हुआ है। जैसे उर्वशी की पक्तिया है—

मै मनुष्य, कामना वायु मेरे भीतर बहती है
कभी मन्द गति से प्राणो मे सिहरन पुलक जगा कर
कभी डालियों को मरोड़ झंझा की दारुण गति से
मन का दीपक बुझा, बना कर तिमिराच्छन्न हृदय से
फिर होता संघर्ष तिमिर मे दीपक फिर जलते है।

* * *

रगो की आकुल तरंग जब हमें घेर लेती है
हम केवल डूबते नहीं, ऊपर भी उतराते है
पुण्डरीक के सदृश मृत्ति जल ही जिसका जीवन है,
पर, तब भी रहता अलिप्त जो सलिल और कर्दम से।[1]

कुरुक्षेत्र मे यही भाव इस प्रकार व्यक्त किए गए है—

रागानल के बीच पुरुष कंचन सा जलने वाला,
तिमिर सिन्धु में डूब रश्मि की ओर निकलने वाला,
ऊपर उठने को कर्दम से लड़ता हुआ कमल-सा
ऊब डूब करता, उतराता घन में विधु मण्डल सा।

* * *

हार मान हो गई न जिसकी किरण तिमिर की दासी
न्योछावर उस एक पुरुष पर कोटि कोटि सन्यासी।[2]

मानव के उष्ण प्रेम की तृष्णा से प्रेरित उर्वशी अनासक्ति का नाम सुन चौकती है और कामनाओ के सत्य की स्थापना करती है—मन की वह तीव्र, स्निग्ध प्रेरणा जिसकी कायिक अभिव्यक्तियो से तन और मन की ग्रन्थियां खुल जाती है, जिसकी मादकता मे खोकर मनुष्य अनिर्वचनीय आनन्द के सागर मे डूब जाता है—अन्धकार और अज्ञान है ? मिथ्या है ? बुद्धि और कामना के द्वन्द्व से उत्पन्न मनुष्य के अन्तर्मन की विविधरूपा अरूप झकृतियो को दिनकर ने अपने विचार और कल्पना में बांध लिया है। कही उनमें तूफान का उद्दाम वेग है, कही सागर की सी गम्भीरता, कही कादम्बिनी की छाह है तो कही रुधिर मे रेंगते हुए सोने के साप। उसके द्वन्द्व में विचारवान पुरुष की द्विधा का चित्रण है जो विवेकरहित होकर काम के जैव धरातल के ऐन्द्रिय सुख को ही जीवन की सिद्धि मान कर नही जी सकता। बुद्धि और हृदय, आदर्श और कामनाओं

१. उर्वशी, पृष्ठ ४६—४७
२. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १०५

के द्वन्द्व से ही उसमे श्रृङ्गार की तन्मयता के स्थान पर सकल्प और विकल्प उत्पन्न होते है, जो उसे पूर्ण और अखण्ड तन्मयता का भोग नही करने देते। पुरुष का जागरूक अह और विवेक एक ओर उसे श्रृङ्गार की मादकता मे पूर्ण रूप से तल्लीन नही होने देता और दूसरी ओर काम के प्रति अबाध आसक्ति से मुक्त हो सकने मे भी वह असमर्थ रहता है।

चेतन और अचेतन स्तर पर चलते इस द्वन्द्व की अनेक अनुभूतिया पुरुरवा की उक्तियो मे साकार हुई है, कुछ उदाहरण इस प्रकार है—

पर जहा तक भी उडूं, इस प्रश्न का उत्तर नहीं है।
मृत्ति महदाकाश में ठहरे कहां पर ? शून्य है सब।
और नीचे भी नहीं सन्तोष,
मिट्टी के हृदय से
दूर होता ही कभी अम्बर नहीं है।[1]

* *

गीत आता है कही से ?
था कि मेरे ही रुधिर का राग
यह उठता गगन में ?
बुलबुलों से फूटने लगतीं मधुर स्मृतियां हृदय मे,
याद आता है मदिर उल्लास मे फूला हुआ वन
याद आते है तरंगित अंग के रोमांच कम्पन
स्वर्णवर्णा वल्लरी में फूल से खिलते हुए मुख
याद आता है निशा के ज्वार में उन्माद का सुख
कामनायें प्राण को हिलकोरती है
चुम्बनों के चिह्न जग पड़ते त्वचा में।[2]

* * *

चाहिये देवत्व पर इस आग को घर दूं कहां पर
कामनाओं को विसर्जित व्योम में कर दू कहां पर
वह्नि का बेचैन यह रसकोष, बोलो कौन लेगा ?
आग के बदले मुझे सन्तोष बोलो कौन देगा ?[3]

*

उर्वशी, पृष्ठ ४६
२. उर्वशी, पृष्ठ ५१
३. उर्वशी, पृष्ठ ५४—५५

बुद्धि बहुत करती बखान सागर तट की सिकता का,
पर तरंग-चुम्बित सैकत में कितनी कोमलता है,
इसे जानती केवल सिहरित त्वचा नग्न चरणों की।[१]

पुरुष, नारी के सौन्दर्य की आराधना के द्वन्द्व मे विकल रहता है, और स्त्री उसके व्यक्तित्व के वैश्वानर मे कूद पडने को विवश हो जाती है, यहा भी दिनकर ने ओज और आग की महत्ता को स्वीकार किया है—जिस प्रकार 'कुरुक्षेत्र' मे ओजदीप्त विनय और करुणा की ही महत्ता स्वीकार की गई थी, इसी प्रकार उनके शृङ्गार का माधुर्य भी ओज से ही दीप्त है। ओज के पावक मे ही शृङ्गार के अगरु का सौरभ वह प्रभाव उत्पन्न करता है जिसकी सुरभित ज्वाला मे जीने के लिए नारी विकल हो उठती है—

जितना ही यह खर अनल ज्वार शोणित मे उमड़ उबलता है
उतना ही यौवन अगरु दीप्त कुछ और धधक कर जलता है
मै इसी अगरु की ताप तप्त मधुमयी गन्ध पीने आई
निर्जीव स्वर्ग को छोड़ भूमि की ज्वाला मे जीने आई।[२]

बुद्धि और हृदय का जो द्वन्द्व कुरुक्षेत्र मे समष्टि स्तर पर व्यक्त किया गया था, वही इस वैयक्तिक स्तर पर भी ग्रहण किया गया है। कुरुक्षेत्र के भीष्म की उक्ति है—

बुझा बुद्धि का दीप वीरवर आंख मूंद चलते हैं।
उछल वेदिका पर चढ जाते और स्वयं बलते है।

* * *

सदा नही मानापमान की
बुद्धि उचित सुधि लेती,
करती बहुत विचार, अग्नि की
शिखा बुझा है देती ?[३]

उर्वशी की उक्ति है—

क्या विश्वास करे कोई कल्पनामयी इस धी का ?
अमित बार देती यह छलना, भेज तीर्थ पथिकों को,
उस मन्दिर की ओर, कहीं जिसका अस्तित्व नही है।

बुद्धि और हृदय के इस द्वन्द्व ने कुरुक्षेत्र मे कर्मयोग और वैराग्य तथा प्रवृत्ति

---

१. उर्वशी, पृष्ठ ६०
२ उर्वशी, पृष्ठ ५६
३. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ५३

और निवृत्ति मे द्वन्द्व का रूप ग्रहण किया था। दिनकर ने प्रथम को स्वीकार कर के द्वितीय का तिरस्कार और निषेध किया था, उर्वशी मे भी प्राय. उसी प्रकार की मान्यतायें एक भिन्न पृष्ठभूमि मे प्रतिपादित की गई हैं—

पढ़ो रक्त की भाषा को, विश्वास करो इस लिपि का,
यह भाषा, यह लिपि मानस को कभी न भरमायेगी
छली बुद्धि की भांति, जिसे सुख दुख से भरे भुवन मे
पाप दीखता वहां जहां सुन्दरता हुलस रही है
और पुण्य चय वहां जहां ककाल कुलिश काटे है।[1]

आदर्श और यथार्थ, सौन्दर्य और सत्य, अरूप और रूप, ऐन्द्रियता और अतीन्द्रियता को लेकर जो द्वन्द्व पुरुरवा के हृदय मे उठते है और जिनका उत्तर उर्वशी देती है वे प्राय. उन्ही तर्कों पर आधारित है, जिनका प्रयोग भीष्म ने युधिष्ठिर के द्वन्द्वग्रस्त हृदय को क्षोभ और ग्लानि से मुक्त करने के लिए किया था। वहा द्वन्द्व कर्तव्य-प्रेरित कर्म और विराग मे था। पहले के मूल मे उदात्त समष्टि-चेतना प्रधान थी और दूसरे मे अध्यात्म चेतना। परन्तु यहा द्वन्द्व प्रवृत्तियो और आदर्श मे है और प्रवृत्तियो मे भी काम प्रधान है। यहा भी दिनकर ने योग और भोग तथा शरीर और आत्मा मे सामजस्य की स्थापना द्वारा काम के काम्य रूप की कल्पना की है। जिसमे प्रणय और काम तत्व का विवेचन निष्काम काम की पृष्ठभूमि मे किया गया है। ऐन्द्रिय और भावनात्मक प्रेम विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक है। शरीर वह माध्यम है जिसके द्वारा नर और नारी स्थूल का अतिक्रमण करके किसी वायवीय और किरणोज्ज्वल देश मे पहुचना चाहते हैं, इसलिये जहा ऐन्द्रिय सुख ही साध्य बन जाता है, वह प्रेम का पाप रूप होता है—

काम कृत्य वे सभी दुष्ट है, जिनके सम्पादन मे
मन आत्मायें नही, मात्र दो वपुस मिला करते है,
या तन जहां विरुद्ध प्रकृति के विवश किया जाता है,
सुख पाने को, क्षुधा नहीं, केवल मन की लिप्सा से।[2]

● * *

फलासक्ति दूषित कर देती ज्यों समस्त कर्मों को
उसी भांति वह काम कृत्य भी दूषित और मलिन है।

---

१. उर्वशी, पृ० ६१—दिनकर
२. उर्वशी, पृष्ठ ८४—दिनकर

स्वतः स्फूर्त जो नही, ध्येय जिसका मानसिक क्षुधा का
सप्रयास है शमन, जहां पर सुख खोजा जाता है।
तन की प्रकृति नहीं, मन की माया से प्रेरित होकर।[1]

प्रेम का आदर्श रूप वह है जिसे मनोवैज्ञानिक शब्दावली मे उदात्तीकृत स्थिति का नाम दिया जा सकता है, जिसमे पहुच कर व्यक्ति इन्द्रियो के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श करता है। पुरुरवा और उर्वशी का आख्यान, भावना, हृदय, कला और निरुद्देश्य आनन्द की महिमा का आख्यान है, वह पुरुषार्थ के काम पक्ष का माहात्म्य बताता है। कायिक अनुभावो द्वारा व्यजित काम-जन्य प्रेरणाओं की निराकार झकृतियां उदात्तीकरण की सूक्ष्म सोपान मात्र है, वे अपूर्ण और अधूरी है, पूर्ण है वह स्थिति जब अरूप मे डूब कर मनुष्य भूतरोत्तर सौन्दर्य की अनुभूति करता है, जब वह सौन्दर्य की समाधि मे पहुच जाता है। काम का यही रूप स्वस्थ है यही उसकी आध्यात्मिक महत्ता है—

प्रकृति नित्य आनन्दमयी है, जब भी भूल स्वयं को
हम निसर्ग के किसी रूप (नारी, नर या फूलो) से
एकतान होकर खो जाते है समाधि निस्तल मे
खुल जाता है कमल धार मधु की बहने लगती है
दैनिक जग को छोड़ कहीं हम और पहुंच जाते है
मानो, मायावरण एक क्षण मन से उतर गया हो।[2]

कामजन्य द्वन्द्वो का समाधान और निराकरण रागो की मैत्री, स्वीकृति और समन्वय, आसक्तियो के बीच अनासक्त होने मे तथा स्पृहाओ को भोगते हुये भी निस्पृह और निर्लिप्त होने मे है। इस प्रसग मे एक बात ध्यान मे रखने की है कि वर्तमान युग की काम-जन्य उलझनो से मूल प्रेरणा प्राप्त करने पर भी दिनकर का दृष्टिकोण एकागी हो गया है, वे समस्या को केवल पुरुष के दृष्टिकोण से एक सीमित क्षेत्र और रूढिवादी परम्परा मे रखकर ही देख सके है, जिसके अनुसार नारी प्रवृत्तियो की एक बडल मात्र रह गई है, सार्वभौम स्तर पर मृण्मयी भावनाओ के उद्रेक और चिन्मयी बुद्धि के विवेक के द्वन्द्व से आज की नारी भी पुरुष के समान ही ग्रस्त है। परन्तु शायद प्रतीक की परिसीमा के कारण ही उर्वशी का कवि अपनी नायिका को मस्तिष्क और बुद्धि का वरदान नही दे सका।

चौथे अक मे कवि फिर भारतीय पृष्ठभूमि मे और अपनी कहानी पर लौट आता है। उर्वशी फिर नेपथ्य मे चली जाती है और उससे सम्बद्ध कथा-

---

१. उर्वशी, पृष्ठ ८५
२. उर्वशी, पृष्ठ ८६

सूत्र अन्य पात्रो द्वारा विकसित होता है। इस अक मे प्रकृति और परमेश्वर की एकानुभूति तथा सन्यास और प्रेम के बीच सतुलन की स्थापना का परिचय महर्षि च्यवन के माध्यम से दिया जाता है जिनके व्यक्तित्व मे काम की स्वच्छ सुस्थिर और शीतल धारा का प्रकाश चित्रित किया गया है। सुकन्या और चित्रलेखा के तर्क-वितर्क मे यहा भी प्रश्न के उसी सूत्र को आगे बढाया जाता है जिसे तृतीय अक मे छोड दिया गया था। तन-मन के प्रेम के विविध रूपो और प्रतिक्रियाओ का विवेचन-विश्लेषण इस अक मे भी होता है, परन्तु अब तर्क-वितर्क का रुख दूसरा है। यहा उर्वशी के उन्मादक ज्वार के स्थान पर सुकन्या का गार्हस्थिक-दृष्टिकोण है जो पत्नीत्व की गरिमा और गम्भीरता को ही नारी जीवन की सार्थकता के रूप मे स्वीकार करता है—

शिखर शिखर उड़ने मे, जाने कौन प्रमोद लहर है
किन्तु एक तरु से लग सारी आयु बिता देने मे
जो प्रफुल्ल घन, गहन शान्ति है, वह क्या कभी मिलेगी
नये नये फूलों पर नित उड़ती फिरने वाली को ?

* * *

गार्हस्थ्य जीवन की सुस्थिरता, गम्भीरता और अनुद्विग्न प्रेम का वर्णन वह इस प्रकार करती है—

एक दूसरे के उर मे हम ऐसे बस जाते हैं
दो प्रसून एक ही वृन्त पर जैसे खिले हुये हों।
फिर रह जाता भेद कहाँ पर शिशिर, घाम पावस का।[1]
एक सग हम युवा, संग ही सग वृद्ध होते है।
मिलकर देते खेप अनुद्धतमन विभिन्न ऋतुओं को
एक नाव पर चढ़े हुये हम उदधि पार करते है।[2]

इसी अ क मे रसवन्ती मे व्यक्त मातृत्व भाव को भी खुल कर विकसित होने का क्षेत्र मिलता है तथा भरत शाप के फलस्वरूप उठे हुये उर्वशी के मातृत्व और नारीत्व का सघर्ष भी बडी सुन्दरता के साथ व्यजित होता है।

पाचवें अक मे पुरुरवा के भविष्य-सूचक स्वप्न, सन्यास, आयु के राज्यारोहण की घटनाए है तथा औशीनरी के त्याग, पूर्ण समर्पण, और कुल-वधू तथा मातृत्व के दायित्व निर्वाह की जो योजना हुई है, वह भारतीय नारी की आसू-भरी परन्तु गौरवपूर्ण कहानी कहती है। पुरुरवा सब कुछ भोग कर भी रिक्त

---

१. उर्वशी, पृष्ठ १०८
२. उर्वशी, पृष्ठ ११०

और विषण्ण है और औशीनरी सब कुछ खोकर भी पूर्ण। विमाता मे मातृत्व का यह गौरव भी भारतीय परिवेश मे ही सम्भव हो सकता था—

> फला न कोई शस्य, प्रकृति से जो भी अमृत मिला था,
> लहर मारता रहा टहनियो मे, सूनी डाली मे,
> किन्तु प्राप्त कर तुझे आज, बस, यही भान होता है।
> शस्य भार से मेरी सब डालियां झुकी जाती हों।[1]

औशीनरी मे यशोधरा का सा मान है—

> और त्यागना ही था तो जाते-जाते प्रियतम ने
> ले लेने दी नही धूलि क्यो अन्तिम बार पदों की ?
> मुझे बुलाए बिना अचानक कैसे चले गए वे ?
> अकस्मात् ही मै कैसे मर गई कान्त के मन मे ?[2]

स्वकीया की निष्ठा और गम्भीरता से ऊब कर पुरुष नये सौन्दर्य और नई अनुभूतियो की खोज मे घर की सीमाए तोड कर बाहर जाता है। पत्नी के त्याग, समर्पण, सेवा-भाव, पूजा और आराधना से पुरुष के अह की तुष्टि चाहे होती हो, उसकी प्रवृत्तिया तो उसे नित नूतनता के स्वाद की ओर ही ढकेलती है। उसकी तृष्णा केवल मगलेषणा और शुभ कामना से नही पूरी होती। प्राणो के प्रार्थना भवन मे ही ध्यान लगा कर पत्नी जीवन की बाज़ी हार जाती है—औशीनरी के मन मे यही पश्चाताप शेष रह जाता है—

> रही समेटे अलंकार क्यो लज्जामयी वधू सी ?
> बिखर पड़ी क्यों नहीं कुट्टमित, चकित, ललित लीला मे ?
> बरस गई क्यों नहीं घेर सारा अस्तित्व दयित का
> मै प्रसन्न, उद्दाम, तरंगित, मदिर मेघमाला सी।[3]

सुकन्या पुरुष के स्वभाव से अधिक परिचित है। वह उसकी परिसीमाओ के प्रति सावधान और अपने दायित्वो तथा कर्तव्य कर्म की ओर से जागरूक है। उसे ज्ञात है कि चट्टानो और पहाडो से टक्कर लेने वाला दुर्जेय, भीम, विक्रान्त पुरुष भी अपने मन की तरग और तृष्णा के सामने हार जाता है। ससार की और सब समस्याओ का समाधान पुरुष के पास है परन्तु अपनी ही बनाई हुई उलझनो से निकल सकने मे वह असमर्थ होता है इसीलिए गृहस्थ नारी का

---

१. उर्वशी, पृ० १५४
२. वही, पृ० १५८
३. वही, पृ० १६०

दायित्व होता है कि वह सजग होकर पुरुष की आवश्यकताओ और अभावो को देखे—

इसीलिए, दायित्व गहन दुस्तर गृहस्थ नारी का ?
क्षण-क्षण सजग अनिद्र दृष्टि देखना उसे होता है,
अभी कहा है व्यथा ? समर से लौटे हुए पुरुष को
कहां लगी है प्यास, प्राण मे काटे कहा चुभे है ?[1]

'रसवन्ती' मे नारी के जिस प्रेरक रूप का चित्रण कवि ने किया था सुकन्या की उक्तियो मे उन्ही का विकास हुआ है, समष्टि को नारी का योगदान पुत्र और पति के माध्यम से होता है। पुरुष कर्म है और नारी प्रेरणा, कर्म दृश्य और साकार है प्रेरणा अदृश्य और परोक्ष। इसीलिए, इतिहास केवल शौर्य की गाथा कहता है, नारी के मूक-एकान्त, नीरव भावनात्मक योगदान पर उसकी दृष्टि नही जाती। 'अर्धनारीश्वर' मे व्यक्त पूर्व धारणा के अनुसार ही दिनकर ने यहा भी नारीत्व को देवत्व के अधिक निकट पाया है—

और देवि ! जिन दिव्य गुणो को मानवता कहते है
उसके भी अत्यधिक निकट नर नही, मात्र नारी है।
जितना अधिक प्रभुत्व तृषा से पीड़ित पुरुष-हृदय है,
उतने पीडित कभी नही रहते है प्राण त्रिया के।[2]

इस प्रकार उर्वशी के श्रृङ्गार के तीन विकास सूत्र मिलते है (१) उन्नयनित श्रृङ्गार, जिसके अन्तर्गत औशीनरी की वेदना, त्याग, गाम्भीर्य और दायित्व का भाव आता है। (२) सामजस्यपूर्ण गार्हस्थिक श्रृङ्गार, जिसका प्रतिनिधित्व महर्षि च्यवन और सुकन्या द्वारा होता है (३) प्रवृत्तिमूलक, भोगप्रधान श्रृङ्गार जो उर्वशी और पुरुरवा के माध्यम से व्यजित होता है। उर्वशी के विचार-प्रवाह की ये तीनों धाराएं एक दूसरे की विरोधी है यद्यपि निष्कामता तीनो में विद्यमान है। प्रथम मे अह का विलय है, द्वितीय मे ऐकात्म्य और सामजस्य है, तथा तृतीय का आधार आज का मनोविज्ञान है जिसके अनुसार मनुष्य का प्रत्येक कार्य काम-प्रेरित होता है। विचारात्मक काव्य की यह परिसीमा होती है कि कवि किसी यथार्थवादी निष्कर्ष पर नही पहुच सकता, विशेष कर ऐसी स्थिति मे जब कि उसका प्रतिपाद्य विषय द्वन्द्वमूलक हो। एक ही समस्या के विविध पहलू अलग-अलग दृश्य और समाधान प्रस्तुत करते है, और उन्ही पहलुओ मे कवि की दृष्टि फस जाती है। कुरुक्षेत्र के प्रतिपाद्य मे तो एक ही पात्र (भीष्म) के

---

१. उर्वशी, पृ० १४३
२. वही, पृ० १६४

माध्यम से समस्या के दोनो पक्षो का उद्घाटन किया गया था। भीष्म एक प्रकरण मे हिंसा और शौर्य की गर्जना करते है और दूसरे मे अहिसा और करुणा के स्वर मे बोलते है। युधिष्ठिर का स्वर अलग ही स्थान रखता है। परन्तु कुरुक्षेत्र का समाधान क्या है ? विश्व मे सद् और असद् का सघर्ष होता रहता है—सद् उदात्त आत्मा के आश्रय मे पोषित होता है असद् अनुदात्त स्वार्थ वृत्तियो की चिनगारियो मे। युद्ध, प्रथम की हार और द्वितीय की विजय का सूचक है—युधिष्ठिर के सद् को दुर्योधन के असद् का सामना करना पड़ता है—दुर्योधन का असद् ही विश्व मे प्रधान है, उसके निराकरण के लिए आवश्यक है कि धरित्री पर वह अमृत की धार बरसे जिससे जनजन के मन से स्वार्थ का कलुष बह जाए, व्यक्ति अपनी दृष्टि से न सोच कर दूसरो की दृष्टि से सोचने लगे। कुरुक्षेत्र मे युद्ध के निराकरण का समाधान यह दिया गया है। परन्तु क्या यह सम्भव है ? क्या युग-युगो के इतिहास मे कभी ऐसा पृष्ठ जुडा है जब दुर्योधन बिरले और युधिष्ठिर अनेक हुए हो ? इस प्रकार का समाधान काल्पनिक और अव्यावहारिक होता है। उर्वशी मे काम की समस्या का समाधान उन्नयन और सामजस्य के रूप मे प्रस्तुत किया गया है पर इसका प्रतिनिधित्व करने वाली घटनाए और पात्र गौण है। समस्या-प्रधान कृति मे मूल प्रभाव कई होते है और उनकी व्यजना भी केवल नायक-नायिका द्वारा नही, अन्य पात्रो द्वारा भी की जाती है। पुरुरवा का सन्यास और उर्वशी का प्रत्यागमन किस समाधान की ओर सकेत करता है ? मेरे विचार से तृतीय अक मे चित्रित प्रवृत्तिमूलक प्रेम का समाधान देना कवि का ध्येय नही रहा है। आज के विचार-दर्शन मे जहा काम को जीवन की मूल प्रेरणा तथा जीवनेच्छा के पर्याय रूप मे स्वीकार किया गया है, काम की प्रेरणा की समाप्ति और अभाव का अर्थ है जीवन-शक्ति का अभाव, जीवन जीने के उत्साह की समाप्ति। साधारण प्रतिभा का औसत व्यक्ति नैराश्य से समझौता कर लेता है, और असहाय के लिए उन्नयन का मार्ग सर्वश्रेष्ठ होता है—परन्तु पुरुरवा न साधारण है न असहाय। वह तो उस व्यक्ति का प्रतीक है जिसके व्यक्तित्व का देवोपम विकास हुआ है, जिसके स्नायविक तार चेतन और सजीव है तथा जिसका मन, स्वभाव से ही, ऊर्ध्वगामी और उड्डयनशील है, उसे काम के स्पर्श मात्र से प्रेम की समाधि का बोध होता है। प्रवृत्तियो को ही सत्य मान कर झझा के समान जीने वाले व्यक्ति के नैराश्य का समाधान क्या हो सकता है ? उसके विराग की प्रतिक्रिया भी उतनी ही तीव्र होगी जितनी राग की। आज के परिवेश मे जहा जीवन मे काम और अध्यात्म एक दूसरे के पूरक नही होते, वहा घोर नैराश्य की प्रतिक्रिया स्नाय-

विक विकृतियो, आत्महत्या और कुठाओ मे होती है। यदि दिनकर प्रवृत्तियो के शासन मे बंधे हुए व्यक्ति के दुर्भाग्यपूर्ण अनिवार्य 'अन्त' की ओर सकेत न करते तो शायद पुरुरवा काम से टूटे और बिखरे हुये व्यक्ति का प्रतिनिधित्व न कर पाता।

लेकिन मेरा विश्वास है कि चाहे हम इसको दोष माने या गुण पुरुरवा और उर्वशी के माध्यम से कोई समाधान प्रस्तुत करना कवि का उद्देश्य नही था। उसके अपने ही शब्द है, 'प्रश्नो के उत्तर, रोगो के समाधान मनुष्यो के नेता दिया करते है। कविता की भूमि केवल दर्द को जानती है, केवल बेचैनी को जानती है, केवल वासना की लहर और रुधिर के उत्ताप को पहचानती है।'[1]

शास्त्रीय और परम्परावादी दृष्टि से देखने पर उर्वशी का दुर्बल पक्ष यह दिखाई देता है कि उसके प्रधान पात्र दर्द, बेचैनी और वासना का प्रतिनिधित्व करते है, जिसका परिणाम निराशा है और गौण पात्र उन उदात्त मूल्यो और आदर्शों का जो दिनकर को अपने सस्कारो और परम्परा से मिलते है। यदि इसी तथ्य को उर्वशी के कवि द्वारा ज्ञापित उद्देश्य को ध्यान मे रख कर देखा जाय तो तृतीय अक का एक-एक शब्द उस उद्देश्य की सिद्धि और कवि के सामर्थ्य का प्रमाण देता है।

---

१. उर्वशी की भूमिका, पृष्ठ ६—दिनकर

पांचवां अध्याय

दिनकर का काव्य-शिल्प

भाषा और शब्द-समूह

शब्द भाव-प्रकाशन के मूल माध्यम है। जिस कवि का शब्द-कोष जितना समृद्ध होता है उसी के अनुसार उसकी भाषा-शैली भी समृद्ध होती है। कवि अपनी भावनाओ की अभिव्यक्ति के निमित्त शब्द-ग्रहण कर उनके सकलन तथा काट-छाट द्वारा उन्हे ऐसा रूप प्रदान करता है कि शब्दो का बाह्य रूप चाहे वही रहे परन्तु उसमे एक नए व्यजक अर्थ का समावेश हो जाता है। अभीष्ट की अभिव्यक्ति के लिए कवि अर्थ-सौन्दर्य और शब्द-सौन्दर्य का सहविन्यास करता है। उसकी भाषा मे शब्द और अर्थ एकात्म होकर एक दूसरे को सौन्दर्य प्रदान करते है। यदि शब्द भावो को यथोचित रूप से व्यक्त करने मे असमर्थ होते है तो उनका अर्थ-सकेत दूषित माना जाएगा। प्रतिपाद्य की अभिव्यक्ति मे कौन शब्द कितना उपयुक्त है यह जानना कवि का प्रथम कर्तव्य होता है। एक ओर उसे शब्दो की व्युत्पत्ति, उनके विभिन्न अर्थ तथा उनकी प्रकृति का ज्ञान होना आवश्यक है, दूसरी ओर अभिप्रेत की अभिव्यक्ति मे समर्थ विषयानुकूल तथा प्रसगानुकूल शब्दो के प्रयोग का अभ्यास भी उसके लिए जरूरी होता है।

गद्य और काव्य-भाषा का अन्तर

साधारण बोलचाल की भाषा तथा काव्य-भाषा मे एक सैद्धान्तिक अन्तर है। प्रथम मे प्रयुक्त शब्दो का लक्ष्य केवल कथनमात्र होता है, उनका प्रयोग अधिकतर अभिधा मे ही किया जाता है। शब्द के रूढ तथा निश्चित अर्थ से अधिक उसमे कोई ध्वनि अथवा सकेत निहित नही रहता। काव्य मे सहृदय तथा कवि का सबध बौद्धिक और रागात्मक दोनो ही स्तर पर होता है। इसलिए वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक गद्य मे जिन तत्वो का सयत्न निषेध किया जाता है काव्य मे वही तत्व बहुत महत्वपूर्ण होते हैं क्योकि काव्य मे प्रयुक्त शब्द किसी निश्चित अर्थ की अभिव्यक्ति द्वारा हमारी भावनाओं को झकृत ही नही करते प्रत्युत अपने मे अन्तर्निहित प्रसग-गर्भित लक्ष्यार्थ, व्यग्यार्थ अथवा ध्वन्यार्थ के द्वारा एक वातावरण की सृष्टि करके उसका सप्रेषण सहृदय तक करते हैं। बाह्य जगत के

साथ रागात्मक सम्पर्क के फलस्वरूप अनेक चित्र कवि की कल्पना मे उद्भूत होकर एकरूप हो जाते है और जिन शब्दो के द्वारा कवि उनकी अभिव्यक्ति करता है, उनमे अन्तर्निहित भाव जितने प्रभावोत्पादक होते है, कोश मे दिए गए उन शब्दो के निर्दिष्ट और निश्चित अर्थो मे उतनी सामर्थ्य नही होती। काव्य-शैली मे एक-एक शब्द वीणा के स्वर के समान झंकृत होता है और सहृदय पर अपनी झकारो की प्रतिध्वनि छोड जाता है। जिस विशिष्ट अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति कवि शब्द-विशेष के द्वारा करता है उसकी प्राप्ति उसे अनवरत शब्द-साधना द्वारा होती है। हृदय मे अकित अनेक चित्र, कल्पना के सहारे रूप ग्रहण करना चाहते है। भाव अथवा अर्थ और बाह्य जगत से गृहीत अभिव्यजना के माध्यम (विभिन्न उपमान तथा प्रतीक आदि) उसकी कल्पना-दृष्टि मे विद्यमान रहते है। कवि अपनी अभिरुचि तथा आवश्यकता के अनुसार दोनो का समन्वय करता है। सर्वश्रेष्ठ काव्य वही है जिसमे दोनो तत्वो का प्रयोग सतुलित रूप मे किया जाता है। अपरिभाष्य अनुभूतियो (अर्थ) और पारिभाषित शब्दो मे निहित निश्चित तत्व का सफल तादात्म्य ही श्रेष्ठ काव्य की कसौटी है। साहित्य का बाह्य रूप ऊपर से आरोपित नही होता। उसमे विभिन्न सम्बद्ध एकाको का जटिल प्रबन्धन होता है जिसके व्यावहारिक आधार-स्तम्भ शब्द है। शब्द स्वय भी विभिन्न ध्वनियो तथा सकेतो का सश्लिष्ट रूप होता है।

व्यावहारिक गद्य तथा काव्य का अन्तर शब्दो के बाह्य रूप मे नही प्रत्युत् उनकी योजना-पद्धति मे है। कविता का लक्ष्य काल्पनिक प्रतिकृतियो द्वारा, तथ्यो की नही अनुभूत्यात्मक सत्यों की अभिव्यक्ति करना होता है। कविता के शब्द कवि-हृदय के भावनात्मक तथा अनुभूत्यात्मक तत्वो के सम्पर्क तथा ससर्ग से एक नई शक्ति ग्रहण करके उसे अपने मे अन्तर्निहित कर लेते हैं। कविता मे शब्द प्रसंग-गर्भित होते हैं। वे पूर्ण रूप से भावनाओ मे ही रजित हो जाते है। परिचित शब्दावली मे कल्पना-चित्रों द्वारा नवीन अर्थबोध प्रदान करके कवि अपनी सृजनात्मक शक्ति का प्रयोग करता है जिसके द्वारा उसकी भावनाओं तथा अनुभूतियो के साथ सहृदय का साधारणीकरण करता है। यदि कवि की कल्पना-शक्ति दृढ और सबल हो तो पदावली के एक-एक शब्द का उसके साथ ऐकात्म्य हो जाता है। इस समीकरण और विभावक एकरूपता के अभाव मे शब्द, शब्दमात्र रह जाते है, प्रसग-गर्भित प्रतीक रूप नही धारण कर पाते। शब्दो की सत्ता अपने आप मे न काव्यात्मक है, न अकाव्यात्मक। शब्दो की काव्यात्मकता इस तथ्य पर निर्भर रहती है कि कवि किस सीमा तक अपने शब्दों तथा काल्पनिक प्रतिकृतियो का समीकरण कर सका है।

ऐतिहासिक दृष्टि से शब्दों के विभिन्न रूप

ऐतिहासिक दृष्टि से शब्द मुख्यत. चार प्रकार के होते है—तत्सम, अर्ध-तत्सम, तद्भव और देशज। इनके अतिरिक्त विभिन्न सस्कृतियो और विभिन्न भाषाओ के साहित्य से आदान-प्रदान के द्वारा अनेक विदेशी शब्द भी किसी भाषा मे स्थायी रूप से स्थान प्राप्त कर लेते है। कुशल कवि का कौशल यही है कि वह अपनी लेखनी की छेनी से उन्हे भी अपने मे मिला ले। किसी भी कवि की भाषा केवल तत्सम, तद्भव या किसी एक ही शब्द रूप द्वारा निर्मित नही हो सकती। हर प्रकार के शब्दो का प्रयोग करके कवि अपनी भाषा को व्यापक रूप देता है। तत्सम-बहुल भाषा का प्रयोग ही यदि साध्य बन जाय तो भाषा काव्य-भाषा न बनकर एक ओर पहेलिका-सी बन जाती है तो दूसरी ओर उसमे कर्णकटुत्व आ जाता है। आदर्श भाषा मे इन सभी प्रकार के शब्दो का मिश्रण-सा रहता है। भाषा की तत्समता उसे गरिमापूर्ण बनाती है तो तद्भव शब्द उसे सहजता प्रदान करते है। भाषा चाहे तद्भव-प्रधान हो अथवा तत्सम, उसकी सबसे अनिवार्य विशेषताये है औचित्य और सतुलन। अरस्तू ने सम्पूर्ण शब्द-समूह को आठ भागो मे विभाजित किया है। उसके अनुसार प्रत्येक शब्द निम्नलिखित वर्गो मे से किसी एक के अन्तर्गत आ जाता है।[1]

१. प्रचलित शब्द
२ अप्रचलित शब्द
३. लाक्षणिक शब्द
४. आलकारिक
५ नवनिर्मित
६ व्याकुचित
७ सकुचित
८ परिवर्तित

प्रथम दो वर्ग के शब्द अपने आप मे स्पष्ट है, शेष की परिभाषाए टिप्पणी के अन्तर्गत दी जा रही है।[2]

१ अरस्तु का काव्य-शास्त्र, पृष्ठ ५५, अनुवादक—डा० नगेन्द्र

२. Metaphorical word—Application of an alien name by transference either from genus to species or from species to genus or from species to species
Ornamental—A newly coined word is one which has never been even in local use, but is adopted by the poet himself. A word is lengthened when it's own vowel is exchanged for a

(*Contd. on next Page*)

अरस्तू के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि का प्रमुख ध्येय अपने प्रतिपाद्य को प्रभावोत्पादक बनाना है। इस अभीष्ट की पूर्ति के लिए कवि शब्दों के साथ हर प्रकार की स्वतन्त्रता ले सकता है। जहा तक शब्द-चयन का सम्बन्ध है उन्होने काव्य मे असाधारण और अप्रचलित शब्दो का प्रयोग ही अधिक उपयुक्त माना है। काव्य-भाषा के विषय मे उनका अभिमत उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अलकार-शास्त्र' मे उल्लिखित है।[1]

ग्रे के अनुसार किसी युग मे प्रचलित समसामयिक शब्द उस युग की काव्य-भाषा के शब्द नही हो सकते। तत्सम शब्दों में प्रचलित शब्दो की अपेक्षा कही अधिक गहनता होती है। ड्राइडन ने प्रतिपाद्य के उपयुक्त शब्दो का प्रयोग ही उचित माना है। जब किसी प्राचीन शब्द का प्रयोग उसकी ध्वनि तथा औचित्य के आकर्षण की दृष्टि से किया जाता है और वह शब्द बोधगम्य होने के साथ-साथ अभीष्ट प्रभावोत्पादन की शक्ति भी रखता है तो उसका ही प्रयोग श्रेष्ठ है परन्तु यदि प्राचीन तत्सम शब्दो के प्रयोग से कविता दुरूह और दुर्बोध हो जाती है तो कविता एक शब्द-संग्रह का रूप ग्रहण कर लेती है।

कहीं-कही पुरातन शब्दावली का प्रयोग प्रतिपाद्य के साथ बिल्कुल भी मेल नही खाता परन्तु कविता मे नये शब्दों के प्रयोग की कसौटी भी बोधगम्यता, सहजता और औचित्य ही होती है। प्रत्येक जीवित भाषा मे अनवरत रूप से नये शब्दो का निर्माण और विकास होता रहता है। कविता मे उनका निषेध

(*Contd from previous Page*)

longer one or when A syllable is inserted. A word is contracted when some part of it has been removed.
An altered word is one in which part of ordinary meaning is left unchanged and part is re-cast.

1. The diction of prose and the diction of poetry are distinct. One virtue of diction may be defined to be clearness If our language does not express our meaning it will not do its work. It ought to be neither low nor dignified but suitable to the subject Diction is made clear by nouns and verbs used in their proper sense Deviation from the ordinary idiom makes diction more impressive and as men are differently impressed by foreigners so are they affected by styled Hence we may give a foreign air to our language For men admire what is far from them. In the case of metrical composition there are many things which produce this effect. We must speak naturally and not artificially. The natural is persuasive the artificial is the reverse. Synonyms are most useful for the poets.

Rhetorics III I 8 —II—7 (from Basic works of Aristotle).

असम्भव है। कविता मे तत्सम तथा अन्य प्रकार के शब्दो के प्रयोग का अनुपात कई तथ्यो पर निर्भर रहता है। कवि प्रतिपाद्य के उपयुक्त अभिव्यंजना का रूप-निर्माण करता है। कुछ सीमा तक यह सत्य जान पडता है कि गम्भीर, विशद, व्यापक तथा दार्शनिक पृष्ठभूमि से युक्त साहित्य मे पुरातन शब्दावली के प्रयोग से एक भव्यता आ जाती है परन्तु नए और पुराने शब्दो का अथवा जनभाषा और प्राचीन भाषा के शब्दों का प्रयोग वैयक्तिक रुचि और संस्कार पर ही निर्भर रहता है। तुलसीदास तथा जायसी दोनो ने अपने महाकाव्यो मे व्यापक सिद्धान्तो का समावेश किया परन्तु दोनो की शब्दावली मे आकाश-पाताल का अन्तर है। तुलसी की भाषा के पीछे अगाध पाडित्य और उनके गम्भीर दार्शनिक होने का आभास मिलता है परन्तु जायसी की प्रेमाभिभूत सौन्दर्य भावना सीधी, सरल, जनपदीय भाषा मे ही व्यक्त है।

विन्यास की दृष्टि से शब्द-भेद

विन्यास की दृष्टि से काव्य मे प्रयुक्त होने वाले शब्द दो प्रकार के होते है—समस्त और असमस्त। समस्त शैली की पदावली प्रयास-साध्य होती है, इसमे प्राय भाव भाराक्रान्त हो जाता है। इस शैली मे शब्द इतने प्रधान हो जाते है कि भाषा का रूप तो अस्वाभाविक हो ही जाता है भाव भी शब्दजाल मे भटक जाते है। ऐसा जान पडता है कि शब्द कवि के आधीन नही, कवि शब्द के आधीन हो गया है। असमस्त शब्दो मे प्रयुक्त भाषा मे भाव और अभिव्यंजना का ऐकात्म्य बडे स्वाभाविक रूप से हो जाता है, न भाषा जटिल होने पाती है और न भाव-सौन्दर्य विकृत होता है।

शब्द-निर्माण

जब कवि का भावोद्रेक नूतन-पुरातन, समस्त-असमस्त किसी प्रकार की पदावली मे अपने मनोनुकूल व्यजना-शक्ति नही प्राप्त करता तो वह नये शब्दो का निर्माण कर डालता है। शब्द-निर्माण-कला भी कवि-प्रतिभा की परिचायक होती है, जहा इस कला का प्रयोग चमत्कार वृद्धि की प्रेरणा से किया जाता है वहा भाषा का सहज प्रसाद गुण चला जाता है।

अनेक बार कवि शब्दो को काव्य-भाषा के उपयुक्त बनाने के लिए उनका रूप परिष्कृत करता है, तथा शब्द के प्रकृत रूपो को परिवर्तित करके उनका प्रयोग करता है। इस रूप से निर्मित शब्दो द्वारा भावोत्कर्ष तथा रूप-सौन्दर्य काव्य के दोनो ही पक्षो की समृद्धि होती है परन्तु यदि इस निरकुश प्रयोग मे

अस्पष्टता आ गई तो उत्कर्ष के स्थान पर अपकर्ष हो जाता है। भाव-व्यजकता और चित्रमयता शब्दो का सर्वप्रधान गुण है ।

दिनकर की भाषा

दिनकर की भाषा की सब से बडी विशेषता है अभिव्यक्ति की स्वच्छता । इस अभीष्ट की प्राप्ति उन्होने सर्वत्र ऋजु, सहज, सार्थक और भावानुकूल शब्दो के प्रयोगो द्वारा की है । चाहे उनकी भाषा हुकार की आग बरसा रही हो, रसवन्ती के रस की अभिव्यक्ति के लिए शब्द खोज रही हो, जीवन के वैषम्यो और कठोर यथार्थ को व्यक्त करने के लिए अकुला रही हो, अथवा कुरुक्षेत्र और उर्वशी के अन्तर्मन्थन को रूप देने की चेष्टा कर रही हो, उसकी गतिमयता, सरसता और प्रसन्न गम्भीरता मे अन्तर नही आता । दिनकर को शब्दो की अन्तरात्मा का ज्ञ.न है , यह कहने की अपेक्षा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि उनमे अपने भावो को शब्दो मे भर देने की सामर्थ्य है । उनके द्वारा प्रयुक्त भावगर्भित शब्द अपने चारो ओर एक वातावरण का निर्माण कर देते है । उनके शब्द ससदर्भ भावगर्भित, अर्थ-गर्भित और चित्रमय होते है तथा उनका शब्दकोश समृद्ध, व्यापक और अक्षय है। विभिन्न पर्यायो के प्रयोगो की कुशलता और उपयुक्तता उन्हे कुशल भाषा-शिल्पी सिद्ध करती हे । उनकी शब्द-योजना की एक प्रमुख विशेषता है उसकी लाक्षणिक रमणीयता । लाक्षणिक शब्दो मे यदि दुरूह-कल्पना हो तो भाषा के प्रसादत्व की हानि होतो है, परन्तु दिनकर के लाक्षणिक शब्द इस दोष से मुक्त है ।

दिनकर की कविता मे लाक्षणिक अर्थ-सौरस्य अधिकतर सस्कृत के तत्सम शब्दो मे मिलता है । वे प्राय सस्कृत के क्लिष्ट और दुरूह शब्दो के प्रयोग को बचाते है, लेकिन जहा वह शब्दो मे भाव, चित्र और वातावरण एक साथ गुम्फित करना चाहते हैं वहा सस्कृत के प्रचलित शब्दो की अपेक्षा दुरूह शब्दो का प्रयोग करते है। 'आलोकधन्वा' की कुछ पक्तिया इस कथन के प्रमाण रूप में ली जा सकती है—

ज्योतिर्धर कवि मै ज्वलित सौर मण्डल का,
मेरा शिखण्ड अरुणाभ, किरीट अनल का ।[1]

क्रान्ति के वाहक के इस आलोकपूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण इन पक्तियो मे प्रयुक्त तत्सम शब्दो मे निहित आभा और प्रखरता द्वारा ही हुआ है ।

भावानुकूल और सहज होने के कारण उनके तत्सम शब्द भावो की

---

१. हुकार, पृष्ठ ४

प्रेषणीयता मे बाधक नही साधक होते है। उनका अर्थ समझने के लिए कोश उठाने की आवश्यकता नही पडती। उन्होने अधिकतर हिन्दी मे प्रचलित संस्कृत शब्दो का ही प्रयोग किया है परन्तु अप्रचलित और दुरूह शब्दो का भी अभाव नही है। शब्द-समूह को भाषा-विन्यास से अलग उद्धृत करने से यद्यपि किसी कवि की भाषा का रूप निर्धारित नही किया जा सकता फिर भी उसके शब्द-कोश मे प्रचलित और अप्रचलित शब्दो के अनुपात का कुछ आभास तो मिल ही जाता है। इसी तथ्य को ध्यान मे रखकर दिनकर द्वारा प्रयुक्त तत्सम शब्दो की एक छोटी सूची प्रस्तुत की जा रही है। कुछ तत्सम शब्द ये है—

तमिस्र, अर्चिपुज, भावभृथ, घूर्णि, दन्तुरित कृशानु, म्रियमाण, ज्योतिर्धर, प्रकम्पित, वपु, परिष्वग, विभ्राट, कस्मैदेवाय, व्याहार, लेलिह्य, ऋत्विक, ऋचा, विविक्त, आकुचन, चक्षुश्रवा, चक्षुष्विनी, उत्क्रान्ति, सन्दीप्ति, खग्रास इत्यादि।

तत्सम शब्दो का पूर्ण वैभव 'उर्वशी' मे देखा जा सकता है। जहा भावो की ऊचाई और विचार-गाम्भीर्य सस्कृत शब्दो के अन्तर मे भर दिया गया है। उर्वशी मे शब्दो का अनुपात दिनकर की पूर्व कृतियो से प्राय उल्टा हो गया है। वास्तव मे उसके प्रतिपाद्य की गम्भीरता, गरिमा और विशदता के निर्वाह के लिए पुरातन शब्दावली के प्रयोग से भव्यता आ गई है। उसमे प्रयुक्त थोड़े-बहुत जनपदीय और तद्भव शब्द भी कुछ आलोचको के कानो को खटके है।

तत्सम शब्दो का प्रयोग दिनकर ने अधिकतर या तो दार्शनिक तत्वो के निरूपण के लिए किया है अथवा शब्दो की अर्थवत्ता के कारण चित्र-निर्माण के लिए। कही-कही समस्त पदावलियां दिनकर को चिरपरिचित ऋजु, सहज, फिसलती हुई शैली से दूर जा पडी है। पवनान्दोलित, निविडस्तननता, मुष्टि मध्यमा प्रस्तरावरण, ऋक्षकल्प इत्यादि शब्दो के प्रयोग प्रतिपाद्य से अलग सुनने मे खटकते है, परन्तु, वास्तव मे उनके द्वारा 'उर्वशी' की गरिमा और भव्यता की रक्षा हो सकी है।

इस प्रकार के उदाहरणों को अपवाद रूप मे लिया जा सकता है। उर्वशी मे भी दिनकर की तत्सम शब्दावली दुरूहता और क्लिष्टता के दोष से अधिकतर बच कर प्रसन्न और प्रफुल्ल बनी रही है। जैसे—

मै कला-चेतना का मधुमय प्रच्छन्न स्रोत,
रेखाओं मे अंकित कर रंगों के उभार,
भंगिमा, तरंगित वर्तुलता, वीचियां, लहर,
तन की प्रकान्ति रंगों में लिए उतरती हूँ।[1]

१. उर्वशी, पृष्ठ ६७—दिनकर

दो प्राणों से उठने वाली वे झंकृतियां गोपन मधुमय,
जो अगरु-धूम-सी हो जातीं, ऊपर उठ एक अपर मे लय।
दो दीपों की सम्मिलित ज्योति वह एक शिखा जब जगती है,
मन के अगाध रत्नाकर में यह देह डूबने लगती है।[१]

दिनकर के सम्पूर्ण काव्य साहित्य मे एकाध ऐसे स्थल भी हैं जहा उनकी शब्दावली भाव से असम्पृक्त रह गई है, ऐसा प्रतीत होता है कवि जानबूझ कर अप्रचलित शब्दो को चुन-चुन कर सकलित कर रहा है। यह सकलन औचित्य और सतुलन के अभाव मे भाव से सम्पृक्त नही हो पाया है।

मेरी ध्वनि के छा गए त्रिदिव में प्रतिध्वान
सुरत्वर्म स्तब्ध रुक गया, विभावसु का विमान।
दृग्बिद्ध विवश फट रहा छिन्न घन-सा प्रकाश,
गुंजित अम्बर के रन्ध्र रन्ध्र में अग्नि-हास।[२]

तत्सम शब्दो के बाहुल्य के होते हुए भी उर्वशी की भाषा के अतिरिक्त दिनकर की भाषा को तत्सम-प्रधान नही कहा जा सकता। उनके तत्सम शब्द तद्भव शब्दो के साथ मिलजुल कर आये है, और व्यग्यपूर्ण और सामाजिक कविताओ मे भाषा की भावानुकूलता की रक्षा के लिए साधारण बोल-चाल की भाषा का प्रयोग ही प्रचुरता के साथ हुआ है।

निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि दिनकर द्वारा प्रयुक्त तत्सम शब्दो के प्रयोग मे औचित्य और सतुलन का निर्वाह हुआ है। ये शब्द उनके प्रतिपाद्य की गम्भीरता और भव्यता के प्रतिपादन मे सहायक हुए है। तथा इन्ही के द्वारा उनकी भाषा मे लाक्षणिक भाव-गर्भत्व, अर्थ-गरिमा और चित्र-मयता का सश्लिष्ट प्रयोग हो सका है।

तद्भव तथा देशज शब्द

भाषा मे सहजता की रक्षा करने वाला प्रत्येक कवि तद्भव शब्दो का ही आश्रय लेता है। तत्सम की गम्भीरता के साथ तद्भव शब्दो की सहजता का समन्वय कर दिनकर ने अपनी भाषा को सहज-स्वाभाविक बनाया है। निठुर, सपना, ब्याह, सुहाग, नैन छाँह, हिया, पिया, इत्यादि शब्दो के प्रयोग से उनकी भाषा जीवन की भाषा के निकट आ गई है। कही-कही तो इन्ही के द्वारा रमणीयता और स्वाभाविकता का समावेश किया गया है। जैसे—

---

१. उर्वशी, पृष्ठ ६८
२. हुकार, पृष्ठ १२

मां की ढीठ दुलार, पिता की ओ लजवन्ती भोली
ले जायेगी हिया की मणि को, अभी पिया की डोली।[1]

लाजवती, हृदय और प्रिय यहा वह काम नही कर सकते थे जो लजवन्ती, हिया, पिया ने कर दिखाया है। सरल ग्रामीण किशोरी नववधू का रूप और उसकी विदा की बेला इन शब्दो के प्रयोग से बडी मनोरम बन पडी है, यहा तद्भव शब्दो के प्रयोग का सामान्य रूप नही है, बलिक कवि ने सचेष्ट होकर वर्ण्य विषय को चामत्कारिक और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए यह प्रयोग किया है।

स्थानीय शब्दो के प्रयोग मे भी दिनकर सिद्धहस्त है। उन्होने स्थानीय शब्दो के प्रयोग से भाषा मे अनुरजक, अनुभूतिपरक और आत्मीयता का स्पर्श दिया है। इन प्रयोगो से भाषा के कृत्रिम बन्धन टूटते से जान पडते है, उसका रूप खिल जाता है। कही-कही तो कविता की पूरी पक्तियो मे ही स्थानीय शब्दो का प्रयोग है—

भैया ! लिख दे एक कलम खत मो बालम के जोग
चारों कोने खेमकुसल माझे ठा मोर **वियोग**।[2]

* * *

चौपालों में बैठ कृषक गाते कहं अटके बनवारी।[3]

इन प्रयोगो से उनकी भाषा जन जीवन के निकट होकर यथार्थ और स्वाभाविक हो गई है। अनेक आलोचको ने दिनकर पर स्थानीय शब्दों के प्रयोग का दोष लगाया है, पर मेरे विचार से ये स्थानीय शब्द दिनकर की भाषा मे अनुभूति भर देते है। जैसे—

वह छिगुन छिगुन रह जाती है[4]
इस गुमरते दर्द की यह टीस[5]
ओदी आंच धुनी विरहिन की[6]
पलकें जोग **रही**[7]

टुक, हेरना, हलराना, सिराना, रिसना, बालना, हाक, अथोर, उलरना, खगालना, जैसे शब्दो के द्वारा वातावरण के चित्रण मे यथार्थ स्वाभाविक और मधुर पुट दिए गए है। उर्वशी की तत्सम-बहुल भाषा मे भी इन स्थानीय शब्दो

१. रसवन्ती, पृष्ठ २१
२. हुकार, पृ० ३२
३. हुकार, पृ० ३२
४. रेणुका, पृष्ठ ५५
५. रसवन्ती, पृ० २३
६. रसवन्ती, पृ० २१
७. हुकार, पृ० ५०

और क्रिया के प्रयोगो से अभिव्यक्ति को सुन्दर और स्वाभाविक बनाया गया है। जैसे—

सच मे, यह प्रत्यक्ष जगत कुछ उतना कठिन नही है[1]
दात पजाती हुई घास में छिपी मृत्यु बैठी है[2]
पर तत्क्षण सब बिला गया[3]

निष्कर्ष यह है कि शब्द-सकलन मे दिनकर की दृष्टि सबसे पहले उसकी भावानुकूलता पर रहती है, उनके शब्द-कोश की सीमाये नही है। 'उर्वशी' जैसे गम्भीर दार्शनिक प्रतिपाद्य के लिए वे सस्कृत शब्द-समूह पर निर्भर रहे है, जिससे उसकी गरिमा और गाम्भीर्य का निर्वाह भव्यता से हो सका है, भाव, विचार और चित्र तीनो का सश्लिष्ट-विन्यास यहा तत्सम शब्दो के माध्यम से ही सम्भव हुआ है। अनुभूति की सहजता और ऋजुता की उपलब्धि वे तद्भव, और प्रचलित तत्सम शब्दो मे कभी-कभी देशज का पुट देकर करते है—और हल्की-फुल्की, चलती हुई यथार्थवादी भाषा के लिए उर्दू-हिन्दी की गगा-जमुनी काम मे लाते है। इस दिशा मे उनकी दृष्टि सारग्राहिणी और उदार है।

विदेशी शब्द

उर्दू फारसी के शब्दो से दिनकर को चिढ नही है। यह कहना चाहिए कि भाषा की सहजता और स्वाभाविकता के निर्वाह के लिए दिनकर इन्ही शब्दो के ऋणी है। हिन्दी-उर्दू के गगा-जमुनी रूप के उदाहरण 'द्वन्द्वगीत' और अन्य सामाजिक यथार्थवादी कविताओ मे मिलते है। इन शब्दो के प्रयोग से उनकी भाषा मे गत्यात्मकता आ गई है। उदाहरण के लिए—

मैंने देखा आबाद उन्हे, जो साथ जीस्त के जलते थे
मजिल मिली उन वीरों को जो अंगारों पर चलते थे।

* * *

जिनमें बाकी ईमान, अभी वे भटक रहे वीरानो में
दे रहे सत्य की जांच, आखिरी दम तक रेगिस्तानो मे।[4]

इसी प्रकार की शब्दावली द्वारा स्वतन्त्रता की पहली वर्षगाठ कविता में व्यक्त व्यग्य द्रष्टव्य है—

बिक रही आग के मोल आज हर जिन्स मगर
अफसोस आदमीयत की हां कीमत न रही[5]

---

१. उर्वशी, पृष्ठ ६७
२. उर्वशी, पृ० ६
३. उर्वशी, पृष्ठ ७५
४ द्वन्द्व गीत, पृष्ठ ५३
५. नीम के पत्ते, पृष्ठ १८

हिन्दी मे उर्दू के ये शब्द मिलकर उसके ही अग बन गए है। दिनकर के काव्य मे उर्दू फारसी शब्दावली का प्रयोग काफी सख्या मे हुआ है—कुछ शब्दो की सूची इस प्रकार है—

मुन्तजिर, कफस, परवाज़, कयामत, तूफा, जन्नत, गुलची, मर्सिया, पैमाना, आरजू, नक्काद, दाग, बेकस, निशात, समा, रूह, रवानी, दर्द, होश, नूर, तूर, इज्जत, राज, इत्यादि।

कुरुक्षेत्र की परवर्ती रचनाओ मे दिनकर की भाषा पर अग्रेजी के शब्द-समूह और मुहावरो का प्रभाव मिलता है। स्वतन्त्रता के पश्चात् जब उनकी कविता ने राष्ट्रीय-सास्कृतिक चेतना के अतिरिक्त जीवन के अन्य क्षेत्रो से भी प्रतिपाद्य विषय ग्रहण करना आरम्भ किया, उनकी कविता मे नया मोड आया। नील कुसुम, नये सुभाषित, उर्वशी, यहा तक कि परशुराम की प्रतीक्षा मे सकलित मुक्तक कविताओ मे अग्रेजी की शब्दावली और मुहावरे रूपान्तरित हो कर प्रयुक्त हुए है। अवकाश के क्षणो मे पाठक के हृदय और बुद्धि को गुदगुदाने के उद्देश्य से लिखे गए सुभाषितो मे यह प्रभाव विशेष रूप से दिखाई देता है। इस प्रकार के प्रयोगो मे मौलिकता का अभाव अवश्य देखा जा सकता है। लेकिन दिनकर की शब्दावली पर यह दोष लगाना अन्याय होगा। सारग्राहक वृत्ति का कवि जीवन के विभिन्न क्षेत्रो से शब्द ग्रहण करता है। ये प्रयोग उनके अग्रेजी साहित्य के अध्ययन के परिणाम हैं तथा इनके द्वारा हिन्दी की व्यंजना-शक्ति बढी है, उसकी हानि नही हुई।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, दिनकर की भाषा-नीति का सबसे प्रथम, प्रमुख और अनिवार्य अनुबन्ध है उसकी भावानुकूलता। जन-जीवन से सम्बन्धित प्रतिपाद्य के अनुकूल भाषा-निर्माण के लिए जैसे उर्दू, हिन्दी और सस्कृत के प्रचलित शब्दो का वे साथ-साथ प्रयोग करते रहे है, वैसे ही अग्रेजी के शब्द भी आवश्यकता पडने पर वे उसी प्रकार अपनाते है जैसे वे विदेशी भाषा के शब्द न होकर हिन्दी के अपने शब्द है। 'एनार्की' कविता को इस प्रवृत्ति की कविता के उदाहरण रूप मे लिया जा सकता है। दो-एक उदाहरण पर्याप्त होगे—

> एक कैबिनेट के अनेक यहाँ मुख हैं
> डिमोक्रेसी दूर करो हमें तानाशाह दो
> चिन्तन में सोशलिस्ट गर्क है,
> कम्युनिस्ट और कांग्रेसी में क्या फर्क है
> रेलवे का स्लीपर उठाये कहां जाता है[१]

---

१. परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ६१-६२

इस प्रकार दिनकर की भाषा का सबसे बडा गुण है उसका लचीलापन। 'उर्वशी' की तत्सम-बहुल भव्य भाषा, कुरुक्षेत्र की सहज गतिमयी प्रसादपूर्ण भाषा, 'रसवन्ती' की कोमल मधुर शब्दावली—और नए सुभाषित तथा एनार्की जैसी कविताओ की चलती हुई भाषा, तीनो के रूप अलग-अलग है। कविता की आत्मा के अनुकूल उसके बाह्य-रूप की निर्माण-कला मे दिनकर सिद्धहस्त है। दिनकर की इस सिद्धि का सबसे बडा कारण यह है कि उनके मन मे प्रतिपाद्य का रूप प्रधान रहता है, उनका ध्यान शब्दो पर केन्द्रित न होकर भावो पर केन्द्रित रहता है। अपने काव्य-सृजन की प्रक्रिया मे शब्दो के प्रयोग के सम्बन्ध मे दिनकर के विचार द्रष्टव्य है। "शब्दो का चयन मै उनके रूप नही, सामर्थ्य के कारण करता था।...मै मकान खडा करने के काम मे इतना व्यस्त हो जाता था कि पत्थरो को छेनी और हथौड़ी से गढने या चिकना करने का कार्य मुझे अप्रिय और फालतू सा लगता था। मेरी सारी चेष्टा इस बात पर केन्द्रित थी कि भीतर जो आग उबल रही है, वह फूट कर बाहर आ रही है या नही तथा जो भी इसके पास आएगा उसे छू सकेगी या नही।" रेणुका से लेकर 'परशुराम की प्रतीक्षा' तक, दिनकर के शब्द-चयन का मुख्य उद्देश्य रहा है अभिव्यक्ति की सफाई। भाषा की शुद्धि-अशुद्धि से अधिक ध्यान उनका इस बात पर रहता है कि जिस मन स्थिति और भाव को वह प्रेषित करना चाहते है, उसे उनके शब्द व्यक्त कर रहे है कि नही। इस उद्देश्य की पूर्ति वे शब्दो को तोड-मरोड कर अशुद्ध करके भी करते है, चाहे उस समय उनकी सौन्दर्य-चेतना उद्बुद्ध हो अथवा उनका शिवत्व। सामिधेनी के स्थान पर सामधेनी और रसवती की जगह रसवन्ती का प्रयोग उनकी इसी प्रवृत्ति का द्योतक है।

दिनकर द्वारा प्रयुक्त मुहावरे तथा लोकोक्तियां

मुहावरे और लोकोक्तियों का प्रयोग प्राय: दो उद्देश्यो से किया जाता है। भाषा मे वक्रता, विदग्धता अथवा जबादानी के लिए तथा सूक्ष्म और जटिल भावो की तीक्ष्ण अभिव्यक्ति के लिए। दीर्घकालीन परम्परा मे चली आती हुई इन उक्तियो मे समय की सीमा का अतिक्रमण करके जीवित रहने की शक्ति निहित रहती है। इसमे समाज के सम्मिलित अनुभव अपने लक्ष्यार्थ मे रूढ होकर अभिव्यंजना के प्रमुख माध्यम बन जाते है।

दिनकर के शब्द-सकलन की भांति ही, मुहावरो और लोकोक्तियो का प्रयोग मुहावरो के परिधान मे उनकी अनुभूति और भी प्रखर और तीव्र हो उठती है। मुहावरों के प्रयोग मे लेखक को सब से बडी सावधानी यह बरतनी पडती है कि अनुभूति के साथ ये असम्पृक्त न रह जाए। दिनकर के मुहावरे अनुभूति

के साथ एकात्म होकर प्रयुक्त हुए है अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा, कि अधिकतर ऐसे स्थलों पर वे भाव के अंग बन कर आए है जहा विषय-वस्तु और अभिव्यंजना का पार्थक्य मिट गया है। 'रश्मिरथी' मे जहा दिनकर की कलम बाये हाथ मे आ गई है उन्होने मुहावरों का चमत्कार-प्रदर्शन आरम्भ कर दिया है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत है—

धर कर चरण विजित शृंगों पर झंडा वही उड़ाते है
अपनी ही उंगली पर जो खंजर की जंग छुड़ाते है।
पड़ी समय से होड़ खीच मत तलवों से कांटे रुक कर
फूंक-फूंक चलती न जवानी चोटों से बचकर झुककर।[१]

हम धोते है घाव इधर सतलज के शीतल जल से
उधर तुझे भाता है इन पर नमक हाय छिड़काना।[२]

फट न जाय अम्बर की छाती।[३]

अपना रक्त पिला देती यदि फटती आज वज्र की छाती।[४]

अभय बैठ ज्वालामुखियों पर अपना मन्त्र जगाते हैं;
ये हैं वे जिनके जादू पानी में आग लगाते हैं।[५]

एक घाट पर किस राजा का रहता बंधा प्रणय है।[६]

लोकोक्तियों का भी उनकी कविता मे अभाव नही है—

थके सिंह आदर्श ढूंढते व्यंग्य-बाण सहते हैं।[७]

जीवन के दिन चार अवधि उससे भी अल्प जवानी की।[८]

है फर्क मगर काशी में जब वर्षा होती
हम नहीं तानते है छाते बरसाने मे।[९]

'नए सुभाषित', 'नील कुसुम' और 'उर्वशी' मे पुराने सुभाषितों की नए रूप

---

१. हुकार, पृष्ठ २७
२. दिल्ली, पृष्ठ ?
३. वही, पृष्ठ ५
४. हुकार, पृष्ठ २२
५. वही, पृष्ठ २७
६. उर्वशी, पृष्ठ २२
७. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ५६
८. रसवन्ती, पृष्ठ ५२
९. चक्रवाल, पृष्ठ २४३

मे प्रतिष्ठा तथा नए सुभाषितो मे मौलिक विचारो की स्थापना हुई है, जो दिनकर के अनुभवो के आधार पर निर्मित किए गए है ।

वर्ण-योजना और शब्दालंकार

दिनकर की वर्ण-योजना और शब्दालकार के प्रयोगो के विषय मे सब से पहला द्रष्टव्य तथ्य यह है कि वे सायास इनके झझटो मे नही पडे है, और न इनके प्रति उनका कोई मोह है । वर्णों तथा शब्दो द्वारा उद्भूत चमत्कार नियोजना की आवश्यकता उस कवि को होती है जिसके पास भाव की पूजी नही होती, जिसके भाव शब्दो मे प्रवेश कर, उन पर छा नही जाते । लक्षणा पर आधृत दिनकर की सश्लिष्ट शब्द-योजना इतनी मुखर होती है कि वह एक साथ ही अनेक बाते कह देती है—ऐसा कवि यदि द्विअर्थक शब्दो के सकलन और उनके द्वारा चमत्कार-नियोजन का श्रम करे तो उपहास-जनक और निरर्थक होगा । बिना इस सायास योजना के भी दिनकर का वर्ण-विन्यास आदर्श वर्ण-योजना की सभी कसौटियो पर पूरा उतरता है । आचार्य कुन्तक ने वर्ण-विन्यास-वक्रता के प्रसग मे वर्ण-योजना सम्बन्धी जो मानदण्ड निर्धारित किए है वे इस प्रकार है—वर्ण-योजना सदा प्रस्तुत विषय के अनुकूल होनी चाहिए । उसका प्रयोग केवल वर्ण-साम्य के व्यसन मात्र के कारण नही होना चाहिए क्योकि औचित्य के अभाव मे प्रतिपाद्य का रूप विकृत हो जाता है । उसमे आग्रह की अति नही होनी चाहिए और न असुन्दर वर्णों का प्रयोग होना चाहिए । प्रसाद गुण की रक्षा वर्ण-योजना का प्रथम उद्देश्य होना चाहिए । श्रुति-पेशलता और भावानुकूलता उसका प्रथम गुण है ।

यो तो सानुप्रासिक शैली का प्रयोग सभी कवियो के लिए प्रायः अनिवार्य होता है, वर्ण-सगति, वर्ण-मैत्री और वर्ण-सगीत के बिना कविता मे प्रवाह और गति आ ही नही सकती , छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास, अन्त्यानुप्रास के उदाहरण थोडा प्रयास करने पर किसी भी कवि की रचनाओ मे से निकाले जा सकते है, परन्तु जो कवि 'छेनी के शिल्प' मे विश्वास ही नही करता, उसकी कविता मे से जबरदस्ती इन तत्वो को खोजना मेरे विचार से कोई अर्थ नही रखता ।

शब्दालकारो का प्रयोग दिनकर-काव्य मे बहुत विरल है । श्लेष, यमक, वीप्सा इत्यादि के चक्करो मे वह नही पडे है । सम्पूर्ण कुरुक्षेत्र मे एक श्लेष पर ध्यान टिकता है—

पुण्य खिलता है चन्द्रहास की विभा में ।[1]

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ३२

चन्द्रहास की विभा का मुख्य तात्पर्य है तलवार की चमक, दूसरा अर्थ एक और हो सकता है, विभावरी की जागृति अथवा क्रान्तिकालीन जागृति। यहा भी चमत्कार केवल शब्द पर आधृत न होकर उसमे निहित ध्वनि मे है। शब्दालकारो मे उनका एक प्रिय अलकार है पुनरुक्ति। भाव को प्रभावात्मक बनाने के लिए जहा एक ही बात की बार-बार आवृत्ति की जाती है वहा पुनरुक्ति अलकार होता है। दिनकर ने ओज और करुणा की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए इस अलकार का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ—

दूध, दूध ! फिर दूध अरे, क्या याद दूध की खो न सकोगे ?
दूध, दूध ! मर कर भी क्या तुम बिना दूध के सो न सकोगे
दूध, दूध फिर सदा कब्र की आज दूध लाना ही होगा
दूध, दूध ओ वत्स ! तुम्हारा दूध खोजने जाते है हम।[1]

उपर्युक्त पक्तियो मे दूध शब्द की आवृत्ति के द्वारा, कवि ने निरीह असहाय भूखे बालको का मार्मिक और हृदयद्रावक चित्र खीचा है। इसी प्रकार दिल्ली कविता मे 'दिल्ली' और 'आह' शब्द की पुनरावृत्ति के द्वारा कविता को प्रभावपूर्ण और उसके भाव को मार्मिक बनाया गया है—

दिल्ली, आह कलंक देश का,
दिल्ली, आह ग्लानि की भाषा,
दिल्ली, आह मरण पौरुष का,
दिल्ली छिन्न भिन्न अभिलाषा।[2]

पुनरुक्तियो के प्रयोग मे दिनकर को अपनी कविता-पाठ शैली का ध्यान रहता है। उन्हे मालूम रहता है कि कविता-पाठ करते समय उनके स्वर का उतार-चढ़ाव कहा होगा, हृदय के भावो को अपनी वाणी मे उतार लेने की उनमे भरपूर सामर्थ्य है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' और 'उर्वशी' दोनो की पाठ-शैलिया उनके विषय के अनुसार भिन्न-भिन्न है। इस प्रकार की आवृत्तिया दिनकर की 'कठ-कला' के प्रभाव को द्विगुणित करने मे सहायक होती हैं।

निपात वक्रता

हाय, अरे, रे, अहा, आह, उफ् इत्यादि विस्मयादिबोधक शब्दो का बहुत प्रयोग भी भावोत्तेजन के उद्देश्य से किया गया है। निपात वक्रता के ऐसे प्रयोग दिनकर की रचनाओ मे अधिकतर भाव-संवृद्धि मे सहायक बन पड़े हैं—

---

१. हुकार, पृष्ठ २३
२. दिल्ली, पृष्ठ २३

हाय ! मरण तक जी कर मुझको हालाहल पीना है।

उफ् री ! मादक घड़ी प्रेम के प्रथम प्रथम परिचय की।

आह ! गर्भ में लिए उसे कल्पना शृंग पर चढ़ कर
किस सुरम्य उत्तुंग स्वप्न को मैने नही छुआ था।[1]

कही-कही इस प्रकार के प्रयोग खटकते भी है—जवानिया तथा जवानी का झडा जैसी ओजपूर्ण कविताओ मे 'अहा' तथा 'देख लो' की आवृत्तिया उचित नही जान पडती—

अहा, कि एक रात चांदनी भरी सुहावनी
अहा, कि एक बात प्रेम की बड़ी लुभावनी,
अहा, कि एक याद दूब सी मरु-प्रदेश में
अहा, कि एक चांद जो छिपा विदग्ध वेश मे

अहा पुकार कर्म की, अहा री पीर मर्म की
अहा कि आँसुओ में मुस्करा रहीं जवानियां।[2]

संवृति वक्रता

सर्वनामो के विशिष्ट प्रयोगो के द्वारा भावो मे रमणीयता लाने तथा प्रभावोत्पादकता के समावेश की योजना भी दिनकर की कविता मे मिलती है। इस समय उर्वशी के ही दो तीन उदाहरण मेरे सामने है—

आह ! गन्धमादन का वह सुख और अंक प्रियतम का।

और हाय वह एक निर्झरी पिघले हुए सुकृत सी।

असफलता में उसे जननि का वक्ष याद आता है।[3]

तीनों ही उदाहरणो मे प्रयुक्त सर्वनाम प्रकरणो से घिरे हुए और प्रसग-गर्भित हैं।

वृत्ति, गुण और रीति

दिनकर मुख्यत. वीररस के कवि है लेकिन रसवन्ती और उर्वशी मे उनकी मधुर कोमल और आर्द्र भावनाओ को अभिव्यक्ति मिली है। भाषा की इन शास्त्रीय कसौटियो पर दिनकर की भाषा को रखते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि उन्होने बार-बार अपनी सृजन-प्रक्रिया मे अभिव्यजना के तत्वो के प्रति

१. उर्वशी, पृष्ठ ३३, ११४, ११६
२. सामधेनी, पृष्ठ ७७-७८
३. उर्वशी, पृष्ठ १२६, १३६, ३२

जागरूकता का अभाव घोषित किया है, केवल 'उर्वशी' में वह सचेष्ट्य कला का अस्तित्व मानते हैं। काव्य मे वृत्ति का सम्बन्ध वर्ण-योजना से है, जिसके प्रसग मे पहले कहा जा चुका है कि इस विषय मे दिनकर बिल्कुल उदासीन रहे हैं। यदि वृत्ति का अर्थ हम केवल विशिष्ट वर्ग के वर्णों की आवृत्ति से लें तो किसी भी आधुनिक कवि की रचना पर इसे सार्वभौम निकष के रूप मे नही प्रयुक्त किया जा सकता। हा, यदि वृत्ति का अर्थ 'भाषा की प्रकृति' से लिया जाय तो अवश्य उसकी व्यापकता और सार्वभौमता में अन्तर नही आता। दिनकर की रसवन्ती को बिना किसी शका के मधुरावृत्ति का काव्य कहा जा सकता है। रसवन्ती की भाषा उसकी कोमल और मधुर आत्मा के अनुकूल ही मधुर और कोमल बन पडी है। माधुर्य का पुट देने के लिए ही दिनकर ने इसमें देशज और तद्भव शब्दो का प्रयोग बहुलता से किया है। सस्कृत के सयुक्त वर्णो से युक्त शब्दो मे यथा अवसर परिवर्तन कर दिया है। बडे-बडे तत्सम शब्दो के प्रयोग को बचाया है। ललित पदयोजना के प्राधान्य के कारण रसवन्ती वैदर्भी रीति की कृति मानी जा सकती है। 'उर्वशी' की भाषा पर यह आक्षेप किया जाता है कि वह श्रृगार की कोमल और ललित कल्पना के अनुरूप सुन्दर तो है परन्तु मधुर और कोमल नही। सस्कृत के बड़े-बड़े तत्सम शब्दो और लम्बे-लम्बे वाक्यो के प्रयोग से उसके माधुर्य की हानि हुई। ऐसा लगता है कि उर्वशी कह रही है 'मैं झासी की रानी, रणचण्डी—लक्ष्मी बाई—उर्वशी हूं' परन्तु उर्वशी मे भाषा और विषयवस्तु का रूप इतना असपृक्त नही है। जिस दार्शनिक, पौराणिक और आध्यात्मिक पृष्ठभूमि मे 'काम' तत्व का विवेचन किया गया है वह लचकती, सिहरती कोमल-कान्त पदावली के द्वारा व्यक्त नही किया जा सकता था। रीति और वृत्ति के अनुसार चाहे हम उसे उपनागरिका वृत्ति और वैदर्भी रीति का न मान सके (न मानने से उर्वशी के काव्य-गुण की मान्यता की हानि नही होती) परन्तु माधुर्य गुण उसका प्रधान स्वर है।

गुण को हम चाहे दण्डी और वामन के अनुसार शब्द तथा अर्थ के धर्म-रूप मे स्वीकार करें अथवा आनन्दवर्धन के अनुसार उन्हे अंगीरस के आश्रित रहने वाले तत्व, दोनो ही दृष्टियो से 'रसवन्ती' और 'उर्वशी' मे माधुर्य गुण की ही प्रधानता है। गुणो का सम्बन्ध काव्य के अन्तरग और बहिरग दोनो से है। दिनकर के काव्य का अतरग दो प्रकार का है—माधुर्य गुण सयुक्त और ओज गुण संयुक्त परन्तु उसके बहिरग का सर्वप्रमुख गुण है उसका प्रसादत्व।

ओज गुण परुषावृत्ति और गौडी रीति का परम्परागत सामजस्य दिनकर के काव्य मे नही मिलेगा। ओज उनके समष्टि काव्य की आत्मा है, उस आत्मा

मे ही इतना बल है कि उसे परुष और कठोर बाह्य व्यक्तित्व की आवश्यकता नही पडती। इसीलिए उसका बहिरग सहज और प्रसादपूर्ण है परन्तु उसकी आत्मा मे पर्वत को हिला देने की शक्ति है। 'हुकार' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' इसके प्रमाण रूप मे लिए जा सकते है। 'हुकार' की 'स्वर्ग दहन' तथा 'आलोक-धन्वा' तथा सामधेनी की 'प्रतिकूल' कविताओ मे एकाध बार परुष और द्वित्व वर्णों से युक्त शब्दो के द्वारा यह प्रभाव उत्पन्न करने का प्रयास किया गया है परन्तु ऐसे स्थल बहुत ही विरल है।

जिस रचना के श्रवण मात्र से ही अर्थ की प्रतीति होती है, उनमे प्रसाद गुण माना जाता है। सरल, समास रहित ऋजु पदावली इस शैली की विशेषता होती है। उसमे न तो मधुरा वृत्ति की मसृणता होती है और न परुषा वृत्ति की कठोरता। भाव और अभिव्यजना की स्वाभाविकता तथा अकृत्रिमता इस वृत्ति का प्रधान गुण है। सरल, सुबोध और प्रचलित शब्दो का प्रयोग इनका ध्येय होता है। दिनकर मुख्यत इसी शैली के कवि है। प्रत्येक कवि जो कला का प्रयोग जीवन के लिए करता है, इसी शैली का कवि होता है। एक वाक्य मे यह कहा जा सकता है कि दिनकर की आत्मा का ओज और माधुर्य सामान्यत: 'प्रसाद' के सहारे ही व्यक्त हुआ है। इसमे अपवाद है, लेकिन उनकी सख्या बहुत कम है।

शब्द-शक्तियां

दिनकर के काव्य मे जैसे-जैसे प्रौढता आती गई है, वैसे ही वैसे वे अभिधा से लक्षणा की ओर बढते गये है। उनकी कविता के भावपूर्ण स्थलो मे वाच्यार्थ का सौन्दर्य अत्यन्त स्वाभाविक रूप मे व्यक्त हुआ है। जाग्रत पौरुष के उच्चार और शृंगार भावना की सहजता दोनों ही प्रकार की कविताओ मे भाषा का अभिधात्मक रूप प्रधान है। सामान्यत: अभिधात्मक वर्णन के नीरस हो जाने की आशका सदैव बनी रहती है, परन्तु दिनकर की सरल और ऋजु अभिधा मे भी भाव और चित्र को सश्लिष्ट कर देने की शक्ति है। जैसे—

दो प्रेमी है एक यहाँ जब,
बड़े सांझ आल्हा गाता है,
पहला स्वर उसकी राधा को
घर से यहां खींच लाता है।
चोरी चोरी खड़ी नीम की
छाया में छिप कर सुनती है

हुई न क्यों मै कड़ी गीत की,
विधना, यों मन में गुनती है।[1]

अप्रस्तुतों के बिना भी जहा दिनकर चित्र खीचते हैं वहा उनकी अभिधा मे अनुभूति का रस भर देने की शक्ति रहती है। 'उर्वशी' जैसे गहन प्रतिपाद्य मे भी अभिधा का प्रयोग भाव को प्रेषणीय बनाने मे बहुत सहायक हुआ है—

कुसुम और कामिनी, बहुत सुन्दर दोनो होते हैं,
पर तब भी नारियां श्रेष्ठ है कहीं कान्त कुसुमों से,
क्योंकि पुष्प हैं मूक और रूपसी बोल सकती है।
सुमन, मूक सौन्दर्य और नारियां सवाक् सुमन हैं।[2]

दिनकर की रचनाओ मे लक्षणा के विविध और बहुल प्रयोगो को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वे लक्षणा के कवि है। इस कथन मे अव्याप्ति दोष माना जा सकता है। छायावादी कविता की लाक्षणिक और प्रतीकात्मक शैली की प्रतिक्रिया मे निर्मित दिनकर की सहज, सरल, और स्पष्ट भाषा को लक्षणा-प्रधान कहना कैसे न्यायसगत है? जबकि छायावादी शैली की मुख्य विशेषता ही लाक्षणिकता थी। परन्तु, यह सत्य है कि दिनकर लक्षणा के कवि हैं, और उनकी लक्षणा केवल आकाश को पृथ्वी से और पृथ्वी को आकाश से मिलाने का काम नही करती बल्कि जग और जीवन से सम्बन्धित विषयो को अपने मे बाध कर उन्हे सुन्दर बना देती है। शब्दो के प्रतीकात्मक प्रयोगो और अर्थगर्भित विशेषणो के निर्माण की सामर्थ्य मे उनकी सशक्त लक्षणा की ही शक्ति निहित है। क्रान्ति गीतो मे कठोर और प्रेम तथा सौन्दर्य की कविताओ मे उन्होने सुन्दर और कोमल प्रतीको का प्रयोग किया है। 'विभा पुत्र,' 'आलोकधन्वा,' 'युगचारण' 'वर्तमान का बैताली' उनके स्वनिर्मित शब्द है। 'अग्नि रुद्र,' 'तांडव,' 'सामधेनी,' 'आलोक,' 'होम-शिखा' इत्यादि शब्दों का प्रतीकात्मक अर्थ क्रान्ति से सम्बद्ध प्रसगो मे ही सार्थक होता है। भूकम्प, अधकार, वज्र, इत्यादि शब्द भी क्रान्तिमूलक और यथार्थवादी कविताओ की विषयवस्तु मे प्रतीक रूप मे प्रयुक्त हुये हैं। चन्द्र, तितली, भ्रमर, हस, पुष्प, शबनम इत्यादि सौन्दर्य और प्रेम के प्रतीको के रूप मे ग्रहण किये गये है। इस प्रसग मे सबसे अधिक उल्लेखनीय है वे प्रतीक जिनका प्रयोग उन्होने सामाजिक और राजनीतिक वैषम्यो की आक्रोशपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए किया है। भारतीय

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ १७-१८
२. उर्वशी, पृष्ठ ८७

सैनिको तथा स्वार्थी राजनीतिक नेताओ और पूँजीपतियो के लिए प्रयुक्त ये प्रतीक देखिये—

> सिंहो पर अपना अतुल भार मत डालो,
> हाथियो स्वय अपना तुम बोझ सम्हालो [1]
>
> कौन पाप ? है याद, भेडिये जब टूटे थे
> तेरे घर के पास दीन दुर्बल भेड़ो पर। [2]

व्यजना और लक्षणा की सयुक्त अभिव्यजना मे भारत की युद्ध-नीति और तद्-सम्बन्धी विचार-धारा के प्रति दिनकर का आक्रोश उबला पड रहा है—

> है जिन्हे दांत, उनसे अदन्त कहते है,
> यानी शूरो को देख सन्त कहते है,
> तुम तुडा दात क्यो नही पुण्य पाते हो ?
> यानी तुम भी क्यो भेड न बन जाते हो ?
> पर कौन शेर भेडो की बात सुनेगा,
> जिन्दगी छोड मरने की राह चुनेगा। [3]

लोहे के पेड, लोहे के मर्द, नीव का हाहाकार इत्यादि शब्दो की व्यजना लक्षणा पर ही आधृत है।

साभिप्राय विशेषणो की अर्थ-व्यजकता और चित्रात्मकता लक्षणा पर ही आधृत है। कुछ उदाहरण पर्याप्त होगे—जैसे भीगी तान, दहकती वायु, मीठी उमग, चकित पुकार, तरगित यौवन, अस्फुट विस्मय इत्यादि। शब्दो की लाक्षणिक अर्थवत्ता के अतिरिक्त लक्षणा के रूढ और परम्परागत रूपो का प्रयोग दिनकर-काव्य मे बहुलता से हुआ है। आरम्भिक रचनाओ मे उसका रूप साधारण परन्तु मार्मिक है।

आचार्य शुक्ल के अनुसार चित्र-भाषा-शैली या प्रतीक-पद्धति मे वाचक शब्दो के स्थान पर लक्षक शब्दो का प्रयोग होता है जिससे पाठक या श्रोता को विशेष रसानुभूति होती है। दिनकर द्वारा प्रयुक्त लक्षक शब्द इस रसानुभूति की व्यंजना-शक्ति को द्विगुणित कर देते है। 'उर्वशी' की लक्षणाओ मे चित्रात्मकता और स्पष्टता के सफल सयोजन मे दिनकर के लक्षणा-प्रयोग की सिद्धि आकी जा सकती है। कुछ उदाहरण पर्याप्त होगे—

---

१. परशुराम की प्रतीक्षा, पृष्ठ २८
२. वही, पृ० ५५
३ वही, पृष्ठ २७

रेंगने लगते सहस्रों सांप सोने के रुधिर में
चेतना रस की लहर में डूब जाती है।
कौन है यह देश जिसकी स्वामिनी मुझको निरन्तर
वारुणी की धार से नहला रही है?
कौन है यह जग, समेटे अंक में ज्वालामुखी को
चांदनी चुमकार कर बहला रही है।[1]

प्रथम उद्धरण मे रति भाव के मानसिक अनुभावो का चित्रण हुआ है। मधुमयी पीडा के आकर्षण-विकर्षण, हृदय और मस्तिष्क के द्वन्द्व से उत्पन्न दाहक और मोहक प्रतिक्रियाये, स्नायविक तनावो मे निहित अपरिहार्य ज्वालाये सोने के रेगते हुये सापो के माध्यम से व्यक्त हुई है। 'वारुणी की धार' नारी के मादक सौन्दर्य और आकर्षण के लिए प्रयुक्त होकर उसके प्रभाव को दस गुना बढा देती है। इसी प्रकार ज्वालामुखी और चादनी कामनाओ से उबलते मन मे अन्तर्निहित राग की शीतल स्निग्धता के अस्तित्व तथा नारी सौन्दर्य के स्निग्ध प्रभाव के द्योतक हैं। इसी प्रकार की समर्थ लक्षणाओ से उर्वशी के पृष्ठ भरे हुए है। आत्मा और मन के गोपन रहस्यो और अपरूप धरातल के प्रेम-चित्रण मे लक्षणा का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है। यदि यह कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी कि दिनकर जी ने छायावाद की लाक्षणिक शैली के दूरान्वय, अस्पष्टता और अत्यधिक सांकेतिकता जैसे दोषो का निराकरण करके स्पष्ट और चित्रात्मक लक्षणाओ के द्वारा ही अपनी उस प्राणवन्त और समर्थ भाषा का निर्माण किया जिसके कारण छायावाद-परवर्ती कवियो मे उनका स्थान शीर्ष पर रखा जाता है। कुछ और उद्धरण देना अनुचित न होगा—

(क) डूब गई सुरपुर की शोभा मिट्टी के सपने में।[2]

(ख) प्रकृति कोष से जो जितना ही तेज लिए आता है
वह उतना ही अनायास फूलों से कट जाता है।[3]

(ग) दृष्टि का जो पेय है वह रक्त का भोजन नहीं है।[4]

(घ) दो दीपों की सम्मिलित ज्योति, वह एक शिखा जब जगती है,
मन के अगाध रत्नाकर में यह देह डूबने लगती है।[5]

---

१. उर्वशी, पृष्ठ ५२
२. उर्वशी, पृष्ठ १३
३. वही, पृष्ठ ३२
४ वही, पृष्ठ ९४
५. वही, पृष्ठ ९९

उर्वशी के अनेक शृङ्गारिक प्रसंगों का खुलापन लक्षणा मे आवृत होकर अश्लील नही होने पाया है। लेकिन कभी-कभी लाक्षणिक अर्थवत्ता को समझने मे असमर्थ विद्वान आलोचक उस ललित कोमल सौन्दर्य को गलत रूप मे चीर-फाड कर अर्थ का अनर्थ कर बैठते है। परन्तु 'त्वचा की नीद टूटना', 'वक्ष के कुसुम कुज' इत्यादि शब्दो मे निहित लक्षणाए उर्वशी मे शृङ्गार के अनुभावो के रूप मे सार्थकता के साथ प्रयुक्त हुई है। दिनकर के काव्य मे सुन्दर की साधना मे लक्षणा की साधना हुई है, यह कहना अनुपयुक्त न होगा।

व्यजना के उदाहरण सामाजिक यथार्थवादी रचनाओ और व्यग्य रचनाओ मे मिलते है। काव्य-भाषा मे व्यजना का योगदान प्रधान रूप से वक्र अभिव्यजना के क्षेत्र मे होता है, यही कारण है कि दिनकर के आक्रोश-प्रधान राजनीतिक और सामाजिक व्यग्यो मे उनका प्रयोग बहुलता से हुआ है। नए सुभाषित की व्यग्य रचनाओ मे से कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते है। स्वतन्त्रता के पश्चात् गाधीवाद और कृत्रिम आध्यात्मिकता के नाम पर दिन पर दिन बढने वाले पाखण्डो की पोल दिनकर ने अपनी अनेक कविताओ मे खोली है—गाधी के नाम का दुरुपयोग करने वालों पर यह व्यग्य देखिए—

गांधी को उल्टा घिसो, और जो धूल झरे
उसके प्रलेप से अपनी कुण्ठा के मुख पर
ऐसी नक्काशी गढ़ो कि जो देखे, बोले,
आखिर बापू भी और बात क्या कहते थे ?[1]

इसी प्रकार निम्नोक्त पक्तियो मे गाधी की नकल करके कृत्रिम रूप से आरोपित आध्यात्मिकता और उच्चादर्शों की हँसी उडाई गई है—

कुर्ता-टोपी फेंक कमर में भले बांध लो
पांच हाथ की धोती घुटनों के ऊपर तक,
अथवा गांधी बनने के आकुल प्रयास में
आगे के दो दांत डाक्टर से तुड़वा लो।[2]

समर्पण कविता की एक-एक पंक्ति मे दिनकर के हृदय का व्यग्य और आक्रोश व्यजना के माध्यम से व्यक्त हो रहा है। एक विवश स्थिति की आक्रोशपूर्ण अभिव्यक्ति के एक-एक शब्द मे कशाघात की सी चोट है—

---

१. नये सुभाषित, पृष्ठ ४८

२ वही, पृष्ठ ४५

धधका दो सारी आग एक झोंके में,
थोड़ा-थोड़ा हर रोज जलाते क्यो हो ?
क्षण में जब यह हिमवान् पिघल सकता है,
तिल-तिल कर मेरा उपल गलाते क्यों हो ?
मै चढ़ा चुका निज अहंकार चरणों पर,
हो छिपा कही कुछ और, उसे भी ले लो !
चाहो, मुझको लो पिरो कही माला मे,
चाहो तो कन्दुक बना पांव से खेलो ।[1]

परशुराम की प्रतीक्षा की पूरी एनार्की कविता दिनकर की सबल और सक्षम व्यजना का उदाहरण है ।

रेणुका की अनेक कविताओ मे छायावादी कविता के शब्द-समूह को यथा-वत् ग्रहण किया गया है । स्वप्निल, नीरव, घनीभूत, विभव, अग-जग, अश्रुमय हास, मधुमय अभिशाप, कबरी, कुन्तल, इत्यादि शब्दो के प्रयोग इसी प्रवृत्ति के परिचायक है । सबसे अधिक प्रभाव उन पर पत के शब्द-शिल्प का दिखाई पडता है। अन्तर केवल इतना ही है कि दिनकर ने साकेतिक शैली द्वारा व्यक्त पंत जी की अतीन्द्रिय और कोमल कल्पनाओ को लौकिक, मांसल और स्थूल बना दिया है। जैसे पंत जी की पंक्तिया है—

अरे वे अपलक चार नयन
आठ आंसू रोते निरुपाय ;
उठे रोओं के आलिगन
कसक उठते कांटों से हाय ।[2]

दिनकर की पंक्तियां हैं—

हाय रे परिवर्तन विकराल,
सुनहरी मदिरा है वह कहां ?
मुहब्बत की वे आंखें चार ?
सिहरता शरमीला चुम्बन,
कहां वह सोने का संसार ?[3]

---

१. नये सुभाषित, पृष्ठ ४५
२. रश्मिबन्ध, पृष्ठ ४३—सुमित्रानन्दन पत
३ रेणुका, पृष्ठ ££

पंत जी की 'एक तारा' कविता की प्रथम पक्ति है—

नीरव संध्या में प्रशान्त—
डूबा है सारा ग्राम प्रान्त।[1]

दिनकर की अमा-सध्या के प्रथम शब्द है—

नीरव प्रशान्त जग, तिमिर गहन।
रुनझुन-रुनझुन किसका शिजन।[2]

छायावादी शब्द-समूह की कोमलता और मसृणता दिनकर के प्रतिपाद्य विषय के अनुकूल नही थी, उपर्युक्त प्रथम तथा द्वितीय उद्धरणो मे पत जी और दिनकर के व्यक्तित्व का अन्तर आका जा सकता है।

कही-कही उनकी भाषा मे चारणो की भाषा की नाटकीयता सी आ जाती है। बोधिसत्व को जगाने के लिए जब वह बार-बार 'जागो' 'जागो' की रट लगाते है अथवा 'लाल भवानी की जय जयकार' करते हुए 'जय' 'जय' बोलते हैं तो मालूम होता है दिनकर केवल भाव से ही युगचारण नही है उनकी शैली भी चारणो की सी है जिसके प्रयोग द्वारा वह अपने 'आश्रयदाता' की प्रशस्ति गान करते हैं।

व्याकरण की दृष्टि से सामान्यत शुद्ध होते हुए भी कही कही दिनकर की भाषा दोषपूर्ण हो गई है कि लिग और वचन सम्बन्धी इन भूलों पर हमारा ध्यान अनायास ही चला जाता है, जैसे—

(क) मैं चादनियो का बोझ किसी विध सहती हूं[3]
(ख) भारत धूलो से भरा आंसुओं से गीला।[4]
(ग) गालों पर की धूलियां नही नम होती है[5]
(घ) पाँच ही नर के द्वेष से हो गया संहार पूरे देश का।[6]
(ङ) क्षितिजो के पास पड़ी पतली चमचम सोने की डोरी सी

कही-कही स्त्रीलिंग बहुवचन के साथ प्रयुक्त क्रियाओ का रूप दोषपूर्ण हो गया है। स्त्रीलिंग हम के साथ, क्रियाओ का रूप, पुल्लिग मे प्रयुक्त क्रियाओ की ही भाति रहता है लेकिन दिनकर के प्रयोग मे स्थानीयता का दोष आ गया

---

१. रश्मिबन्ध, पृष्ठ ५७
२. रेणुका, पृष्ठ ६६
३. दिल्ली, पृ० १६
४. वही, पृ० २१
५. वही, पृ० २८
६. कुरुक्षेत्र, पृ० ६

है—'हम लौट रही थी', 'हम मारी मारी फिरती है', 'हम चली' इत्यादि गलत प्रयोग है। कही-कही अनावश्यक पुनरावृत्ति भी मिलती है।

गली कूच वन वीथि नगर मे[1]

मनुज दुर्बल मानव लाचार[2]

महिम मुक्ता विद्रुम-प्रवाल से विरचे हुए भवन में[3]

परन्तु इस प्रकार के छुटपुट दोष किसी भी कवि के लिए अपरिहार्य है। विशेष कर वह कवि जिसका ध्यान महल खडा करते समय ईंटो की चुनाई पर नही टिकता, इस प्रकार के दोषो के लिए क्षम्य है। समग्र रूप से यह कहा जा सकता है कि दिनकर की भाषा सशक्त और समर्थ है। वह, तलवार की झन-झनाहट, और नूपुर की रुनझुन, परशुराम की हुकार और उर्वशी की कोमल प्रणय-भावनाओ की अभिव्यक्ति के लिए समान रूप से समर्थ है।

छायावाद की रेशमी जाली को फाडकर छायावाद-परवर्ती कविता मे जीवन के जो कठोर यथार्थ, व्यापक और समग्र धरातल ग्रहण किए गए, तत्कालीन कवि उसके उपयुक्त भाषा-निर्माण मे भी कुशल सिद्ध हुए। इस क्षेत्र मे दिनकर का विशिष्ट योग-दान रहा। उनकी भाषा जीवन की कठोर-कोमल, सम-विषम, आत्मगत और विश्वगत, सुन्दर और कुरूप सभी प्रकार की स्थितियो को व्यक्त करने मे समान रूप से समर्थ है। दिनकर की भाषा-साधना का चरम रूप उर्वशी मे मिलता है, जिसके विषय मे यह आसानी से कहा जा सकता है कि उसमे मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी से ग्रहण किए गए दिनकर के भाषागत सस्कार, इतिवृत्तात्मकता, विवरणात्मकता तथा नीरस गद्यात्मकता से मुक्त होकर तथा उनके छायावादी सस्कार, अस्पष्टता और कुहासे से मुक्त होकर प्रयुक्त हुए हैं। ऐसे अब भी दिनकर का स्वप्न है कि वे 'रिल्के' के भाव और विचार को तुलसी की भाषा मे व्यक्त कर सके—जिस स्थिति पर पहुचने के लिए कठिन साधना की आवश्यकता है।

दिनकर की चित्र-योजना

दिनकर की कला-चेतना में चित्रात्मकता का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होने स्वय अनेक स्थलों पर कविता मे चित्रण-कला का महत्व स्वीकार किया है। उनके अनुसार कहानी मे जो स्थान मनोविज्ञान का है कविता मे वही स्थान

१. दिल्ली, पृ० ६

२. रसवन्ती, पृ० ८

३. उर्वशी, पृ० ७१

चित्र का है। चित्रमयता ही काव्य को विज्ञान से अलग करती है। जो ज्ञान चित्र मे परिवर्तित नही किया जा सकता, वह कविता के लिए बोझ बन जाता है। विचार जब चित्र बन कर सामने आते है तब मन की आँखे उन्हे देखते ही पहचान लेती है और शेष इन्द्रियो को भी यही सन्तोष हो जाता है कि बात ठीक है। काव्य की सार्थकता तो तभी मानी जाएगी जब विचार चित्रो मे परिवर्तित कर दिये जाय तथा वे केवल बुद्धि-ग्राह्य बनाकर ही न छोडे जाय। परन्तु चित्रो का प्रयोग कवि केवल तमाशा दिखाने को नही करता। असल मे चित्रो के सहारे वह हमारी सभी इन्द्रियो को जगा कर अपने तात्पर्य तक ले जाता है, जिसके मानी यह हुये कि शब्दो, अलकारो, लय और सगीत की तरह चित्र भी कविता मे अभिव्यक्ति के वाहन बन कर आते है।

"चित्रकला द्वारा काव्य मे शब्दो के सयोग से वस्तुओं और विचारो के मूर्तिमान रूप प्रस्तुत किये जाते है। चित्र-रचना की सामग्री, अक्सर अलकारो की सामग्री होती है। किन्तु, चित्र अलकार लाये बिना भी रचे जाते है।"

"चित्र और मूर्ति शब्द से दृश्य वस्तु का जो बोध होता है उससे यह नही समझना चाहिये कि काव्यगत चित्र केवल नेत्रेन्द्रिय के लिए होते है। प्रसगानुसार, वे सभी वस्तुए और क्रियाये काव्य मे मूर्त रूप ले सकती है जिनका सम्बन्ध नेत्र से न होकर जिह्वा, नासिका, श्रुति अथवा स्पर्श इन्द्रिय से है। ऐन्द्रिय क्रियाओ के ये स्मृति वाले रूप ही चित्र-विधान के आधार होते है।

"चित्र कविता का अत्यन्त महत्वपूर्ण गुण है, प्रत्युत कहना चाहिये कि यह कविता का एकमात्र शाश्वत गुण है जो उससे कभी भी नही छूटता। कविता और कुछ चाहे करे या न करे, किन्तु चित्रो की रचना वह अवश्य करती है और जिस कविता के भीतर बनने वाले चित्र जितने ही स्वच्छ अर्थात् विभिन्न इन्द्रियों से स्पष्ट अनुभूत होने के योग्य होते है, वह कविता उतनी ही सफल और सुन्दर होती है। कविता मे चित्र का एलबम अथवा स्वय एक पूर्ण चित्र होता है।

"किन्तु चित्रों के प्रसग मे भी एक बात है जिसकी उपेक्षा नही की जा सकती और वह यह कि चित्र भी कविता मे साधन होते है साध्य नही। शक्तिशालिनी कविता केवल चित्र दिखलाकर सन्तुष्ट नही हो जाती वह चित्रो के भीतर से कुछ और दिखलाना चाहती है। केवल चित्र आतिशबाजी मात्र रह जाते हैं। जार्ज रसल (ए० ई०) ने लिखा है कि जब मेरे सामने कोई कविता आती है मैं अपने आप से दो प्रश्न करता हूं। पहला यह कि कविता अधी है या पारदर्शी। अर्थात् कविता केवल ऊपर-ऊपर रगीन है या रगो के भीतर कुछ

दिखाई भी पडता है ; दूसरा यह कि यदि कविता पारदर्शी है तो उसके भीतर कितनी दूर की चीजे दिखाई पडती है ।"[1]

सामान्यत. काव्य-चित्रो के दो भेद किये जा सकते है : (१) लक्षित चित्र-योजना (Direct Imagery) और उपलक्षित चित्र-योजना (Indirect Imagery) । लक्षित चित्र-योजना को बाह्य रेखाओ या वर्णों द्वारा तुरन्त लक्षित किया जा सकता है, पर उपलक्षित चित्र-योजना को लक्षित करने के लिए अप्रस्तुतो के सादृश्य-विधान की जानकारी आवश्यक है । लक्षित चित्र-योजना को भी स्थूल रूप से दो कोटियों में विभाजित किया जा सकता है—रेखाचित्र और वर्णचित्र । एक मे आलम्बन की रूप-चेष्टाओ आदि की रेखाओ मे तथा दूसरे मे रगो मे अकित किया जाता है । रेखाओ और रगो द्वारा ये चित्र सहज मे ही लक्षित हो जाते है और इनमे साधारणत कवि का चेतन मन उद्घाटित होता है । उपलक्षित चित्रो मे अप्रस्तुतो के सादृश्य विधान द्वारा जिन घनीभूत मनोवैज्ञानिक क्षणो को अकित किया जाता है उनमे कवि का अवचेतन मन भी चित्रित हो उठता है ।

दिनकर के काव्य मे आलम्बन की विविधता के कारण लक्षित और उपलक्षित चित्रो के विविध प्रयोग हुये है । उनके चित्र ओजदीप्त भी है और मधुर-कोमल भी । उनमे क्रान्ति की ज्वाला भी है और रूप की स्निग्ध किरण भी । रूप की दृष्टि से दिनकर के लक्षित चित्रो के कई वर्ग बनाये जा सकते है—

(१) आलम्बन चित्र :—

(क) विस्तृत आधार-फलक पर निर्मित विराट चित्र

(ख) लघु फलको पर अकित कोमल मधुर चित्र

(२) अनुभाव चित्र

विस्तृत आधार-फलक पर अंकित आलम्बन चित्र

दिनकर के समूह चित्र अधिकतर क्रान्ति और युद्ध सम्बन्धी कविताओ मे मिलते है । ओजपूर्ण कविताओ मे जहा उनकी भावनाए पूर्ण विस्फोट और वेग के साथ व्यक्त हुई है, उनके चित्र सबल और शक्तिपूर्ण बन पड़े है । क्रान्ति कुमारी के कार्य-व्यापारो तथा विप्लव और विद्रोह के चित्रो मे रेखाओ और वर्णों के सयुक्त प्रयोग द्वारा चाक्षुष और श्रावणिक चित्रो का सयुक्त सयोजन हुआ है । कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते है—

झन-झन-झन-झन-झन झनन झनन
मेरी पायल झनकार रही तलवारों की झनकारों में,

१. काव्य की भूमिका, पृष्ठ ६,१३,७८,८०,१००,१०१,१०२

अपनी आगमनी बजा रही मै आप क्रुद्ध हुंकारों में
मै अहंकार सी कड़क ठठा हँसती विद्युत की धारों में
बन काल-हुताशन खेल रही पगली मै फूट पहाड़ों में
अंगड़ाई में भूचाल, सांस में लंका के उनचास पवन।[1]

उपर्युक्त उद्धरण की हर पक्ति क्रान्ति के समग्र चित्र के निर्माण मे अलग-अलग रेखाओ का काम करती है, रेखाए ध्वनि से सयुक्त है। तलवार की झकारे और क्रुद्ध हुकारे वीररस के अनुभावो की सृष्टि करती है, बिजली और आग सैनिको के उबलते क्रोध, मृत्यु और नाश का वेग भरती है—भूचाल और तूफान क्रान्ति की व्यापक अव्यवस्था, भीषण सहार और घोर अस्तव्यस्तता का चित्र प्रस्तुत करते है। प्रथम पक्ति के अनुकरणात्मक शब्द झन-झन की आवृत्ति 'मारू' राग के वातावरण का निर्माण कर देती है। चित्र चाक्षुष भी है श्रावणिक और गतिपूर्ण भी।

दूसरा उदाहरण है—

मेरे मस्तक के छत्र-मुकुट वसु-काल-सर्पिणी के शत फन,
मुझ चिर-कुमारिका के ललाट में नित्य नवीन रुधिर-चंदन;
आंजा करती हूँ चित्र धूम का दृग में अन्ध तिमिर-अंजन
संहार-लपट का चीर पहन नाचा करती मै छूम छनन।

क्रान्ति नर्तकी को भयकर और बीभत्स वेशभूषा तथा शृङ्गार-प्रसाधन के उपकरणो से सजा कर क्रान्ति की भयावहता तथा भयंकरता को मूर्तिमान किया गया है। काले, गहरे रगो की प्रतिरूप (Contrasting) तथा मिश्रित योजना से यह भयावहता द्विगुणित हो गई है। काल सर्पिणी के काले रग और लेलिह्य जिह्वाओ से निर्मित छत्र और मुकुट, ललाट पर रुधिर-चन्दन का लेप, नेत्रो मे चिताधूम का अजन, ध्वसक ज्वाला की झालरों से युक्त वस्त्र धारण किए हुए 'विपथगा' के रूप और व्यापारो मे कालिका का प्रचड रूप उभर आता है। व्यक्ति की सीमा मे समष्टि की अमूर्त क्रान्ति-चेतना इस चाक्षुष और गतिपूर्ण चित्र मे मूर्त हो गई है।

'रेणुका' की 'ताण्डव' कविता की चित्रमयता भी द्रष्टव्य है—

नाचो, हे नाचो, नटवर!
चन्द्रचूड़! त्रिनयन! गंगाधर! आदि प्रलय, अवढर शंकर!
नाचो, हे नाचो, नटवर!

---

१. हुंकार, पृष्ठ ७२

अंग-भंगि हुंकृति-झंकृति भर, थिरक-थिरक हे विश्वम्भर !
डिम-डिम डमरू बजा निज कर में
नाचो, नयन तृतीय तरेरे।
ओर-छोर तक सृष्टि भस्म हो,
अचिपुंज अम्बर को घेरे।[1]

चित्र गत्यात्मक है। 'ताण्डव' के लिए शिव का आह्वान करते हुए उनके चिरपरिचित पौराणिक रूप का चित्रण किया गया है। 'चन्द्रचूड' और 'गगाधर' मे आभा और शुभ्रता का सयोजन है, जो उनके सहारक रूप के साथ मेल नही खाता, परन्तु 'त्रिनयन' से उस आभा मे अगार की झलक आ जाती है और उस शुभ्रता को रोष की लालिमा छू लेती है। 'हुकृति' और 'झकृति' उनकी अगभगियो को सशब्द बना देती है, डमरू की ध्वनि और नयन तरेरने के वर्णन से चित्र सजीव और सबल हो गया है।

करुण तथा भयानक रस के हृदय-द्रावक समष्टि चित्र खीचने मे भी दिनकर समर्थ हुए है। एक उदाहरण लीजिए—

विष की ज्वाला से दह्यमान हो उठा व्यग्र सारा खगोल,
मतवाले नाग अशंक चले खोले जिह्वायें लोल-लोल।

* * *

हंसों के नीड़ लगे जलने, हंसों की गिरने लगी लाश
नर नहीं नारियो से होली, खेलने लगा खुल सर्वनाश।

* * *

लपटों से लज्जा ढको, कहां हो ! धधको धधको घोर अनल !
कब तक ढक पायेंगे इसको रमणी के दो छोटे करतल।
नारी का शील गिरा खण्डित कौमार्य गिरा लोहू लुहान ;
भगवान भानु जल उठे क्रुद्ध चिंघार उठा यह आसमान।[2]

इस्लाम को खतरे से निकालने के लिए 'नोआखाली' मे साम्प्रदायिकता का भयानक विष चारो ओर के वातावरण मे फैल गया। जिह्वा लपलपाते हुए काले नागो के वर्णन मे मजहबी उन्माद के अनुभाव सजीव है। तृतीय पक्ति मे दो रेखाए है, एक के द्वारा धधकते हुए भवनो और इमारतो की ज्वालाये प्रस्तुत की गई है और दूसरी के द्वारा व्यापक रूप से चलते हुए अमानुषिक हत्याकांड

---

१. रेणुका, पृष्ठ १—३

२. चक्रवाल, बापू, पृष्ठ २३१

के चित्र खीचे गए है। अन्तिम चार पक्तियो में नारी की असहाय विवशता, उसकी लुटती हुई लज्जा, तथा उसके खण्डित कौमार्य के चाक्षुष चित्र खीचे गए हैं, जिनकी कुशल अभिव्यक्ति के आवरण मे प्रच्छन्न नग्नता की सजीवता से काप कर पाठक को अपनी आखो पर हाथ रख लेना पडता है।

दिनकर ने इसी प्रकार के विस्तृत आधार-फलक पर ग्रामीण और सामाजिक वातावरण के अनेक चित्र खीचे है। ये चित्र अधिकतर क्रियाविधायक है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

वन-तुलसी की गन्ध लिए हल्की पुरवैया आती है
मन्दिर की घंटा ध्वनि युग युग का सन्देश सुनाती है
टिमटिम दीपक के प्रकाश में, पढ़ते निज पोथी शिशुगन ;
परदेशी की प्रिया बैठ गाती यह विरह गीत उन्मन—
भैया ! लिख दे एक कलम खत मो बालम के जोग,
चारों कोने खेम-कुशल मांझे ठां मोर वियोग।[1]

प्रथम पक्ति मे कवि ग्राम के सात्विक सौरभ की अनुभूति देने मे समर्थ रहा है, तुलसी की गन्ध के साथ मन्दिर के घटे की ध्वनि एक पुण्य वातावरण की सृष्टि करती है। दूसरी ओर दीपक की लौ के सामने अपनी पुस्तक से सिर खपाते हुए ग्रामीण बालको का चित्र उस वातावरण मे जीवन भर देता है, और तथाकथित पढे-लिखे बालको से अपने प्रिय के लिए पत्र लिखने का अनुरोध करती हुई ग्रामीणा के शब्द तो जैसे सारे वातावरण को कैमरे मे उतार कर रख देते है। अलग-अलग रेखाओ से निर्मित इस चित्र का रूप विश्लेषात्मक है, पर उसका प्रभाव सश्लिष्ट है। इसी प्रकार का क्रियाविधायक चित्र निम्नलिखित पंक्तियो मे व्यक्त है—

स्वर्णांचला अहा ! खेतों में उतरी संध्या श्याम परी
रोमन्थन करती गायें आ रही रौंदती घास हरी।
घर घर से उठ रहा धुंवा जलते चूल्हे बारी बारी
चौपालों में कृषक बैठ गाते—कहं अटके बनवारी ?
पनघट से आ रही पीत-वसना युवती सुकुमार,
किसी भांति ढोती गागर, यौवन का दुर्वह भार !
बनूंगी मैं कवि इसकी मांग,
कलश काजल सिन्दूर सुहाग।[2]

---

१. रेणुका, पृष्ठ १४
२. रेणुका, पृष्ठ १४

प्रथम पक्ति मे फलक पर साध्य-जगत के सुनहले और श्याम रग चढाए गए हैं, खेतो की हरियाली मे डूबते हुए सूरज की सिमटती हुई किरणो का चित्र अकित किया गया है। पहली पक्ति का चित्र स्वय पूर्ण है। अग्रिम तीन पक्तियो के चित्रों मे गति, क्रिया और ध्वनि तीनों के सयोजन से यथार्थ और सजीव वातावरण उपस्थित किया गया है। अन्तिम पक्तियो मे गहरे रगो के हल्के स्पर्श और सुकुमार रूप की रेखाओ से वातावरण मे माधुर्य और कोमलता का प्रभाव उत्पन्न किया गया है। विस्तृत आधार-फलक पर अकित होने पर भी इन चित्रो मे कसाव और स्पष्टता है।

समष्टि चित्रो मे अधिकतर रेखाए ही प्रधान है। क्राति के ध्वस और विनाश के चित्रो मे उन्होने धूम्र, अगार, खून और बिजली की तडप के रग भरे है। दिनकर को आलोक-दीप्ति और आभा से बहुत प्यार है। ओज और क्राति की चेतना की अभिव्यक्ति के लिए वे हमेशा सूर्य से आलोक मागते है, विभा की क्रान्ति और रश्मियो से कम्पन उधार लेते है। प्रखर व्यक्तित्व की कल्पना वे 'ज्योतिर्धर' के रूप मे करते है। रश्मिरथी के अन्त मे इसी आलोकपूर्ण वातावरण का निर्माण किया गया है—

> **अहा ! आलोक स्यन्दन आन पहुंचा,**
> **हमारे पुण्य का क्षण आन पहुंचा,**
> **विभाओ सूर्य का जय-गान गाओ,**
> **मिलाओ, तार किरणों के मिलाओ**
> **प्रभा-मंडल ! भरो झंकार ! बोलो !**
> **जगत की ज्योतियो ! निज द्वार खोलो।**
> **तपस्या रोचिभूषित ला रहा हूं,**
> **चढ़ा मै रश्मिरथ पर आ रहा हूं।**[1]

ओज-दीप्त आत्मशक्ति की प्रखरता की चरम अभिव्यक्ति के लिए 'दिनकर' की दृष्टि सबसे पहले सूर्य पर जाती है।

लघु फलकों पर अंकित प्रकृति-चित्र

दिनकर जितने जीवन के कवि है उतने प्रकृति के नही परन्तु, जीवन, प्रकृति का आचल छोड कर सर्वथा मुक्त नही हो सकता। प्रत्यक्ष या परोक्ष, किसी न किसी रूप में उसका सम्बन्ध प्रकृति से बना ही रहता है। यद्यपि दिनकर की कुछ कविताओ मे प्रकृति का चित्रण आलम्बन रूप मे हुआ है, परन्तु अधिकतर

---

१. रश्मिरथी, पृष्ठ १८१

रचनाओ में उसका उद्दीपन रूप ही प्रधान रहा है। दिनकर ने लघु फलको पर प्रकृति के कोमल, मधुर, और सजीव चित्र खीचे है, यह चित्रात्मकता रसवन्ती और नीलकुसुम मे विकसित होकर उर्वशी मे अपनी चरम सीमा पर पहुची है। उर्वशी के चित्र अधिकतर उपलक्षित और आलकारिक है। रेणुका के प्रारम्भ-कालीन प्रकृति चित्रो मे ही उनकी चित्राकन शक्ति का परिचय मिल जाता है। एक उदाहरण लीजिये—

आज सरित का कल कल छल छल,
निर्झर का अविरल झर झर,
पावस की बूंदो की रिमझिम,
पीले पत्तो का मर्मर ।[1]

उपर्युक्त पक्तियो मे प्रकृति के विभिन्न उपकरणो की गति और ध्वनि दोनो का सयुक्त सयोजन ध्वनि-व्यजक अनुकरणात्मक शब्दो के माध्यम से किया गया है। चित्र गतिपूर्ण और श्रावणिक हैं। प्रथम पक्ति का 'कल कल' स्वर ध्वनि-व्यजक है तो 'छल छल' जल-धारा की गति-विधि का परिचय देता है। 'झर झर' स्वर मे गति और ध्वनि दोनो ही निहित है। चार रेखाओ से निर्मित इस चित्र का प्रभाव सश्लिष्ट है। प्रकृति का एक निस्तब्ध, नीरव और स्थिर चित्र निम्न पक्तियो मे देखिये—

पर्ण कुंजो में न मर्मर-गान
सो गया थक कर शिथिल पवमान।
अब न जल पर रश्मि बिम्बित लाल;
मूंद उर मे स्वप्न सोया ताल।
सामने द्रुमराजि तमसाकार,
बोलते तम मे विहग दो-चार,
झींगुरों में रोर खग के लीन,
देखते ज्यों एक रव अस्पष्ट, अर्थ विहीन,
दूर श्रुत अस्फुट कहीं की तान,
बोलते मानों, तिमिर के प्राण ।[2]

पहली तथा तीसरी पंक्तियो की निषेधात्मक अभिव्यक्ति संध्या के आगमन के साथ वातावरण में बढ़ती हुई नीरवता और निस्तब्धता, तथा तीव्रता के साथ

---

१. रेणुका, पृ० २१
२. रसवन्ती, पृष्ठ ८८

झुकते हुए अंधकार का चित्र प्रस्तुत करती है। पत्तो का मर्मर मिट चुका है, आलोक-बिम्ब की लालिमा समाप्त हो चुकी है, इन दोनो पक्तियो मे व्यक्त कार्य का अवसान दूसरी तथा चौथी पंक्तियो की नीरवता मे परिणत होता है जिससे सन्ध्या का वातावरण साकार और ध्वनित हो उठता है। अग्रिम पक्तियो में घनघोर अधकार के चाक्षुष चित्र मे अस्पष्ट हल्की और तीखी ध्वनियो का समावेश करके एक सुन्दर और प्रभावपूर्ण प्रकृति-चित्र का निर्माण किया गया है।

दिनकर ने इन चित्रो का निर्माण केवल नपी-तुली बाह्य रेखाओ द्वारा ही नही किया है, वर्णों के नियमित और सुव्यवस्थित विन्यास के द्वारा भी उन्हे प्राणवन्त बनाया है। रेखाओ द्वारा निर्मित रूप-रेखाओ मे सुन्दर मनोहारी रग भर कर उनको वैभवपूर्ण बनाया गया है। निम्नलिखित पक्तियो मे चित्रित इन्द्रधनुषी वातावरण दिनकर की सजीव वर्ण-योजना का सुन्दर उदाहरण है—

चद्रिमा पट का कर परिधान, सजा नक्षत्रों से शृंगार,
प्रकृति पुलकाकुल आंखें खोल, देखती निज सुवर्ण संसार।
चमकते तरु पर झिलमिल फूल, बौर जाता है कभी रसाल।
चहकती चित्रित मैना कहीं, कहीं उड़ती कुसुमों की धूल।

चांदनी का शुभ्र श्वेत परिधान, नक्षत्रों के झिलमिलाते अलंकार, दर्पण सा चमकता सरोवर-जल, चित्र मे चमक और आभा उत्पन्न करते हैं, तथा उडते हुए पुष्प-पराग, चहकती मैना का स्वर और तितलियो का रंग-बिरगापन वातावरण मे फागुन का रंग और होली की मादकता भर देते है। प्रकृति के कोमल चित्रो की आधारभूमि का अकन दिनकर चादनी और नक्षत्रो की आभा, दूब की हरियाली, गगन की नीलिमा का रंग भरकर करते है। पक्षियों के कलरव, तितलियो की थिरकन और फूलो के हास से उस आधारभूमि को सस्पर्शित करके उनको अन्तिम रूप दिया गया है। उन्हे रंगो के आनुपातिक मिश्रण और उनके उचित तथा सतुलित प्रयोग का ज्ञान है। अनुरूप (Matching) और प्रतिरूप (Contrasting) दोनो ही प्रकार की रंग-योजना उनकी कृतियो मे मिलती है। वर्णों के मिश्रण तथा वर्ण-परिवर्तन के भी अच्छे उदाहरण उनके सभी प्रकार के चित्रो मे मिलते है। क्रान्ति के चित्रो मे नियो-जित अग्नि और धुये के रगो से निर्मित चित्रो का उल्लेख पहले किया जा चुका है। प्रकृति के उदात्त-कोमल रंगो के द्वारा अनुभूतियो को उभार कर दिनकर ने जो भाव-स्निग्ध चित्र खीचे है, वही उनकी सिद्धि है। प्रकृति के बाह्य रगो के संकेत से हृदय के रंगो की पारदर्शी अभिव्यक्ति उनके चित्रो की सार्थकता है। एक उदाहरण लीजिये—

पूरब की उद्भासित छिन्न घटायें
झलमल करने लगीं कनक-झालर सी,
नयन मूंद देखा ऐसे ही मुझ में
भावों के घन खण्ड अनेक रंगे थे।[1]

यहां चित्र यद्यपि पूर्ण रूप से लक्षित नही है, साम्यमूलक अप्रस्तुत-योजना का हल्का सा स्पर्श इसमे मिलता है, परन्तु इस चित्र मे वर्ण-परिवर्तन की बडी सुन्दर योजना की गई है। बिखरी हुई काली घटाओ का प्रात कालीन सूर्य की आभा से कनक वर्ण होकर झलमलाने का वर्णन बड़ा सटीक है—अपने हृदय के भाव-खडो मे उभरे रगो के प्रतिरूप के उल्लेख मे चित्र बाह्य प्रकृति का वर्णन मात्र नही रह गया है बल्कि ऐसा जान पडता है कि जल मे पडते हुए ताजमहल के प्रतिबिम्ब की तरह उसने मूल-वस्तु के सौन्दर्य को द्विगुणित कर दिया है।

इसी प्रकार निम्नलिखित पक्तियो मे रगो की प्रतिरूप तथा अनुरूप योजना के साथ ही वर्ण-मिश्रण का उदाहरण तो मिलता ही है, उसमे व्यजित बाह्य-चित्र के साथ एक दूसरा रगभरा और आभा से सस्पर्शित चित्र साथ-साथ चलता है—

भू की झिलमिल रजत सरित ही घटा गगन की काली है;
मेंहदी के उर की लाली ही पत्तों में हरियाली है
जुगनू की लघु विभा दिवा में कलियों की मुस्कान हुई
उडु को ज्योति उसी ने दी जिसने निशि को अंधियाली है।[2]

प्रथम पक्ति मे रजत सरित के शुभ्र श्वेत रग के प्रतिरोध से काली घटाओ का रग और भी गहरा हो जाता है। दूसरी पक्ति मे भी कवि का ध्यान रगो पर केन्द्रित होकर ही अपने अभीप्सित को व्यक्त करना चाहता है—लाल और हरे रग उस अर्थ मे विरोधी नही है जिस अर्थ मे श्वेत और काले वर्ण है, परन्तु प्रतिरूप वर्ण-योजना की दृष्टि से यह विन्यास सुन्दर और सार्थक है। जुगनू की लघु विभा और कलियो की मुस्कान मे अनुरूप वर्ण-योजना के साथ आभा और कोमलता का सयोजन हुआ है। चौथी पंक्ति मे फिर रंगो का प्रतिरोध सामने आता है। ज्योति और अधकार एक दूसरे के विरोधी है, इन विविध संयोजनाओ के बाह्य पक्ष का उतना महत्व नही है जितना उनके द्वारा व्यजित प्रतीक-चित्र का, जिनके कारण चित्र पारदर्शी बन गया है।

शुभ्र शरद के इस वर्णन मे एक वर्ण-योजना की पुण्य आभा और सात्विक प्रभाव भी दर्शनीय है—

१. हुकार, पृष्ठ ६२
२. द्वन्द्व गीत, पृष्ठ २५

उलर रही मंजरी कांस की, हवा झूमती आती है,
राशि राशि अवली फूलों की एक ओर झुक जाती है।
उगा अगस्त्य, उतर आया सरसी मे निर्मल व्योम सखी,
झलमल झलमल कांप रहे है जल मे उडु औ सोम सखी।[1]

प्रथम दो पक्तियो मे गति, सौरभ और रग का सयुक्त सयोजन है। हवा के मद झोको से झूमती हुई कास की मजरियो की श्वेत पृष्ठभूमि मे राशि-राशि फूलो के रग चटख हो उठते है। तीसरी और चौथी पक्तियो मे आभा-संयुक्त श्वेत रग की प्रधानता है। सरोवर के स्वच्छ जल तथा निर्मल आकाश की पृष्ठ-भूमि मे चन्द्र और नक्षत्रो के प्रतिबिम्बो की झिलमिलाहट नेत्रो में साकार हो उठती है।

रूप और अनुभाव चित्र

रूप तथा अनुभाव चित्रो के चरम सुन्दर रूप 'उर्वशी' मे मिलते है। 'उर्वशी' की एक-एक पक्ति मे मानो ये चित्र टके हुए है। परन्तु 'उर्वशी' की चित्र-योजना अधिकतर आलकारिक, प्रतीकात्मक अथा उपलक्षित है इसलिए उनका विवेचन अप्रस्तुत-योजना के प्रसग मे करना अधिक उचित होगा।

'रसवन्ती' के रूप और अनुभाव चित्रो का स्थान दिनकर की रूमानी चित्र-कल्पना मे सबसे महत्वपूर्ण है। हल्की रेखाओ और गहरे रगो के प्रयोग द्वारा रूप तथा क्रिया का एक समन्वित चित्र देखिये—

खोल दृग देखा प्राची ओर, अलक्तक चरणों का शृंगार
तुम्हारा नव, उद्वेलित रूप, व्योम में उड़ता कुंतल भार।[2]

प्रथम पक्ति मे चित्र क्रिया-विधायक है, दूसरी और तीसरी पक्तियो मे रंग और रूप की आभा है, चतुर्थ पक्ति मे रग और गति के सयोजन द्वारा चित्र को सजीव बनाया गया है। रसवती की 'गीत अगीत' कविता मे प्रस्तुत तीनों ही चित्र एक से एक बढ कर है। सरल अभिधात्मक उक्तियो में अधिकतर कवि चित्राकन के लोभ मे अपनी अभिव्यजना को बोझिल बना देते हैं, परन्तु 'रसवन्ती' के चित्र स्पष्ट, ऋजु और सहज है, भाषा की दुरूहता और साकेति-कता उनके और पाठक के बीच मे नही आती। गीत के प्रथम अश मे गाती हुई निर्झरी और तट पर मूक खडे हुए गुलाब के मनोहारी चित्र गीत के मूल भाव की जिज्ञासा को द्विगुणित करते है। तटिनी मे गति और स्वर है। पाटल

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ ४२
२. रसवन्ती, पृष्ठ ८

अपने गुलाबी सौन्दर्य में मूक और स्थिर हैं। दोनों के विरोधी गुण मन में एक ही प्रश्न उठाते हैं 'गीत, अगीत कौन सुन्दर है'—

गा गा कर बह रही निर्झरी,
पाटल मूक खड़ा तट पर है।
गीत अगीत कौन सुन्दर है।

उसी गीत के तीसरे अंश में ध्वनि-संयुक्त रेखाओं के द्वारा क्रियाविधायक चित्र का निर्माण किया गया है। शृङ्गार के अनुभाव, अलग-अलग रेखाओं द्वारा व्यक्त होकर एक संश्लिष्ट स्थिति और परिणति पर पहुंचते हैं, वही प्रश्न फिर मुखर हो जाता है—'गीत अगीत कौन सुन्दर है?'

दो प्रेमी हैं यहां, एक जब
बड़े साँझ आल्हा गाता है,
पहला स्वर उसकी राधा को
घर से यहां खींच लाता है।
चोरी चोरी खड़ी नीम की
छाया में छिप कर सुनती है,
हुई न क्यों मैं कड़ी गीत की
बिधना, यों मन में गुनती है।
वह गाता पर किसी वेग से
फूल रहा इसका अन्तर है।[1]

चित्र विश्लेषात्मक है परन्तु उसका प्रभाव संश्लिष्ट है। सम्पूर्ण चित्र में पांच रेखाएं हैं, प्रथम रेखा, आल्हा गाकर प्रेमिका को अपनी उपस्थिति का संकेत देते हुए ग्रामीण प्रेमी का चित्र अंकित करती है। दूसरी रेखा प्रेमी का स्वर सुन कर उतावली प्रेमिका का चित्र खींचती है—चौथी रेखा में उसके मन के राग का रंग है, नीम की छाया में चुपचाप चोरी-चोरी प्रेमी का स्वर सुनती हुई नायिका के भौतिक व्यक्तित्व के साथ ही उसके मन की आकांक्षा भी व्यक्त है, जहां अनुभूति की रमणीयता ने चित्र में प्राण डाल दिए हैं। पांचवीं रेखा की अनुरागमयी भंगिमा सब रेखाओं को समन्वित कर प्रेमिका के रसमग्न हृदय का चित्रण करके एक-एक रेखा को अनुभूतिमयी बना देती है।

चटख, गहरे और चमचमाते हुए उपकरणों को मिलाकर दिनकर ग्रामीण

---

१. रसवन्ती, पृ० १४

श्रौर सहज सौन्दर्य का रूप श्रंकित करते हैं। ग्रामवधू की ये पंक्तियां उदाहरण रूप में ली जा सकती हैं—

माथे में सेंदुर पर छोटी
दो बिन्दी चमचम सी—
पपनी पर श्रांसू की बूंदें
मोती सी शबनम सी
पीला चीर, कोर में जिसकी
चकमक गोटा - जाली,
चली पिया के गांव उमर के
सोलह फूलों वाली।[१]

दिनकर के रूपचित्रण में ग्रामीणा की सहजता प्रायः श्रपने श्राप श्रा जाती है। सिन्दूर का पीला रंग, चमकती बिन्दियां, चकमक गोटा-जाली द्वारा नववधू के रूप-शृङ्गार का चित्र प्रस्तुत किया गया है। उसके कार्य-कलापों श्रौर मानसिक स्थितियों का भी बहुत सुन्दर चित्रण किया गया है—

श्रांखों में दे श्रांख हेरतीं
हैं उसकी जब सखियां,
मुस्की श्रा जाती मुख पर
हँस देतीं रोती श्रंखियां
पर समेट लेती शरमा कर
बिखरी सी मुस्कान
मिट्टी उकसाने लगती है
श्रपराधिनी समान।[२]

चित्र की हर रेखा स्पष्ट श्रौर सहज है—उनकी व्याख्या की श्रपेक्षा नहीं जान पड़ती। चित्र क्रिया-विधायक हैं—चार छोटी श्रौर हल्की रेखाश्रों के द्वारा नववधू के हृदय में छिपे हुए उल्लास श्रौर विदा लेती हुई कन्या की विछोह-पीड़ा के सम्मिलित श्रनुभावों का सहज-मुखर चित्र खींचा गया है।

'पुरुषप्रिया' के रूप-चित्रों में दिनकर की सौन्दर्य-दृष्टि तथा रूपांकन की सामर्थ्य का परिचय मिलता है—उनका रूप-चित्रण केवल बाह्य प्रसाधनों श्रौर श्रलंकरण सामग्री पर श्राधारित नहीं होता—इसीलिए उनके चित्र जड़, निष्प्राण

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ १५

२. वही, पृष्ठ १६

और चित्र-लिखित न रह कर आर्द्र, तरल स्निग्ध और प्राणवन्त बन जाते है। जैसे—

लघु कनक-कुम्भ कटि पर साजे,
दृग बीच तरल अनुराग लिए,
चरणों में ईषत्, क्षीण
जलधौत अलक्तक राग लिए।[1]

उपर्युक्त चित्र मे कनक कुम्भ की हल्की आभा, और सद्य-स्नान के कारण जल से धुलकर हल्के पडे हुए अलक्तक की रग-योजना मे सूक्ष्म सौन्दर्य-दृष्टि का परिचय तो मिलता ही है, आखो के तरल अनुराग का स्पर्श देकर उसे सवाक् बना दिया गया है। आखो के भाव से युक्त होकर जड रेखाए मुखर और चेतन हो गई है। निम्नलिखित पक्तियो मे शृङ्गार के सात्विक और कायिक अनुभावो का सजीव चित्रण है—

अंकुरित हुआ नव प्रेम, कंटकित,
कांप उठी युवती वसुधा,
रसपूर्ण हुआ उर कोष, दृगो में
छलक पडी सौन्दर्य सुधा।[2]

चित्र की स्पष्ट और सजीव रेखाओ मे प्रस्तुत वसुधा तो बिल्कुल पृष्ठभूमि मे पड गई है और अप्रस्तुत मुग्धा के समस्त कार्यकलाप सजीव हो गए है। नव अनुराग के आवेग से उत्पन्न रोमाच प्रथम पक्ति के 'अकुरित' और 'कटकित' शब्दो मे साकार है। आवेग-जन्य कम्प के साथ ही दृगो से छलकते मादक सौंदर्य के वर्णन से चित्र सजीव हो गया है। प्रतीक्षा की उदास मुद्रा के स्थिर चित्र के साथ रसिक मेघ की निरपेक्ष मन्द गति के प्रतिरोधी चित्रण से स्थिति का मार्मिक चित्रण बन पडा है—

एक सिक्त कुन्तला खोल कर मेघों का वातायन
अब तक विकल रामगिरि-दिशि में हेर रही कुछ उन्मन।
रसिक मेघ पथ का सुख लेता मन्द-मन्द जाता है
अलका पहुंच संदेश यक्ष का सुन्न नहीं पाता है।[3]

प्रथम दो पक्तियो मे पुण्य और सात्विक विरह का जो आर्द्र चित्र प्रस्तुत किया गया है, उसमे कालिदास की विरहिणी मे शाश्वत और सार्वभौम नारी

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ ५४
२. वही, पृष्ठ ६२
३. वही, पृष्ठ ८०

सुरक्षित है। काल और देश की परिधि का अतिक्रमण कर वह हर विरहिणी के हृदय का प्रतिनिधित्व करती है, जो उन्मन होकर विरह अवधि के शाप-शमन की प्रतीक्षा करती रहती है।

इसी प्रकार शकुन्तला के प्रथम प्रेम और रूप-चित्रण में निहित शाश्वत तत्व की व्यंजना दिनकर के चित्राकन की सामर्थ्य द्वारा ही सम्भव हो सकी है—

> प्रथम स्पर्श से झंकृत होती वेपथुमती कुमारी,
> एक मधुर चुम्बन से ही खिल कर हो जाती नारी।
> दर्भांकुश खींचती चरण से, झुकी अरालासन से
> देख रही रूपसी एक प्रिय को मधु भरे नयन से।[1]

शकुन्तला की इस कहानी मे हर नारी की कहानी की आवृत्ति है। इस प्रकार के चित्रो मे दिनकर ने कालिदास की सार्वभौमता को रेखाओ मे समेट लिया है। कालिदास के मन के गीत दिनकर के चित्रो मे बध कर फिर से जीवित हो गये है। प्रथम दो पक्तियो के अनुभाव और उनकी झकार "हर पिपासु की तृष्णा जागृत कर देते है तथा तीसरी और चौथी पक्तियो के सरल स्निग्ध रूप मे 'शमित अग्नि' को पुनर्जीवित करने की शक्ति है।"

दिनकर की रूप-कल्पना अप्सराओ के सौन्दर्य को सुहागिनी बना कर रूप ग्रहण करती है। मजीर, ककण, वलय, माग के मोती, कर्णफूल, आरसी इत्यादि आभूषणो से वे नारी को अलकृत करते है तथा सिन्दूर, काजल, बिंदी, अलक्तक इत्यादि से उसका रूप सवारते है।

> तुम्हें भी रात के सुनसान में आकाश पर दिखते,
> किसी की मांग के मोती, किसी के हाथ का दर्पण ?
> किसी के मुक्त कुंतल जाल लहराते हुए घन से
> कि जिनमें से चमेली के हजारो फूल झरते है।[2]

प्रकृति के उपकरणो से भी रूप और रंग उधार लेकर उन्होने नारी का रूप संवारा है—

> ये नवनीत कपोल, गुलाबों की जिनमें लाली खोयी,
> ये नलिनी से नयन, जहां काजल की लघु अलिनी सोई
> कोंपल से अधरों को रंग कर कब वसन्त कर धन्य हुआ ?
> किस विरही ने तनु की यह धवलिमा आँसू से धोई।

---

१. रसवन्ती, पृ० ६०

२ नील कुसुम, पृ० १३

नवनीत की कोमलता और सफेदी मे नायिका के कोमल गौर वर्ण का तरल सौन्दर्य झांकता है, गुलाब की लाली कपोलो की लालिमा का सकेत करती है। दूसरी पक्ति मे नेत्रों के आकार और वर्ण का चित्रोपम वर्णन है, किसलय के रग से होठों को रंजित किया गया है। प्रस्तुत चित्र लक्षित और उपलक्षित दोनों ही प्रकार की चित्र-योजनाओं का सयुक्त और सम्मिलित रूप है। उप-लक्षित अंशो मे ग्रहण किये गये उपमान यद्यपि परम्पराभुक्त है, पर सौन्दर्य की ऐन्द्रिय अनुभूति उत्पन्न करने मे वे पूर्ण समर्थ है।

रेणुका के रूप-चित्रों मे ही दिनकर की 'रूप-दृष्टि' का परिचय मिल जाता है, परन्तु उन चित्रो की रेखायें अत्यन्त सहज और सरल हैं। परवर्ती चित्रो के समान स्थूल रेखाओ मे सौन्दर्य की सूक्ष्मताओ को समेट लेने की सामर्थ्य उनमे नही है, 'रसवन्ती' की सद्यः स्नाता की जिस तरल पारदर्शिता का संकेत पहले किया जा चुका है रेणुका की सद्य स्नाताओ मे उसका अभाव है। यहा तो रूप—केवल रूप है। रस, रूप मे नही उसके दर्शक के हृदय मे है—

आग्रीव वारि के बीच खड़ी, गा रही मधुर प्रत्येक परी,
बिछली पड़ती किरणें जल पर, नाचती लहर पर स्वर लहरी।
डुबकी रमणियां लगाती है, लट ऊपर ही लहराती हैं
परियां अब जल से चलीं निकल, तन से लिपटे भीगे अंचल
चू रही चिकुर से वारिधार, मुख-शशि-मय रोता अंधकार
विद्यापति सिमट वसन तन में, मन्मथ जागे न मुनी मन में।[1]

'रेणुका' की इस चित्र-योजना को दिनकर की लक्षित चित्र-योजना का प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है, जहा कवि की दृष्टि सौन्दर्य के बाह्य उप-करणो पर ही अटक कर रह गई है। लेकिन, रसवन्ती तक पहुचते-पहुंचते ही दिनकर की तूलिका मे प्राण भरने की शक्ति आ गई है। हो सकता है इसका कारण यह भी हो कि रसवन्ती का रूपाकर्षण वैयक्तिक है जब कि प्रस्तुत चित्र मे उसका रूप सामूहिक है।

'नील कुसुम' और उर्वशी के चित्र विचारो को अपने मे समाहित करके चलते हैं। रूप-चित्रण की तो बात छोडिये दिनकर के अनुभाव चित्र भी विभिन्न भावों की प्रतिक्रियाओं के प्रतिबम्ब बन कर सामने आ जाते हैं। उदाहरण के लिए ये पक्तिया ली जा सकती हैं—

ढलकते गीत में मोती,
चमकती आंख में शबनम।

---

१. रेणुका, पृष्ठ ५८

तुम्हारी बांसुरी की तान में
छिप रो रहा कोई।
गुलाबी आंख अपनी
आंसुओं से धो रहा कोई।[1]

उपर्युक्त चारो पक्तियो मे चित्र की रेखाये और रग एक विचार-खण्ड के वाहक हैं, लेकिन दोनो का रूप सश्लिष्ट है। कला की प्रेरणा के मूल में दुख है परन्तु उसकी साधना मे विजय की चमक, प्रथम दो पंक्तियो मे यही भाव अनुभावो के माध्यम से व्यक्त हुआ है। बासुरी की तान में किसी के रोने की कल्पना से बासुरी से निकलती हुई करुण ध्वनि की कल्पना कानो मे गूजने लगती है—रोती हुई आखो के गुलाबीपन के स्पर्श से चित्र मार्मिक, यथार्थ और सजीव बन जाता है।

अनेक समस्याओ की उलझनो मे फसी हुई आज की बौद्धिक नारी के कार्य-कलापो को अपनी रेखाओ मे दिनकर सफलतापूर्वक बाध सके है। चित्र मे इतनी वक्र रेखाए है कि उनकी आधुनिका ने व्यग्य चित्र का रूप धारण कर लिया है—शायद दिनकर का उद्देश्य भी यही था। उनकी दृष्टि मे न सहानुभूति है न 'दया' और न उद्धार का भाव—उसमे केवल भर्त्सना और उपहास है, पर चित्र की सजीवता और यथार्थता मे कोई सन्देह नही है—

दांतों-तले अधर को दाबे, कसे उबलते मन को,
चलती हो ऐसे कि, देखती ही ज्यों नहीं किसी को।
तुम्हे ध्यान रहता कि पीठ सहलाती कितनी आंखे,
बंधे चले आते कितने मन छलकी हुई लटों से।
मनःस्पर्श करती बहुतों का बल खाती चलती हो,
मन ही मन गिनती हो, लोहू कांप गया कितने का।[2]

प्रथम पंक्ति के अनुभाव हृदय के उफान पर बाध बाधने का प्रयास करती हुई नारी का चित्र प्रस्तुत करते है। शेष पक्तियो मे आधुनिका द्वारा अपने रूप-सौन्दर्य तथा पुरुषो पर उसके प्रभाव के मूल्याकन की चेष्टाओ का सजीव चित्रण हुआ है। इन पक्तियो की विशेषता यही है कि आधुनिका के मानसिक अनुभावो के चित्रण द्वारा उसकी कायिक गतिविधियो के बिम्ब प्रस्तुत किए गए है। अमूर्त भावो और विचारो को रेखाओं मे बाध कर उसकी बाह्य और स्थूल चेष्टाओ के मानसिक चित्र बना सकने की क्षमता मे ही दिनकर की सफलता निहित है।

१. नील कुसुम, पृ० २६
२. रसवन्ती, पृ० ४६

वात्सल्य के अनुभावो का एक रसस्निग्ध और मार्मिक उदाहरण लीजिये—

> अंचल के सुकुमार फूल को वह यो देख रही है,
> फूट रही हो धार दूध की ही ज्यों भरे नयन से।
> वीर, धनी विद्वान, ग्राम का नायक विश्व-विजेता,
> अपनी गोदी बीच आज वह क्या क्या देख रही है।[1]

प्रथम दो पक्तियो मे सद्य माता की वात्सल्य से भीगी हुई स्नेहभरी आखें साकार हैं। इन अनुभावो को अभिलाषाओ और आकाक्षाओ मे लपेट कर मातृत्व का सुन्दर और मार्मिक चित्र खीचा गया है।

इन कोमल भावों के आलम्बन और अनुभावो के अतिरिक्त दिनकर ने सघर्षरत, क्रियाशील और सामाजिक व्यक्ति के भी प्रभावपूर्ण और सबल चित्र खीचे है। इस प्रकार के चित्र रगो की आभा से रहित और निरलकार होते हुए भी सबल है; इनकी रेखाए प्रखर और गहरी है। एक उदाहरण लीजिये—

> वह प्रदीप जो दीख रहा है झिलमिल दूर नही है,
> थक कर बैठ गए क्या भाई! मंजिल दूर नहीं है।
> चिनगारी बन गई लहू की बूंद गिरी जो पग से
> चमक रहे पीछे मुड़ देखो, चरण चिह्न जगमग से
> अपनी हड्डी की मशाल से हृदय, चीरते तम का,
> सारी रात चले तुम दुख झेलते कुलिश निर्मम का।
> एक खेय है शेष किसी विधि पार उसे कर जाओ,
> वह देखो, उस पार चमकता है मन्दिर प्रियतम का।
> आकर इतना पास फिरे, वह सच्चा शूर नहीं है,
> थक कर बैठ गये क्या भाई! मंजिल दूर नहीं है।[2]

उदात्त लक्ष्य के प्रतीक रूप में दीपक की सयोजना से राह की धूल से भरे हुए आकाश, सघर्ष के स्वेद, नैराश्य के तम और पैर से गिरती हुई लहू की बूदो के निशानो से उत्पन्न अवसाद-ग्रस्त वातावरण मे आशा की धीमी लौ का प्रभाव आ गया है, इसी प्रकार हृदय की मशाल के सहारे मार्ग के अन्धकार को चीरने की कल्पना तथा दूर मजिल के अन्त मे प्रियतम के मन्दिर की चमक से मार्ग के अन्धकार मे धीमे प्रकाश का रग भर गया है। जीवन के ऊबड़-खाबड मार्ग को कर्म-कुठार से समतल करते हुए निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर होने वाले मनुष्य का व्यक्तिचित्र इस बात का प्रमाण है कि जीवन के श्रम और संघर्षों

---

१. रसवन्ती, पृ० ५१

२. सामधेनी, पृ० १०-११

की अभिव्यक्ति के लिए अनगढ़ नीरस होना आवश्यक नही है । उसे 'सुन्दर' से आवृत करके और भी अधिक प्रभावोत्पादक बनाया जा सकता है ।

युद्धजन्य विध्वस के करुण प्रभाव-चित्रण के लिए सीधी-सादी रेखाओ और ध्वंस के रगो द्वारा जो चित्र प्रस्तुत किया गया है वह भी देखने योग्य है—

षोडशी शुक्लाम्बरायें आभरण कर दूर,
धूल मल कर धो रही हैं मांग का सिन्दूर।
वीर बेटों की चिताएं ज्वलित देख समक्ष,
रो रही माएं हजारों पीटतीं सिर वक्ष।[1]

प्रथम दो पक्तियो की करुणा, श्वेताम्बरा षोडशियो, टूटते हुए आभूषणों और माग के सिन्दूर के धुलते हुए रगो के माध्यम से व्यक्त हो रही है, चित्र क्रिया-विधायक और चाक्षुष है । आयु के सोलह फूलो वाली नवयुवतियो की धूल धूसरित केशराशि, धुलता हुआ मांग का सिंदूर तथा श्वेत वस्त्र आखो मे करुणा के आसू बन कर छा जाते है। अन्तिम दो पक्तियो मे नाश का सामूहिक दृश्य बडा हृदयद्रावक है ।

व्यंग्य चित्र

किसी की धज्जिया उड़ाने के लिए भी दिनकर के पास चित्रो की काफी पूजी है । उनके मन का आक्रोश व्यग्य और उपहास जिन व्यग्य-चित्रो द्वारा व्यक्त होता है उनकी प्रभावात्मकता 'शकर' के कार्टूनो से कम नही है । कार्टूनों की टेढी-सीधी, उल्टी, वक्र रेखाओ से चित्र उभारने मे भी वे उतने ही कुशल है जितने रूप, शृंगार और कोमल भावनाओ के चित्र खीचने मे । एक दो उदाहरण ही इस कथन के प्रमाण के लिए काफी होंगे--

आधुनिकता की बही पर नाम अब भी तो चढ़ा दो,
नायलन का कोट हम सिलवा चुके हैं ;
और जड़ से नोंच कर बेली चमेली के द्रुमों को
कैक्टसों से भर चुके हैं बाग हम अपना ।

इसी प्रकार गांधी के नाम पर अहिंसात्मकता का कृत्रिम ढोग रचने वालों पर यह प्रहार किसी कार्टून के प्रहार से कम कठोर नही है—

कुर्ता टोपी बाँध कमर में भले बाँध लो
पांच हाथ की धोती घुटनों से ऊपर तक,

---

१. सामधेनी, पृष्ठ २०

अथवा गांधी बनने के आकुल प्रयास में
आगे के दो दांत डाक्टरों से तुड़वा लो।

निष्कर्ष यह है कि उनकी भाषा के समान ही दिनकर की चित्र-योजना का भी सर्वप्रधान गुण है भावानुरूपता। कोमलता, परुषता, ओज, शृ गार, स्वभावोक्ति, सहजोक्ति तथा वक्रता इत्यादि सभी भावो के अनुरूप कोमल-परुष, विशाल और लघु चित्र खीचने मे वे समर्थ हो सके है। जैसे-जैसे उनकी कला प्रौढ होती गई है उनकी अभिव्यजना और विषय-वस्तु अधिकाधिक सम्पृक्त होते गये है। काव्य-चित्रो की सार्थकता ही यही है कि भाव और विचार, चित्र बन कर हमारे मन चक्षु के सामने साकार हो जाये, और चित्रो की सार्थकता की इस कसौटी पर दिनकर के चित्र पूर्ण रूप से खरे उतरते है। अपने चित्रो के रग, रेखाये और अलकरण के प्रसाधन उन्होने प्रकृति और जीवन के व्यापक क्षेत्रो से ग्रहण किये है। रगो के सतुलित और कल्पनापूर्ण प्रयोगो तथा रेखाओ के कुशल सयोजन से चित्र सप्राण हो गये है। अनुभूति, विचार और चित्रात्मक अभिव्यक्तिया पूर्ण रूप से सश्लेषात्मक हो गई है। यहा भी उनकी दृष्टि भाव और प्रतिपाद्य पर ही केन्द्रित रहती है। चित्र तो माध्यम मात्र है। रसोद्रेक मे सहायक होने के कारण उनमे जीवन्त पारदर्शिता है। हमारी दृष्टि चित्रो के रगो और रेखाओ पर ही अटक कर नही रह जाती उनके आरपार देख सकती है।

दिनकर की अप्रस्तुत-योजना

अपनी उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए कवि अलकारो का प्रयोग करता है। अलकारो के मनोवैज्ञानिक आधार है स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, अन्विति, जिज्ञासा और कौतूहल। इनके मूर्त रूप है साधर्म्य, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार। अर्थात् उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए कवि अभीष्ट अर्थ के साथ बाह्य जगत् की वस्तुओ के सादृश्य की स्थापना करके उनका प्रेषण करता है। अर्थ को अतिशयोक्ति रूप मे प्रकट करके पाठक के मन का विस्तार करता है, वैषम्य द्वारा आश्चर्य की उद्भावना तथा औचित्य के द्वारा उसकी वृत्तियो को अन्वित करता है। बात को वक्रता के साथ कहकर श्रोता या पाठक की जिज्ञासा उद्दीप्त करता है तथा बुद्धि की करामात दिखाकर उसके मन मे कौतूहल उत्पन्न करता है। इसी आधार पर अलकारो को पाच भागो मे विभाजित किया जा सकता है—

१. साम्य-मूलक अलंकार (उपमा, रूपक, दृष्टान्त इत्यादि)
२. अतिशय-मूलक अलंकार (अतिशयोक्ति अलकार के विभिन्न भेद)

३. वैषम्य-मूलक अलकार (विरोध, विभावना इत्यादि)

४. औचित्य-मूलक अलकार (स्वभावोक्ति इत्यादि)

५. वक्रता-मूलक अलकार (अप्रस्तुतप्रशसा, व्याज-स्तुति)

६. चमत्कार-मूलक अलकार (यमक, चित्र, मुद्रा आदि के विभिन्न भेद)

पाश्चात्य काव्यशास्त्र मे अलकारो को तीन भागो मे विभक्त किया गया है—

१. शब्द-विन्यास सम्बन्धी अलकार

२ वाक्य-विन्यास सम्बन्धी अलकार

३ अर्थ-विन्यास सम्बन्धी अलकार

प्रथम वर्ग के अलंकार भारतीय शास्त्र मे व्याकरण के नियमो मे अन्तर्भूत हो जाते है। शेष दो वर्ग के अलकारों मे भारतीय अलकार-विधान से बहुत साम्य है। मानवीय भावनाओ के समान ही मानव-बुद्धि की प्रक्रिया प्राय शाश्वत और सार्वभौम है। अलकार-विधान के द्वारा कवि अपने राग-तत्व की सहायता से अपनी भावनाओ को व्यक्त करता है। इसी मनोवैज्ञानिक आधार के कारण विभिन्न देशो के अलकार-विधान मे एक सार्वभौम ऐक्य है। साम्य, वैषम्य, अतिशयता, वक्रता, चमत्कार इत्यादि ही पाश्चात्य अलकारो के भी आधार है।

इस प्रकार वाणी का अलकरण शैली का एक बाह्य उपादान मात्र नही है , उसकी जड़े मानव के अन्तरग से सम्बद्ध है। अलकार रसानुभूति मे योग देने वाले तत्व है। प्रतिपाद्य से सम्बद्ध बाह्य जगत् के विभिन्न उपकरणो को उपमान तथा प्रतीक के रूप मे ग्रहण कर, उपर्युक्त पाच आधारो मे से एक या अनेक की विधा पर कवि उनका सम्बन्ध स्थापित कर अपनी उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाता है। अलकारो के द्वारा सहृदय की वृत्तिया उद्दीप्त होकर अन्वित होती है और इस प्रकार अनलकृत उक्ति की अपेक्षा उनमे अधिक गहराई आ जाती है। कवि की कला बहुत बडी सीमा तक अलकारो के प्रयोग पर निर्भर रहती है। "भावो का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओ के रूप-गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने मे कभी-कभी सहायक होने वाली उक्ति अलकार है।" आचार्य शुक्ल की इस परिभाषा के अनुसार अलकार के दो मुख्य कार्य है—(१) भावो का उत्कर्ष दिखाना, (२) वस्तुओ के रूपानुभव, क्रिया-नुभव तथा गुणानुभव को तीव्र करना। जहा इन उद्देश्यों की परिपूर्ति स्वाभाविक अलंकार-विधान द्वारा होती है वही वे सार्थक होते है और वही उनका सौन्दर्य निखरता है। परन्तु यदि उसमे कृत्रिमता आ जाती है तो उनका सारा सौन्दर्य मिट्टी मे मिल जाता है और वह विधान केवल एक यान्त्रिक शिल्प-मात्र रह

जाता है। अलकार काव्य की शोभा के लिए है, परन्तु यदि उनमे असंतुलन और अतिशयता हुई तो वही उपहासजनक असौन्दर्य बन जाते है। अलकार्य तथा अलकार के सामजस्य-विधान मे ही अलकारो की सार्थकता है। बुद्धि के बलात्कार द्वारा निर्मित अलकार-विधान अस्वाभाविक बन जाता है। इस सामजस्य के अभाव मे अलकारो का कोई महत्व नही रह जाता, जहा बाह्य सज्जा ही सौन्दर्य की परिभाषा बन जाय, वहा सौन्दर्य का रूप सच्चा नही होता।

अलंकरण-सामग्री

अलकार-योजना मे प्रधान रूप से दो पक्ष होते है—(१) उपमेय (२) उपमान। यही उपमेय और उपमान ही आधुनिक शब्दावली मे 'प्रस्तुत' और 'अप्रस्तुत' बन गये है। उपमानो के औचित्यपूर्ण प्रयोग पर काव्य की सफलता तथा सौष्ठव बहुत बडी सीमा तक निर्भर रहता है। अप्रस्तुत-विधान काव्य-शिल्प की सबसे बड़ी कसौटी है। इसके नियोजन के द्वारा काव्य मे प्रभावोत्पादकता, विशदता तथा रसनीयता का समावेश किया जाता है। रमणीय अनुभूति के लिए रमणीय अभिव्यजना की अपेक्षा होती है, क्योकि अनुभूति और अभिव्यजना-सौष्ठव के सतुलित समन्वय से ही आदर्श काव्य का निर्माण होता है। चरमानुभूतिया जब इतनी रसनीय हो कि अभिव्यजना-सौष्ठव के बिना भी रसोत्कर्ष मे समर्थ हो तभी प्रस्तुत अप्रस्तुत से अविच्छिन्न रह सकता है, नही तो अप्रस्तुत के बिना प्रस्तुत एक साधारण उक्ति-मात्र रह जाता है।

भाव की अभिव्यक्ति तथा स्वरूप की आनन्दमयी प्रतीति दोनो ही आलंकारिक योजना के अभीष्ट होते है। परन्तु दोनो ही अभीष्टो की एक साथ परिपूर्ति कवि के लिए बडी कठिन पड जाती है। इस विधान मे सबसे आवश्यक तत्व है औचित्य; अर्थात् उपमेय और उपमान के व्यापार मे औचित्य की मात्रा पर साम्य की सामर्थ्य निर्भर है और साम्य-सामर्थ्य का काव्य-शिल्प मे बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। जहा यह स्थापना केवल स्वरूपबोधक रहती है वहा काव्य-सौन्दर्य का अभाव होता है, साम्य के विद्यमान रहते भी उसे काव्य-कोटि के अन्तर्गत नही रखा जा सकता। अप्रस्तुत-योजना का उद्देश्य है भावना को तीव्र करना; किसी वस्तु का स्वरूपबोध या परिज्ञान कराना मात्र नही। स्वरूप-बोध के साथ सौन्दर्य-बोध होने पर ही काव्य का अस्तित्व होता है। प्रयोग-औचित्य, यथार्थता, अभिव्यंजकता, ध्वन्यात्मकता, उपमेय तथा उपमान-सयोजन के लिए अभीप्सित आवश्यक गुण है। यदि उपमान अमार्मिक और असमर्थ हुए तो अप्रस्तुत-विधान साधारण उक्ति को चामत्कारिक और रमणीय बनाने के बदले उपहासप्रद बना देते हैं।

अप्रस्तुत-योजना विभिन्न प्रकार के साम्यो के आधार पर की जाती है। साम्य के मूलत तीन रूप सादृश्य, साधर्म्य और प्रभाव-साम्य ही प्रधान है। यदि साधर्म्य या सादृश्य मे प्रभाव-विस्तार की शक्ति नही है तो उपमान निर्जीव रहेगे। भाव की समृद्धि मे जो अप्रस्तुत-विधान जितना अधिक योग देता है, वह उतना ही सफल होता है। प्रभाव-साम्य का प्रयोग व्यक्ति अथवा वस्तु के गुण को सवेदनशील बनाने के स्थान पर किसी प्रभाव की अनुभूति को स्पष्ट करने के निमित्त होता है। इसके अतिरिक्त प्रतिद्वन्द्वात्मक तथा विरोधात्मक समता के द्वारा भी उपमेय और उपमान का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। प्रथम मे समता का रूप प्रतिद्वन्द्वात्मक होता है, दूसरे मे समता के होते हुए भी वैभिन्न्य तथा विरोध का अस्तित्व विद्यमान रहता है। इसके अतिरिक्त अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत की व्यजना अन्योक्ति, अप्रस्तुत-प्रस्तुत की एकात्मकता इत्यादि के द्वारा भी की जाती है। स्पष्टत इस सम्पूर्ण विधान मे प्रस्तुत की अपेक्षा अप्रस्तुत अर्थात् उपमान का ही अधिक महत्व रहता है। उपमान ही वे उपादान है जिनके द्वारा कवि अपनी उक्ति को रमणीय बनाता है।

उपमान

प्राय: सभी कवियो की रचनाओ मे प्रयुक्त उपमानो पर अपने युग तथा वातावरण का प्रभाव प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनो ही रूपो मे पड़ता है। उपमान तथा वातावरण का एक और सम्बन्ध है। कवि को वातावरण के अनुकूल उपमान ग्रहण करने के लिए जागरूक रहना पडता है। कवि के लिए प्रस्तुत से सम्बद्ध युग, सस्कृति, समाज तथा अन्य परिस्थितियो के अनुकूल उपमानो का सयोजन ही अभीष्ट है और सबसे बडा अभीष्ट है मार्मिक अनुभूति, जिसके अभाव मे अप्रस्तुत-विधान ही साध्य बनकर श्रेष्ठ काव्य की कोटि से नीचे आ जाता है। युग की नई-नई बदलती हुई परिस्थितिया उपमानो के रूप, अर्थ और सौन्दर्य-बोध मे परिवर्तन करती रहती है। नये युग के प्रयोगवादी उपमान इसके स्पष्ट उदाहरण हैं ही, मध्ययुग की कविता मे भी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितिया कवि को नये उपमान देती रही है।

यद्यपि व्यापक रूप मे सौन्दर्य-तत्व सर्वकालीन और सार्वभौम है परन्तु प्रत्येक देश और संस्कृति की सौन्दर्य-विषयक धारणाओं का निर्माण तथा उनकी अभिव्यक्ति एकदेशीय बाह्य उपकरणो के आधार पर की जाती है। इसीलिए उपमानो के प्रयोग में भी व्यापक तत्वो के साथ ही साथ एकदेशीय तत्व विद्यमान रहते हैं। देश-विशेष मे सौन्दर्य तथा असौन्दर्य-सम्बन्धी मान्यतायें बन जाती है। इन बंधी हुई धारणाओ के विपरीत मान्यताओ के आधार पर अप्रस्तुत-विधान

मे कवि की नवीन और मौलिक उद्भावना तथा कल्पना-शक्ति अपेक्षित होती है। प्रकृति-विरुद्ध उपमान असुन्दर बन जाते है। आचार्य शुक्ल के शब्दो मे, "सिद्ध कवियो की दृष्टि ऐसे ही अप्रस्तुतो की ओर जाती है जो प्रस्तुतो के समान ही सौन्दर्य, दीप्ति, कान्ति, कोमलता, प्रचडता, भीषणता, उग्रता, उदासी, अवसाद, खिन्नता इत्यादि की भावना जगाते है।"

उपमान-सयोजन मुख्यत पाँच प्रकार से किया जाता है—

१. मूर्त के मूर्त उपमान।

२. अमूर्त के अमूर्त उपमान।

३. मूर्त के अमूर्त उपमान।

४. अमूर्त के मूर्त उपमान।

५. मूर्तामूर्तरूप उपमान।

(१) जहा उपमेय और उपमान दोनो ही मूर्त पदार्थ या व्यक्ति हो।

(२) अमूर्त उपमेय और अमूर्त उपमान के सामजस्य-विधान मे सूक्ष्म कल्पना तथा श्रेष्ठ काव्य-प्रतिभा अपेक्षित रहती है। सूक्ष्म दृष्टि के अभाव मे इसका सयोजन सम्भव नही, यह सर्वसाध्य और सर्वसुगम नही है।

(३) मूर्त प्रस्तुत के लिए अमूर्त अप्रस्तुत का नियोजन उतना कठिन नही है, क्योकि मूर्त वस्तु के रूप, रग, गुण तथा अवगुण प्रत्यक्ष और अनुभूत रहते है और अनुभूत वस्तु की अभिव्यक्ति स्वयमेव सहज होती है।

(४) अमूर्त भावो के मूर्त उपमानो का सयोजन बहुत कठिन है। भावात्मक अमूर्त के ऐसे मूर्त उपमानो का चयन, जिनसे उनमे भाव-व्यजक साम्य की स्थापना की जा सके, कठिन कार्य है।

(५) एक ही प्रस्तुत के लिए, चाहे वह मूर्त हो या अमूर्त, मूर्त तथा अमूर्त दोनो ही प्रकार के उपमान नियोजित किए जाते है। इस प्रकार की योजना करते समय कवि को इस बात के लिए सतत रूप से जागरूक रहना पडता है कि उसका विधान कही दूरारूढ न हो जाए।

दिनकर ने स्वय भी अलकारो को केवल बाह्य अलकरण का साधन न मान कर उसे काव्य के आन्तरिक विकास मे सहायक उपकरण माना है। उनके अनुसार "अलकार शब्द से, वैसे तो, अनावश्यक बनाव-सिंगार की भी ध्वनि निकलती है, किन्तु, कविता मे अलकारो के प्रयोग का वास्तविक उद्देश्य अतिरंजन नही, वस्तुओ का अधिक से अधिक सुनिश्चित वर्णन ही होता है। साहित्य में भी जब हम संक्षिप्त और सुनिश्चित होना चाहते है, तभी रूपक की भाषा हमारे लिए स्वाभाविक हो उठती है। रूपको पर सम्पूर्ण अधिकार को अरस्तू

ने कवि प्रतिभा का सबसे बडा लक्षण कहा है। और येट्स का विचार था कि परिपक्व ज्ञान बराबर रूपको मे व्यक्त होता है। सच्चे अर्थो मे मौलिक कवि वह है जिसके उपमान मौलिक होते हैं और श्रेष्ठ कविता की पहचान यह है कि उसमे उगने वाले चित्र स्वच्छ और सजीव होते है। ××× चित्र भी कविता के साधन होते हैं, साध्य नही। शक्तिशालिनी कविता केवल चित्र दिखला कर सन्तुष्ट नही हो जाती वह चित्रो के भीतर से कुछ और दिखलाना चाहती है।"[1]

दिनकर की अप्रस्तुत-योजनाओ के तीन मुख्य रूप है। (१) सादृश्यमूलक (२) अतिशयोक्तिमूलक (३) विरोधमूलक। इन तीनो मे सर्वप्रमुख है सादृश्य-मूलक अप्रस्तुत-योजना। सादृश्य-योजना के आधार अधिकतर तीन प्रकार के है। रूप-साम्य, धर्म-साम्य, और प्रभाव-साम्य। इन सादृश्य-विधानो में परम्परा, उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा, उदाहरण आदि अलकारो के रूप मे तथा नये प्रयोग मानवीकरण, विशेषण विपर्यय इत्यादि अलकारो के रूप मे विद्यमान है।

दिनकर की सादृश्यमूलक योजनाओ का सबसे प्रधान गुण है उसकी सश्लिष्ट चित्रात्मकता जो सभी प्रकार की साम्य-योजनाओ पर आधारित है। उपयुक्त उपमान-चयन तथा लाक्षणिक प्रयोग की कुशलता के कारण उनके अलकार भाषा के अंग बन जाते हैं, मोती की आभा की तरह उनका सौन्दर्य अन्तर्निहित रहता है। ऊपर से लादे हुए अलंकारो की भाति वे केवल बाह्य सज्जा के उपकरण नहीं रह जाते। सादृश्य-योजना का यह कौशल उनकी प्रारम्भिक रचनाओं मे ही मिलने लगता है। काव्य-शास्त्रीय भाषा मे कहे तो उपमा और रूपक उनके प्रिय अलकार हैं। उत्प्रेक्षा मे अपेक्षित असम्भाव्य अनिवार्यता ने उन्हें अधिक आकर्षित नही किया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं--

> **स्वर्ग-स्रोत, करुणा की धारा, भारत मां का पुण्य तरल,**
> **भक्ति अश्रुधारा सी निर्मल गंगा बहती है अविरल।[2]**

निर्मल गगा के लिए प्रयुक्त चारो ही उपमान अमूर्त है और अलग-अलग प्रभाव व्यजित करते है। स्वर्गस्रोत से एक ओर 'अच्युत-चरण-तरगिनी' का रूप साकार होता है और दूसरी ओर उस पौराणिक विश्वास की ध्वनि व्यजित होती है जिसके अनुसार गंगा पतित पावनी है, प्राणीमात्र को पृथ्वी के मलिन दूषणों से मुक्त करके नैसर्गिक पुण्य प्रदान करती है। करुणा की धारा मे वर्ण और धर्म-साम्य की मिश्रित सयोजना है। करुण का रंग श्वेत माना गया है

१. चक्रवाल, भूमिका, पृष्ठ ७३
२. रेणुका, पृष्ठ १५

और गगा का स्वच्छ निर्मल जल भी श्वेत है। इसके अतिरिक्त भक्तों के प्रति गगा की करुण-आर्द्र कृपा भी प्रसिद्ध है। तीसरे उपमान 'भारत मा का पुण्य तरल' मे उसकी भौगोलिक और प्राकृतिक महत्ता की ओर सकेत किया गया है। द्वितीय पक्ति मे साम्य-योजना प्रभाव पर आधृत है। भक्ति की अश्रुधारा हृदय की द्वन्द्वरहित राग-द्वेष से परे की अनुभूति के अनुभाव रूप मे व्यक्त होती है, गंगा की धारा भी स्वच्छता और निर्मलता की प्रतीक है। उपमानो के मूर्त और अमूर्त दोनो ही पक्षो का सश्लिष्ट साम्य-विधान कवि के सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध का परिचायक है।

जहा दिनकर ने एक ही उपमेय पर अनेक उपमानो का आरोपण किया है, वहा भी रस और वाणी का आन्तरिक सम्बन्ध टूटने नही पाया है और न उनमे परिगणन दोष आने पाया है। रसबोध और सौन्दर्य-बोध वहा भी सम्पृक्त रहते है। उदाहरण के लिए—

> **अवनी के नक्षत्र ! प्रकृति के उज्ज्वल मुक्ताहार।**
> **उपवन दीप ! दिवा के जुगनू ! वन के दृग सुकुमार !**
> **मेरी मृदु कल्पना-लहर से, पुलकाकुल उद्भ्रान्त।**
> **उर मे मचल रहे लघु लघु भावों में कोमल कान्त**
> **निज सौरभ से सुरभित, अपनी आभा में द्युतिमान।**
> **मुग्धा से अपनी ही छवि पर भूल पड़े छविमान।**[1]

प्रथम दो पक्तियो के रूपकात्मक उपमान लक्षणा का वैभव अपने मे समेटे हुए अर्थगर्भित हैं। दूसरी दो पक्तियो मे मूर्त उपमेय पर अमूर्त पुलकाकुल उद्-भ्रान्त मृदु कल्पना, तथा हृदय के लघु-लघु भावो का आरोपण करके उसे प्राण-मय चेतन का रूप दे दिया गया है। अन्तिम दो पक्तियां गुण-साम्य पर आधृत हैं। अपने रूप और सौन्दर्य पर स्वय ही मोहित मुग्धा नायिका की रस-स्निग्ध सहज सुन्दर मुद्राये उपमेय मे सजीव हो उठी है। सभी उपमान मोहक है और उनका विन्यास कौशलपूर्ण है परन्तु कौशल की जागरूक और बौद्धिक चेष्टा हृदय के रस और सौन्दर्य मे समा गई है।

रूप, धर्म और प्रभाव-साम्य की यह कुशल सयोजनाये कुरुक्षेत्र जैसे समष्टि-चेतना के काव्य मे भी उतनी ही प्रभावपूर्ण बन पडी है। शरशय्या पर पडे हुए भीष्म की ओजस्विता और गौरवपूर्ण पराजय के प्रतीक रूप मे प्रयुक्त उपमान बड़े सार्थक है—

---

१. रेणुका, पृष्ठ ६२

शरो की नोंक पर लेटे हुए गजराज जैसे।
थके टूटे गरुड से स्रस्त पन्नगराज जैसे।[1]

गजराज से उनके दृढ और ओजस्वी व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब उतरता है। 'थके', 'टूटे' तथा 'गरुड से स्रस्त' शब्द भीष्म के गौरवपूर्ण पराभव को व्यजित करते है। यहा उपमान और उपमेय दोनो मूर्त है।

निम्नलिखित पक्तियो मे धर्म-साम्य का सुन्दर उदाहरण मिलता है—

और तब चुप हो रहे कौन्तेय,
संयमित करके किसी विध शोक दुष्परिमेय,
उस जलद सी एक पारावार,
हो भरा जिसमे लबालब, किन्तु जो लाचार
बरस तो सकता नही, रहता मगर बेचैन है।[2]

घनीभूत पीडा के आसू रूप मे बरसने का भाव नया नही है—उमसभरे बादल, परम्परा से कामानुभूतियो की घुटन के रूप मे प्रयुक्त होते रहे है, यहा बादल केवल आसुओ और आहो का भार ढोने वाले उपकरण नही रह गये है। युधिष्ठिर की समस्त गरिमा, गाम्भीर्य और मार्दव उन्होने अपने मे समेट लिया है। युधिष्ठिर के हृदय मे उठता हुआ पश्चाताप, वेदना और दु ख का पारावार उपमेय बादल मे समा गया है।

कुरुक्षेत्र के सातवे सर्ग मे सघर्ष-रत मनुष्य की गतिविधियो के लिए सजोये हुए उपमान भी सार्थक और सुन्दर है। इन्ही कुशल सयोजनाओ द्वारा दिनकर गीता के 'कर्मयोग' को काव्यात्मक बाना पहना सके हैं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

रागानल के बीच पुरुष कंचन सा जलने वाला
तिमिर सिन्धु मे डूब रश्मि की ओर निकलने वाला,
ऊपर उठने को कर्दम से लडता हुआ कमल सा,
ऊब डूब करता उतराता घन मे विधु मण्डल सा।[3]

ससार के अवरोधो-विरोधो तथा सघर्षों को झेलते हुए आशा और निराशा, दु ख और सुख, अन्धकार और प्रकाश दोनो ही का सामना करके जीवन की विजय-भेरी बजाने वाले कर्मयोगी के लिए सकलित सभी अप्रस्तुतो मे दिनकर की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का परिचय मिलता है। राग की भयकर अग्नि मे तप कर

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ३८
२. वही, पृष्ठ १२
३. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ९७

व्यक्ति अपनी दुर्बलताओ और परिसीमाओ पर विजय प्राप्त करता है, सत्यासत्य का ज्ञान उसके व्यक्तित्व को निखार कर कुन्दन और पारदर्शी बना देता है। परिस्थितियो और सघर्षों की भट्टी मे जलता हुआ मन, अग्नि के ताप मे द्रवित स्वर्ण के उपमान द्वारा चित्रमय हो उठता है। उपमान पुराना और परम्परागत है पर विषय और अभिव्यजना की सश्लिष्ट सयोजना ने उसे नई सामर्थ्य दे दी है। द्वितीय पक्ति का प्रच्छन्न उपमान है सूर्य जिसके प्रखर उदय और गहन अस्त के क्रम को मानव जीवन के सुख-दु:खात्मक पक्षो पर आरोपित करके आशा और विश्वास की रश्मि मे जीवन की विजय प्रतिष्ठित की गई है। तीसरी पक्ति की साम्य-योजना मे पाप पर पुण्य की विजय की प्रतिष्ठा है। कीचड जीवन की उन मलिनताओ, दूषणो और दुर्बलताओ का प्रतीक है जिनके मूल मे वैयक्तिक रागद्वेष रहता है—इन प्रवृत्तिमूलक विकृतियो से बच कर रहने वाला ही कर्मयोगी है। कमल उसी कर्मयोगी का प्रतीक है, जो ससार का पक झेल कर भी उसकी मलिनताओ से अपने को बचाने की चेष्टा मे रत रहता है। चौथी पक्ति मे 'ऊब डूब' करता शब्दो के द्वारा सघर्ष का चित्र प्रधान हो गया है। बादलो की परतो मे छिपते और निकलते चन्द्र का चित्र निराशा की अन्धकारपूर्ण उदासी और आशा की स्निग्ध मुस्कान का चित्र एक साथ प्रस्तुत करते है।

नैराश्य की मुद्रा की ऐसी ही एक संयोजना कुछ परिवर्तन के साथ रश्मिरथी मे मिलती है। परशुराम से झूठ बोलने के अपराध में अभिशप्त निस्तेज कर्ण का चित्र है—

परशु के चरण की धूलि लेकर, उन्हें अपने हृदय की भक्ति देकर,
निराशा से विकल टूटा हुआ सा, किसी गिरिशृङ्ग से छूटा हुआ सा,
चला खोया हुआ सा कर्ण मन में
कि जैसे चांद चलता है गहन में।[1]

प्रथम उपमान मे नियोजित स्थिति-साम्य तपस्या की अन्तिम सिद्धि तक पहुच कर लौट पडने की विवशता का अकन करती है तथा द्वितीय उपमान, भावोत्कर्ष मे पूर्ण सहायक है। अभिशप्त कर्ण के लिए राहु-ग्रस्त चन्द्र का उपमान बडा उचित बन पडा है, परन्तु इससे भी अधिक सार्थकता 'उपमान' मे व्यजित आशामूलक ध्वनि की है। ग्रहण की स्थिति को पार कर चन्द्रमा फिर अपनी आभा से पूर्ण हो जाता है, शापग्रस्त कर्ण की उदासी का अस्थायित्व तथा भावी आशा का सकेत भी प्रस्तुत उपमान मे निहित है।

१. रश्मिरथी, पृ० २५

रसवन्ती की उपमाएं एक ओर सहज कोमल और मधुर है दूसरी ओर उसमे छायावादी मानवीकरण की परम्परा का अवशेष भी मिलता है जिसमे कवि और उसके युग की अपेक्षाकृत स्पष्ट, और स्थूल अभिव्यजना का समावेश मिलता है। उनकी कल्पना मे पत, निराला और महादेवी की कोमलता और अतीन्द्रियता नही है और न उनकी कला मे मणिकुट्टिम जडाव है। 'मणिकुट्टिम' कला की रचना तो दिनकर आगे चल कर 'उर्वशी' मे ही कर सके है। प्रथम वर्ग मे उपमानो के उदाहरण रूप मे निम्नलिखित पक्तिया ली जा सकती है।

माथे मे सेंदूर की छोटी दो बिन्दी चमचम सी
पपनी पर आसू की बूंदें, मोती सी शबनम सी।
लदी हुई कलियों से मादक टहनी एक नरम सी
यौवन की विनती सी, भोली गुमसुम खड़ी शरम सी।[1]

प्रथम दो पक्तियो के नन्हे-नन्हे उपमानो द्वारा बालिका वधू का रूप-सौन्दर्य निखर उठा है, तीसरी पक्ति का उपमान उसकी कोमल देह-यष्टि, मादक लावण्य और कोमल सौन्दर्य का सश्लिष्ट प्रभाव देने मे समर्थ है, अन्तिम पक्ति के दोनो ही अमूर्त उपमानो द्वारा वधू की शालीनता, सुशीलता और मधुर लज्जा-शीलता को साकार किया गया है।

रसवन्ती की 'प्रीति' कविता मे उपमानो के गुणो की स्वीकृति और निषेध द्वारा एक नया ही विन्यास बन पडा है। निषेधात्मक उपमान है—अरुण साझ के घन, पूर्णचन्द्र और धधकती हुई लपटे। इनके विरुद्ध सयोजित स्वीकृतिमूलक उपमान है नील गम्भीर गगन, दूज के चाद की कला तथा ओदी आच। प्रथम सयोजना मे आवेशमूलक आवेग-प्रेरित प्रेम के अस्थायी उबाल की अस्वीकृति तथा गम्भीर, मौन और स्थायी प्रेम की स्वीकृति है। द्वितीय सयोजना द्वारा उसी सतही प्रेम की क्षणिकता और अस्थायित्व तथा गम्भीर प्रेम की परिपक्वता, शीतलता और परिष्कार की प्रतिष्ठा की गई है। तृतीय सयोजना मे आवेश और आवेग के निषेध द्वारा धीरे-धीरे सुलगते हुए मधुर मगल अन्तर्दाह की स्वीकृति है।

छायावादी अलंकार-योजना के अवशेष का प्रतिनिधित्व करने वाली प्रमुख कविता है 'संध्या' जिसमे मानवीकरण के सुन्दर, स्निग्ध और कोमल उदाहरण भी मिलते हैं परन्तु कही-कही उनका रूप हास्यास्पद, बीभत्स और कठोर भी हो गया है। प्रथम श्रेणी के मानवीकरण के उदाहरण रूप मे संध्या पर आरोपित 'अभिसारिका' का यह चित्र लिया जा सकता है—

---

१. रसवन्ती, पृ० १६

षोड़शी तिमिराम्बरा सुकुमार
भूलुंठित पुष्पित लता सी म्लान, छिन्नाधार ।

*　　*　　*

साधना सी मग्न, स्वप्न-विलीन
नि स्व की आराधना सी शून्य, वेग विहीन ।[1]

श्यामाभिसारिका का रूप धारण किए सध्या-सुन्दरी की उदासी, और अनवरत प्रतीक्षा का नैराश्य उपर्युक्त पक्तियो मे सयोजित उपमानो मे साकार है। प्रथम उदाहरण मे उपमान है छिन्नाधार भूलुठित पुष्पित लता, जो सध्या-कालीन एकाकीपन और उदासी के वातावरण को व्यक्त करने मे समर्थ है। दूसरे उदाहरण के उपमान सान्ध्यकालीन शून्यता, गम्भीरता और निस्तब्धता से एकाकार होकर उसे मुखर बनाते है ।

मानवीकरण के निम्नोक्त उदाहरण मे यद्यपि चित्र बडा सजीव है, परन्तु सध्या के नीरव, निस्तब्ध और उदास वातावरण मे कापालिक, रक्त, मदिरा इत्यादि की कल्पना चित्र को बीभत्स बना देती है । यहा पर दिनकर की दृष्टि स्वरूप-बोध पर ही अटक कर रह गई है । चाक्षुष चित्र का निर्माण ही उनका ध्येय रह गया है—

जीर्ण वय अम्बर-कापालिक शीर्ण, वेपथुमान
पी रहा आहत दिवस का रक्त मद्य-समान ।
शिथिल, मद-विह्वल, प्रकम्पित-वपु, हृदय हतज्ञान,
गिर गया मधु पात्र कर से, गिर गया दिनमान ।[2]

डूबते हुए सूर्य का चाक्षुष चित्र यद्यपि मूर्तभास्वरता, तेज रगो और गहरी रेखाओ के द्वारा खीचा गया है, परन्तु चित्र मे अप्रस्तुत प्रधान हो गया है और प्रस्तुत गौण । हमारे चक्षुओ मे रक्त पीते हुए कापालिक का चित्र पहले, और प्रधान रूप से आता है तथा साध्यकालीन गगन और डूबते हुए सूर्य का बिम्ब पृष्ठभूमि मे पड जाता है। 'केशवदास' और दिनकर के 'कापालिक' मे कोई खास अन्तर नही रह गया है। परन्तु दिनकर द्वारा प्रस्तुत इस प्रकार की औचित्यहीन योजनाओ को उगलियो पर गिना जा सकता है।

'सामधेनी' और 'नील कुसुम' की सादृश्यमूलक अप्रस्तुत-योजनाओ मे कही-कही नए प्रयोग किए गए है। जैसे—

---

१. रसवन्ती, पृ० ८७
२. रसवन्ती, पृ० ८६

वृद्ध सूर्य की आंखों पर
माडी सी चढ़ी हुई है
दम तोडती हुई बुढिया सी
दुनिया पड़ी हुई है।[1]

प्रथम पक्तियो मे उपमेय लुप्त है, परन्तु कवि का अर्थ स्पष्ट है। माडी के उल्लेख मे अन्तिम प्रलय के निकट सूर्य की निष्प्रभ होती हुई ज्योति का सकेत है। प्रलय के नाश से ग्रस्त विश्व की उपमा के लिए 'दम तोडती हुई बुढिया' का उपमान रूप मे प्रयोग, दिनकर की कला के सौन्दर्य से सत्य और कल्पना से यथार्थ की ओर मुडने का परिचायक है। अग्रिम दो पक्तियो मे भी इसी प्रकार के प्रयोग है—

अब तो नही कही जीवन की आहट भी आती है
हवा दमे की मारी कुछ चल कर ही थक जाती है।[2]

प्रलय के उजडते हुए श्रान्त क्लान्त वातावरण के लिए सकलित यह उपमान, क्षोभ और अवसान का प्रभाव उत्पन्न करने मे समर्थ रहा है।

'नील कुसुम' मे कही-कही नवीन उपमानो की लडी पिरोकर नई कल्पनाओ को पुराने धागे मे पिरोने का प्रयास किया गया है। निम्नोक्त उद्धरण मे उपमान नए युग के है और विधान परम्परागत मालोपमा का—

मजे मे रात भर घूमो कभी दायें कभी बांयें
उमड़ती बाढ में ज्यों नाव की डोंगी निकलती है।
घरों के पास से होकर बचा कर पेड पौधो को,
कि जैसे पर्वतो की गोद मे नदियाँ बहा करतीं,
कि जैसे टापुओं के बीच में जलयान चलते है
कि जैसे नाव वेनिस मे गृहो के बीच फिरती है।[3]

कल्पना के उन्मुक्त गगन मे विचरण करते हुए, यथार्थ, सघर्ष, कटुता और वैषम्य इत्यादि को कुछ देर के लिए भूल कर उसकी रगीनियो मे ही रम जाने की स्थिति के चित्रण के उद्देश्य से सजोए हुए प्राय· सभी उपमान धरती से सकलित किए गए है, और उनके द्वारा एक रगीन और मस्त वातावरण तथा जीवन-दृष्टि की अभिव्यक्ति हुई है। 'नील कुसुम' के उपमान कही-कही ऋजुता और सहजता के नाम पर अनगढ और अति व्यावहारिक हो गए है—

---

१. सामधेनी, पृष्ठ १६
२. वही, पृष्ठ २०
३. नील कुसुम, पृ० १४

वसुधा जो हर बार काल का शरबत बन जाती है,
महा प्रलय के प्लावन में शक्कर समान घुल मिल कर।[१]

वसुधा के शरबत बनने की यह कल्पना प्रभाव-साम्य पर आधृत है, जिसमे महाप्रलय की भयावहता और पृथ्वी की नगण्य महत्ता को रूपाकार देने का प्रयास किया गया है। प्रलय की सम्पूर्ण प्रक्रिया को एक छोटे से रूपक मे बाध दिया गया है।

'नील कुसुम' मे सकलित उपमानो मे रूप और विन्यास दोनो ही प्रकार की विविधता मिलती है। निम्नलिखित उद्धरणो मे नवीन उपमानो का सयोजन सदेह अलकार के परम्परागत ढाचे मे हुआ है—

सब रहते हैं टंगे लिपट कर मकड़ी के जालों से,
या कि लटक रोगिणी वायु की उलझी हुई लटों से।[२]

वर्तमान जीवन का क्षोभ, मालिन्य, उलझने और विकृतिया तथा घुटन सभी इन अतियथार्थमूलक उपमानो द्वारा व्यंजित है। इसी प्रकार 'गीत नही काटे ले आओ' कविता मे वर्तमान जीवन-व्यवस्था की अनुदिन बढती हुई, वस्तु-वादिता, निष्क्रियता, जडता, चेतनाहीनता इत्यादि पर व्यग्य करते हुए दिनकर ने साधारण जीवन से गृहीत उपमानो का व्यजनापरक विन्यास बडी कुशलता से किया है—

मानो, गीत नहीं ये कौए
बैठ कान को सुहलाते हैं,
जादू इनका यही भैंस को,
ये समाधि में ले जाते हैं।[३]

कहने की आवश्यकता नही है कि इस पक्तियो की सशक्त व्यजना और वक्रता का सारा श्रेय 'कौए' और 'भैंस' को है।

अपनी कविता के यथार्थवादी प्रतिपाद्य को सस्वर और मुखर बनाने के लिए दिनकर ने राजनीति और इतिहास से भी उपमान सकलित किये है—

वह मनुष्य मर गया,
शेष जो है, लक्ष्मी का नया जार है।[४]

आज के पूजीपति वर्ग की वस्तुवादी, और धनलोलुप प्रवृत्ति की साम्य-

---

१. नील कुसुम, पृष्ठ ५४
२. वही, पृष्ठ ५५
३. वही, पृष्ठ ६४
४. वही, पृष्ठ ६५

योजना के लिए इससे अधिक उपयुक्त उपमान क्या हो सकता था। मध्यकालीन इतिहास के खोखलेपन का दृष्टान्त प्रस्तुत करके आज की खोखली भौतिकवादी जीवन दृष्टि की पोल खोलने के लिए उन्होने मौलिक उपमानो को पुराने दृष्टान्त अलकार के माध्यम से व्यक्त किया है—

कहो कि जैसे उड़ीं कलंगियां,
जैसे उड़े जरी के जामे,
बेपनाह जिस तरह रहे उड़
राजाओं के मुकुट हवा में
उसी तरह ये नोट तुम्हारे
पापी उड़ जाने वाले है।[1]

किसी भी युग का भ्रष्टाचार और मिथ्याचार जनता की आखो मे बहुत दिनो तक धूल नही झोक सकता, कलगी, जामा और मुकुट मध्यकालीन मिथ्याचारो के प्रतीक है और 'नोट' आज के भ्रष्टाचार के।

अप्रस्तुत-योजना के विकास की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण स्थान उर्वशी की अप्रस्तुत-योजना का है। सादृश्यमूलक योजनाओ का प्रयोग अधिकतर वातावरण-निर्माण और रूप-चित्रण के लिए किया गया है। सादृश्य पर आधृत उपमा और रूपक ही यहा भी प्रचुरता से प्रयुक्त हुए है। उर्वशी के प्रारभ का आभापूर्ण रूमानी वातावरण अप्रस्तुतो द्वारा सयोजित आलकारिक चित्रो द्वारा निर्मित किया गया है—

खुली नीलिमा पर विकीर्ण तारे यों दीप रहे है,
चमक रहे हों नील चीर पर बूटे ज्यों चादी के,
या प्रशान्त निस्सीम जलधि में जैसे चरण-चरण पर
नील वारि को फोड़ ज्योति के द्वीप निकल आए हों।[2]

विस्तृत आधार-फलक पर चित्रित इन प्रतीकात्मक चित्रो की अलकरण सामग्री छायावादी संस्कारो से मिली है, परन्तु यहा ज्योत्स्ना की रेशमी स्निग्धता ने नीले वस्त्र का और तारो की बारीक झिलमिली ने चादी के बूटों का रूप ले लिया है। प्रथम दो पक्तियो की साम्य-योजना की आलोचना करते हुए एक आलोचक ने कहा है, द्वादशी की चांदनी मे तारो के बूटो की कल्पना गलत है। परन्तु ध्यान मे रखने की बात यह है कि यहा प्रस्तुत 'ज्योत्स्ना' नही 'नील गगन' है। चादनी रात की स्निग्धता की उपस्थिति से गगन की

---

१. नील कुसुम, पृष्ठ ६७
२. उर्वशी, पृ० ८

नीलिमा का पूर्ण निराकरण नही हो जाता, ज्योत्स्ना से दीप्त-नीलिमा में तारो के टके होने की कल्पना इस प्रकार अस्वाभाविक नही है। छायावादी कवियो ने तो आभापूर्ण कल्पना के मोहवश, चादनी रात मे झिलमिलाते हुए तारो और चाद के प्रतिबिम्ब की कल्पना भी साथ-साथ की है। तीसरी और चौथी पक्तियो की अप्रस्तुत-योजना भी वर्ण-साम्य पर आधृत है। इसी प्रकार के अनेक आल-कारिक दृश्य-विधान उर्वशी मे मिलते है।

उर्वशी की मणिकुट्टिम कला की बहुत प्रशसा हुई है। लेकिन अनेक स्थलो पर उर्वशी की अप्रस्तुत-योजना 'घनानन्द' की भावस्निग्ध-तरलता से दूर होकर बिहारी की विदग्धता और चमत्कार के निकट आ गई है। उर्वशी के पहले की कृतियो मे भाव और अलकारो का विधान सश्लिष्ट है, 'उर्वशी' के रूप-चित्रण मे अनेक स्थलो पर दिनकर की सौन्दर्य से अभिभूत दृष्टि मे चमत्कार का प्राधान्य हो गया है, उनकी दृष्टि प्रस्तुत पर कम और अप्रस्तुत पर अधिक टिक गई है। अप्सराओ का यह रूप-चित्रण मेरे कथन के प्रमाण रूप मे लिया जा सकता है—

> **अबर से ये कौन कनक-प्रतिमाएं उतर रही हे ?**
> **उड़ी आ रही टूट कुसुम वल्लिया कल्प-कानन से ?**
> **या देवो की वीणा की रागिनिया भटक गई है ?**
> **उतर रही है ये नूतन पंक्तिया किसी कविता की**
> **या वसन्त के सपनों की तस्वीरे घूम रही हे**
> **तारों भरे गगन मे फूलों भरी धरा के भ्रम से ?[1]**

सदेह और प्रश्न अलकारो के उस समन्वित नियोजन मे उपमानो का रूप अधिकतर परम्परागत है। कनक प्रतिमाओ का प्रयोग गौरागनाओ के लिए हुआ है। कुसुम वल्लिया उनके सौन्दर्य की कोमलता तथा देव वीणा की रागि-निया उनके माधुर्य की व्यंजना करती है। वसन्त के सपनो की तस्वीरो मे उन के यौवन का पूर्ण-विकास साकार है। परन्तु इन सभी सयोजनाओ मे चित्र अप्रस्तुत का ही बनता है, अप्सराओ का नही। पहले सा बुद्धि और भाव का पूर्ण तादात्म्य यहा नही मिलता। कला की कारीगरी पर हम चमत्कृत हो उठते हैं। उपमाओ की लड़ी यही नही समाप्त होती आगे बहुत दूर तक चलती रहती है। चादनी, कुसुमरेणु और किरणों का रग तथा आलोक लेकर इन अप्सराओ का रूप संवारा गया है।

उर्वशी के रूप-चित्रण मे प्रयुक्त सामग्री के एक-एक उपकरण की कान्ति

---

१. उर्वशी, पृष्ठ ६

और दीप्ति उर्वशी के नैसर्गिक और दैवी रूप-सौन्दर्य को साकार कर सकी है—ऐसा जान पडता है कि नैसर्गिक सौन्दर्य का चामत्कारिक प्रभाव दिनकर जान-बूझ कर लाये है और इसी अभीष्ट की सिद्धि के लिए उनकी दृष्टि वस्तु की अपेक्षा कला के उपकरणो पर अधिक टिकी है परन्तु 'उर्वशी' के आलकारिक चित्र मे सश्लिष्टता का अभाव नही है। प्रत्येक उपमान उसकी दीप्ति, कान्ति और नैसर्गिक सौन्दर्य के अकन मे अपना योग देता है—

प्रकटी जब उर्वशी चांदनी मे द्रुम की छाया से,
लगा सर्प के मुख से जैसे मणि बाहर निकली हो।
या कि स्वयं चांदनी स्वर्ण-प्रतिमा मे आन ढली हो
उतरी हो धर देह स्वप्न की विभा प्रमद उपवन की,
हिमकरण सिक्त कुसुम सम उज्ज्वल अंग-अग झलमल था
मानो अभी-अभी जल से निकला उत्फुल्ल कमल था।[1]

सभी उपमानो की चमक मे उर्वशी का अलौकिक रूप आविर्भूत होकर हमारी दृष्टि को चकाचौध कर देता है।

रूप-चित्रण से इतर साम्य-योजनाओ मे अलकार्य और अलकार मे आश्चर्य-जनक तादात्म्य मिलता है, उदाहरण के लिए—

गलती है हिम शिला सत्य है गठन देह की खोकर ;
पर, हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर।[2]

मातृत्व-गरिमा की इससे सफल अभिव्यक्ति और क्या हो सकती है ? बिहारी के दोहो के अर्थ-गर्भत्व की तरह युवती से माता बनने तक नारी की समस्त भावनात्मक तथा दैहिक परिवर्तनो की प्रक्रिया इन दो पक्तियो मे समा गई है। इसी प्रकार निम्नलिखित पक्तियो मे रति-विवश पुरुष के हृदय की सारी उद्विग्नता, विवशता और आकाक्षाये निहित है—

मै तुम्हारे बाण का बींधा हुआ खग,
वक्ष पर धर सीस मरना चाहता हू।
मै तुम्हारे हाथ का लीला-कमल हूं
प्राण के सर में उतरना चाहता हूं।[3]

रूपक-योजना के समान ही उर्वशी में प्रयुक्त कोमल सुकुमार उपमाये भी लाक्षणिक अर्थवत्ता से पूर्ण हैं, जैसे—

---

१. उर्वशी, पृष्ठ ३०
२. वही, पृष्ठ १६
३. वही, पृष्ठ ५४

(१) 'और अभी यह भाव, गोद मे पडी हुई जैसे युवती नारी नही, प्रार्थना की कोई कविता हू ।'

(२) 'कामनाये वर्तिका सी जल रही हैं ।'

(३) 'बुलबुलो सी फूटने लगती मधुर स्मृतिया हृदय मे'

(४) 'जाग उठी हू मै निद्रा से जगी हुई लतिका सी' ।

उर्वशी के सादृश्य-विधान मे प्रयुक्त अलकरण सामग्री अधिकतर परम्परागत है । आगिक-वर्णों के चित्रण मे चन्द्र, चादनी, स्वर्ण और चम्पक का रंग भरा गया है, स्वर्ण-यष्टि और तन्वगी स्वर्ण प्रतिमा शेख रगरेजिन की 'कनक छडी' की याद दिला देती है । इसी प्रकार कुन्द और जूही की कलियो के आकार और वर्ण की कल्पना से उर्वशी के दातो का सौन्दर्य निखारा गया है । 'नील कुसुम' के प्रति यथार्थवादी सामान्य जीवन से गृहीत उपमानो से लौट कर परम्परागत उपमानो के पुनग्रहण का एक ही कारण दिखाई पडता है । पहले कहा जा चुका है कि भावानुरूपता और विषयानुकूलता दिनकर की अभिव्यजना शैली का प्रथम मानदण्ड रहा है । जिस प्रकार भव्य अतीत और गम्भीर दार्शनिक विचारो की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने उर्वशी मे तत्सम शब्दों का प्रयाग बहुलता से किया, उसी प्रकार पौराणिक सौन्दर्य-भावना को रूपाकार देने के लिए वे परम्परागत उपमानो पर लौट आये ।

सादृश्यमूलक अप्रस्तुत-विधान के अतिरिक्त अलकारो के और भी रूप दिनकर के काव्य मे मिलते है जहा विरोध, अतिशयोक्ति और चमत्कार-नियोजन का प्रयास भी दिखाई पडता है । व्यग्य और आक्रोश की अभिव्यक्ति मे अनेक स्थलो पर व्याजनिन्दा अलकार का प्रयोग हुआ है, जैसे—

> महंगी आजादी की यह पहली सालगिरह,
> रहने दो बापू की अर्थी अब दूर नहीं ।
> और धूमधाम से नहीं मनाओगे क्या तुम
> कुछ ही वर्षों मे दशक चोर बाजारी का ?
> छल, छद्म, कपट का, राजनीति की तिकड़म का,
> क्रम क्रम से उत्सव इनका भी होना चाहिये ।[1]

इसी प्रकार—

> मंत्री के पावन पद की यह शान
> नहीं दीखता दोष कहीं शासन में ।

---

१. नीम के पत्ते, पृष्ठ १६

भूतपूर्व मन्त्री की यह पहिचान है,
कहता है सरकार बहुत पापी है।[1]

व्यतिरेक

किन्तु आपकी कीर्ति चाँदनी फीकी हो जायेगी
निष्कलंक विधु कहां दूसरा फिर वसुधा पायेगी।[2]

देवराज इन्द्र कर्ण की कीर्ति को निष्कलक चन्द्र कह कर उसे उपमान से श्रेष्ठतर रूप में स्थापित करते है।

पर्यायोक्ति अलंकार

जहा अभिप्रेतार्थ की अभिव्यक्ति प्रकारान्तर से की जाती है वहा यह अलंकार होता है। रश्मिरथी मे इसका प्रयोग बहुलता से हुआ है। एक उदाहरण यथेष्ट होगा—

एक बाज का पंख तोड़ कर, करना अभय अपर को,
सुर को शोभे भले, नीति यह नही शोभती नर को।
यह तो निहत शरभ पर चढ़ आखेटक पद पाना है,
जहर पिला मृगपति को उस पर पौरुष दिखलाना है।[3]

अपह्नुति अलंकार

१. भरी सभा में लाज द्रौपदी की न गई थी लूटी,
वह तो यही कराल आग थी निर्भय होकर फूटी।[4]
२. नहीं उर्वशी नारि नहीं, आभा है निखिल भुवन की;
रूप नहीं निष्कलुष कल्पना है स्रष्टा के मन की।[5]
३. और अभी यह भाव गोद में पड़ी हुई मै जैसे
युवती नारी नहीं, प्रार्थना की कोई कविता हूं।[6]

उल्लेख अलंकार

मरे हुओं की ग्लानि जीवितों को रस की ललकार,
दिल्ली, वीर-विहीन देश की गिरी हुई तलवार।

---

१. नये सुभाषित, पृष्ठ ४
२. रश्मिरथी, पृष्ठ ५३
३. रश्मिरथी, पृ० ६३
४. कुरुक्षेत्र, पृ० ४८
५. उर्वशी, पृ० २४
६. उर्वशी, पृ० ४८

बरबस लगी देश के होठों,
से यह लगी जहर की प्याली,
यह नागिनी स्वदेश हृदय पर
गरल उड़ेल लोटने वाली ।
प्रश्न चिह्न भारत का, भारत के बल की पहिचान,
दिल्ली राजपुरी भारत की भारत का अपमान ।[1]

व्यग्यपूर्ण प्रतिपाद्य मे उल्लेख अलकार के प्रयोग से उसकी प्रभावोत्पादकता बहुत बढ गई है । एक उदाहरण लीजिये—

आजादी खादी के कुरते की एक बटन,
आजादी टोपी एक नुकीली तनी हुई,
फैशन वालो के लिये नया फैशन निकला
मोटर मे बाधो तीन रग वाला चिथड़ा ।[2]

अतिशयोक्ति अलंकार

मेरे अश्रु ओस बन कर कल्पद्रुम पर छायेंगे,
पारिजात बन के प्रसून आहो से कुम्हलायेंगे ।[3]

तथा—

दृष्टि तुमने फेरी जिस ओर, गई खिल कमल पंक्ति अम्लान,
हिंस्र मानव के कर से स्रस्त शिथिल गिर गये धनुष और बाण ।[4]

दृष्टान्त अलंकार

दीपक के जलते प्राण दिवाली तभी सुहावन होती है,
रोशनी जगत को देने को अपनी अस्थियां जलाता चल ।[5]

प्रथम वाक्य को दूसरे के दृष्टान्त रूप मे प्रस्तुत करके उपमान द्वारा उपमेय की पुष्टि की गई है अत यहा दृष्टान्त अलकार है । इसी प्रकार उपमा और दृष्टान्त के इस सम्मिलित प्रयोग मे प्रणय की कोमलता और मातृत्व की गरिमा की मार्मिक और सबल व्यजना हुई है—

बाला रहती बंधी मृदुल धागों से शिरिष-सुमन के,
किन्तु अक मे तनय, पयस् के आते ही अचल मे,
वही शिरिष के तार रेशमी कड़िया बन जाते है ।[6]

१. दिल्ली, पृष्ठ १०
२. नीम के पत्ते, पृ० १७
३. उर्वशी, पृ० २५
४. रसवती, पृ० २७
५. नील कुसुम, पृ० ६०
६. उर्वशी, पृ० १२८

और कौन है जो तोड़ें झटके से इस बन्धन को ?
रेशम जितना ही कोमल, उतना ही दृढ़ होता है।

सादृश्यमूलक चित्रयोजनाओ की विवेचना करते हुए पहले दिनकर द्वारा प्रयुक्त मानवीकरण अलकारो का सकेत दिया जा चुका है। अन्य अलकारो की भाति उनके मानवीकरण मे भी विविधता और अनेकरूपता है। 'रेणुका', 'हुकार' और 'रश्मिरथी' मे वे अधिकतर परम्परा पर आधृत है जिसमे मध्यकालीन आलकारिक सज्जा और चमक-दमक प्रधान है। जैसे—

पहन मुक्ता के युग अवतंस,
रत्न गुम्फित खोले कच-जाल
बजाती मधुर - चरण - मंजीर
आ गई नभ में रजनी बाल।[1]

अथवा—

अम्बर पर मोती गुथे चिकुर फैला कर,
अजन उड़ेल सारे जग को नहला कर,
साड़ी में टांके हुए अनन्त सितारे,
थी घूम रही तिमिरांचल निशा पसारे।[2]

इस मूर्तीकरण के अतिरिक्त दिनकर ने प्रकृति का चेतनीकरण भी किया है। प्रकृति पर शृङ्गारिक चेतना और कार्यकलापो का एक उदाहरण है—

कम कर दी दूरता कौमुदी ने भू और गगन की
उठी हुई सी मही, व्योम कुछ झुका हुआ लगता है।[3]

रस-स्निग्ध भावनाओ के तीव्र आकर्षण से अभिभूत प्रेमीयुग्म के कायिक अनुभाव इन पक्तियों मे साकार है। झुके हुए व्योम और उठी हुई सी मही मे प्रणयाकांक्षा की अभिव्यक्ति की मुद्रा का स्वाभाविक चित्रण हुआ है तथा कौमुदी द्वारा भू और गगन की दूरता कम होने की कल्पना मे भावनात्मक प्रतिक्रियाओ के द्वारा स्त्री और पुरुष के बीच की टूटती हुई कडिया साकार हैं।

परिणीता स्वकीया की निष्ठा, पारिवारिक भावना तथा तद्जन्य पवित्र उल्लास का आरोपण भी प्रकृति पर किया गया है—

हिम स्नात सिक्त वल्लरी पुजारिन को देखो
पति को फूलों का नया हार पहनाती है,

---

१. हुकार, पृष्ठ ३
२. रश्मिरथी, पृष्ठ १००
३. उर्वशी, पृष्ट ६६

कुंजों में जनमा है कल कोई वृक्ष कहीं
वन की प्रसन्न विहगावलि सोहर गाती है।[१]

प्रथम तथा द्वितीय पक्तियो मे सिक्त कुन्तला, पति के चरणो मे पूर्ण रूप से समर्पित स्वकीया का स्निग्ध पवित्र चित्र है तथा दूसरी दो पंक्तियो मे पारिवारिक भावना का सामूहिक उल्लास सफलता के साथ चित्रित किया गया है।

कोमल भावनाओ और स्थितियो के मूर्तीकरण तथा चेतनीकरण के अतिरिक्त कुरुक्षेत्र और रश्मिरथी मे आए हुए युद्ध के भयानक और बीभत्स प्रसगो का मानवीकरण भी दिनकर ने किया है। सामान्यत शृङ्गार और भयानक विरोधी रस माने जाते हैं और उनके सह-विन्यास के प्रयास को रस-दोष के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है, परन्तु दिनकर बीभत्स और भयकर भावनाओ को वर की प्रतीक्षा मे निरत नववधू के रूप मे सजा कर वातावरण की विडम्बनापूर्ण विकृति को मूर्त रूप देने मे समर्थ हुए हैं—

अयि विजय ! रुधिर से क्लिन्न वसन है तेरा,
यम-दंष्ट्रा से क्या भिन्न दशन है तेरा ?
लपटों की झालर लटक रही अंचल में
है धुंआ ध्वंस का भरा कृष्ण कुन्तल मे।
ओ कुरुक्षेत्र की सर्वग्रासिनी व्याली
मुख पर से तो ले पोंछ लहू की लाली।[२]

नव वधू के गोटो से झिलमिलाते लाल जोडे के स्थान पर लपटो की झालर से झलमलाते रक्तरजित वस्त्रों की कल्पना से ही युद्ध की विभीषिकाओं का चित्र साकार हो उठता है। यम के से दात, ध्वस के धुयें से भरे हुए कुतल, ताम्बूल के रग के स्थान पर लहू से रगे हुए ओठो की कल्पना में विजयश्री का रूप ऐसा भयकर हो उठा है कि जान पड़ता है मानो शूर्पणखा बिना वेश परिवर्तित किए हुए राम के वरण की प्रतीक्षा मे निरत है।

इन सादृश्यमूलक अलकारों के अतिरिक्त, सन्देह, विशेषोक्ति, उत्तर, प्रश्न इत्यादि अलंकारो का प्रयोग भी यदा-कदा हुआ है।

वैषम्यमूलक अलकारो में दिनकर का प्रिय अलकार है विरोधाभास और विरोध। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

---

१. उर्वशी, पृ० १०२
२. कुरुक्षेत्र, पृ० ७१

जागो रसिक विराग लोक के, मधुवन के सन्यासी ।[1]

नींद है वह जागरण जब फूल खिलते हो ।[2]

मूक है प्रछन्न है सब से बड़ी आवाज ।[3]

समेटे अंक में ज्वालामुखी को, चादनी चुमकार कर बहला रही है ।[4]

दिनकर की अप्रस्तुत योजनाओ की अलकरण सामग्री विविध क्षेत्रो से जुटाई गई है । अभिव्यजना के अन्य तत्वो की ही भाति यहा भी उनकी दृष्टि विषय के अनुकूल उपमान सकलन पर ही केन्द्रित रही है । उन्होने यथावश्यकता प्रकृति और जीवन के विविध क्षेत्रो से उपमान ग्रहण करके उन्हे परम्पराभुक्त प्राचीन तथा परम्परामुक्त नवीन पद्धतियो से प्रयुक्त किया है । कुछ अपवादो को छोड कर उनके अलकार कविता के अतरग अग बन कर प्रयुक्त हुए हैं, भाव और भाषा-सज्जा के तादात्म्य मे वाह्य अलकरण का भेद मिट गया है और वे हर प्रकार के सवेदन को मूर्त और सवाक् बनाने मे समर्थ रहे है । लाक्षणिक उपमानो के स्पष्ट और स्वच्छ प्रयोग की सामर्थ्य से उनके काव्य मे चित्रमयता और स्पष्टता का सामजस्य हुआ है । यदि उनके अलकार-विधान को रामचन्द्र शुक्ल की कसौटी पर रखें तो यह कहा जा सकता है कि वे काव्य की रसार्द्रता, प्रभविष्णुता और प्रेषणीयता मे बहुत सहायक हुए हैं । अतिरजना अथवा चमत्कार के लिए उनका प्रयोग नही हुआ है । उनके सक्षिप्त और सश्लिष्ट रूपको की गम्भीर अर्थवत्ता पर बिहारी सम्बन्धी यह उक्ति पूर्णत चरितार्थ होती है—

'देखत में छोटे लगें घाव करें गम्भीर ।'

सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि दिनकर की अप्रस्तुत-योजना का वैशिष्ट्य भी अभिव्यक्ति की सफाई और ईमानदारी तथा अनुभूति की तीव्रता पर आश्रित है ।

दिनकर की छन्द-योजना

काव्य मे ध्वनि का विशेष क्रम निर्धारित करने से उसमे आह्लादक तत्वो और रमणीयता का समावेश होता है । छन्द के माधुर्य और स्वर-सयोजन के लिए कवि अपनी सौन्दर्य बोध वृत्ति का सचेतन उपयोग करता है । छन्द-रचना के लिए विशिष्ट नियमो का पालन करना आवश्यक है। ये नियम प्रत्येक भाषा

---

१. नील कुसुम, पृष्ठ २३

२. वही, पृष्ठ ४०

३. वही, पृष्ठ २१

४. उर्वशी, पृष्ठ ५२

की प्रकृति और उच्चारण-पद्धति के अनुसार अलग-अलग होते हैं। नियम का यह प्रयोग कवि चाहे सचेतन रूप से करता हो अथवा उनका स्फुरण स्वत: ही हो जाता हो, उनका योग छन्द के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। इस प्रकार छन्द-रचना के प्रति जागरूकता कवि-व्यापार का एक प्रमुख अंग सिद्ध होता है। इस चेतन प्रक्रिया के कारण ही छन्द को एक बाह्य सस्कार मात्र मान कर उसका विरोध किया जा रहा है ; परन्तु छन्द भी अभिव्यजना के अन्य तत्वो की तरह काव्य मे मनोभावो के चित्रण का प्रमुख साधन है। कविता और छन्द के सम्बन्ध के विषय मे श्री सुमित्रानन्दन पन्त की यह उक्तिया आदर्श मापदण्ड के रूप में स्वीकार की जा सकती हैं। "जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा के तट को सुरक्षित रखते है—जिनके बिना वह अपनी ही बन्धनहीनता मे अपना प्रवाह खो बैठती है, उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन, कम्पन तथा वेग प्रदान कर निर्जीव शब्दो के रोडो मे एक कोमल सजल कलरव भर उन्हे सजीव बना देते हैं। छन्दबद्ध शब्द चुम्बक की तरह अपने चारों ओर एक आकर्षण क्षेत्र तैयार कर लेते हैं, उनमें एक प्रकार का सामजस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता है, उनमे राग की विद्युत धारा बहने लगती है, तथा उनके स्पर्श मे एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।"[1]

छन्द की महत्ता के सम्बन्ध मे दिनकर की अपनी मान्यताए है। उनके अनुसार "छन्दों की महिमा सर्वविदित है। और अभी नो यह सोचा भी नही जा सकता कि छन्द किसी भी समय कविता से बिल्कुल बहिष्कृत हो जायेंगे। किन्तु, छन्दों के महत्व का एक कारण यह भी है कि कविता को अधिकाश जनता अब तक मनोरंजन का साधन मानती रही है। एक तरह की कविता रोमाटिक कहलाती है, वह अलग बात है। परन्तु, सभी कविताओ का अब तक एक रोमाटिक मूल्य भी रहा है और इस मूल्य के कारण भी छन्द आदरणीय रहे है। वर्डस्वर्थ ने कहा था कि छन्द आनन्द-वृद्धि का साधन है। छन्दो के कारण काव्य चेतना दैनिक जीवन के धरातल से जरा ऊपर उठ जाती है। छन्द विश्व से कवि की रागात्मक दूरी की भी वृद्धि करते हैं। गद्य में जो दिवा-जागरूकता है, छन्द उसे कम करके कविता मे अर्ध जागृति का वातावरण उत्पन्न करते हैं। छन्दो का गुण है कि वास्तविकता का वर्णन करने वाली कविता पर भी वे अवास्तविकता का किंचित् रग छिड़क देते हैं। परन्तु, साथ ही साथ उनका यह विचार भी है कि ज्यो-ज्यों मनुष्य रोमाटिक चेतना के रंगीन मोह

---

१. पल्लव, भूमिका, पृष्ठ ३०-३१—सुमित्रानन्दन पन्त

से निकलता जायेगा, त्यो-त्यो अच्छी बाते भी अनावश्यक होती जायेंगी। एक समय पत जी ने कहा था कि "तुक राग का हृदय है, जहा उसके प्राणो का स्पन्दन विशेष रूप से सुनाई पडता है।" दिनकर का अनुमान है कि राग जैसे-जैसे विचारो से उलझेगा, वैसे-वैसे ही उसके हृदय मे से तुक के पाव उखडते जायेगे। तुकें भावो की अभिव्यक्ति मे बाधा डालती हैं, इसके दो एक अनुभव प्रत्येक कवि को होगे। फिर भी, दो एक बातें ऐसी हैं जो छन्दो और तुको के पक्ष मे पडती हैं। छन्द पाठको के आकर्षण को शिथिल होने से बचाते हैं और छन्द का पूरा प्रभाव कविता के भीतर सुव्यवस्थित वातावरण का प्रभाव उत्पन्न करता है।

यह तो हुई भाव-प्रधान कविता में छन्द की सार्थकता और उपयोग की बात। काव्य के नये प्रतिपाद्यो और दृष्टिकोणो के लिए वे नये छन्दो की अनिवार्यता भी स्वीकार करते हैं। "कविता के नए माध्यम, यानी नए ढाचे और नये छन्द कविता की नवीनता के प्रमाण होते हैं। उनसे युग-मानस की जडता टूटती है, नई कविता की बदलती हुई तकनीक के भविष्य के प्रति दिनकर आशावान हैं। उनका विश्वास है कि "जिस युग मे हम जी रहे हैं उसका संगीत टूट गया है। इसका कारण यह है कि जैसे छन्दो मे काव्य-रचना का मैं अभ्यासी था वे छन्द अब मुझे अधूरे लगने लगे हैं। यदि मेरा आत्मविश्वास गलत या अतिरंजित नही है कि मेरे हृदय का चेतन-यन्त्र अभी काल के हृदय की धडकनो को पकड सकने में समर्थ है, तो मेरा अनुमान है कि जो छन्द सगीत को अपील करते है उनके द्वारा वर्तमान युग का टूटा हुआ संगीत पकडा नही जा सकता।"[1]

दिनकर की छंद-योजना के दो रूप हैं (१) परम्परागत छन्द-योजना, (२) नवीन छन्द-योजना। परम्परागत छन्दो मे उन्होने मात्रिक छन्दों का प्रयोग अधिक किया है। वर्णिक वृत्तों का प्रयोग कुरुक्षेत्र और रश्मिरथी के कुछ अंशों मे किया गया है, जिनमें मुख्य हैं कवित्त, घनाक्षरी और सवैयों के विविध रूप। इन वर्णिक छन्दो का प्रयोग अधिकतर ओज के उपयुक्त लय-निर्माण के लिए किया गया है। उनके द्वारा प्रयुक्त प्रमुख मात्रिक छन्द है गीतिका, सार, सरसी, हरिगीतिका, शृङ्गार, ताटंक, रोला, रूपमाला, रजनी, राधिका, वीर छन्द, पद्धरि, अरिल्ल। कही-कही पर दो अथवा उनसे अधिक छन्दों का मिश्रित प्रयोग भी हुआ है। छंदों के मिश्रित प्रयोग की दृष्टि से रसवन्ती के छन्दो का महत्वपूर्ण स्थान है। 'प्रीति' नामक कविता का छन्द उनका अपना बनाया हुआ है, जिसका विन्यास इस प्रकार है—

---

१. चक्रवाल, भूमिका, पृष्ठ ७०

प्रीति न अरुण सांझ के घन सखि !
पल भर चमक बिखर जाते जो
मना कनक गोधूलि लगन सखि !
प्रीति नील, गम्भीर गगन सखि !
चूम रहा जो विनत धरणि को
निज सुख में नित मूक मगन सखि ![1]

इन सभी प्रयोगो मे दिनकर की दृष्टि छन्दो की विषयानुरूपता पर केन्द्रित है। राग के रूप के अनुसार ही छन्दों की लय और गति परिवर्तित करने की सामर्थ्य उनमे है। परम्परागत छन्दो के प्रयोग ओज और शृंगार की रचनाओ मे मिलते हैं। जहा उनका राग विचार से उलझता है वहां वे तुक पर से अपना ध्यान हटा लेते है। विचार की अभिव्यक्ति के लिए वे छन्द आदर्श होते हैं जिनका विन्यास गद्य की ओर झुकता हुआ होता है। कुरुक्षेत्र के विचार-प्रधान स्थलो को इस कथन के प्रमाण रूप में लिया जा सकता है, निम्नलिखित पक्तियो मे विधान गीतिका छन्द का है लेकिन तुक का प्रतिबन्ध हटा देने के कारण, कथन की पूर्णता खण्डित नही होने पाती—पूरी बात समाप्त करने के बाद ही छन्द में विराम आता है :—

'औ युधिष्ठिर से कहा—तूफान देखा है कभी ?
किस तरह आता प्रलय का नाद वह करता हुआ,
काल सा वन में द्रुमों को तोड़ता झकझोरता,
और मूलोच्छेद कर भू पर सुलाता क्रोध से
उन सहस्रों पादपों को जो कि क्षीणाधार हैं,
रुग्ण शाखायें द्रुमों की हरहरा कर टूटतीं,
दूर गिरते शावकों के साथ नीड़ विहंग के,
अंग भर जाते वनानी के निहत तरु गुल्म से
छिन्न फूलों के दलों से पक्षियों की देह से ।[2]

कुरुक्षेत्र का आरम्भ भी अतुकान्त मुक्त छन्द से होता है जिसमें पंक्तियों का नियोजन कथन-भंगिमा की प्रभावात्मकता को दृष्टि मे रख कर ही किया गया है। 'नील कुसुम' की विचार-प्रधान रचनाओ मे उन्होने परम्परागत 'जड़ाऊ

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ २०
२. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १३

पोशाकों' को छोड कर आधुनिकता के उपयुक्त नये डिजाइन की 'बुशशर्ट' काटने का प्रयत्न किया है, 'सीपी और शंख' मे विविध अन्तर्राष्ट्रीय कवियो की रचनाओ का रूपान्तर करने के लिए, यही विधान सुविधाजनक होने के साथ ही साथ उपयुक्त भी था, इसलिये दिनकर के लिए इन नये छन्द-रूपो को अपनाना प्राय. अनिवार्य सा हो गया था। 'सीपी और शख' की अनूदित रचनाओ के पहले ही 'नील कुसुम' की उन रचनाओ मे जहा उनकी भावुकता बौद्धिकता के अनुशासन मे चली है, उनकी छद-योजना की भगिमा बदल गई है। हुकार और सामधेनी के गर्जमान तथा रसवन्ती की मधुर लययुक्त छन्द-योजना आज के बौद्धिक प्रतिपाद्य के अनुकूल नही रह गई हैं, यही सोच कर दिनकर ने 'शबनम की जजीर', 'नील कुसुम' तथा 'चाद और कवि' के छन्दो का प्रयोग किया। जिनमें चिन्तन की प्रक्रिया बाधित नही होती।

नये छन्दो के प्रति दिनकर आशावान हैं। उनका कहना है कि छन्दो के चरमराने या उनके टूटने से साहित्य मे जो कर्कशता का नाद छा रहा है, वह अपने मे चिंता का कोई बडा कारण नही हो सकता। 'चाद और कवि' मे दिनकर ने जिस छन्द का प्रयोग किया वह नवयुवको मे काफी प्रचलित हुआ। इसी कारण उनकी यह मान्यता बन गई कि 'अब वे ही छन्द कवियो के भीतर से नवीन अनुभूतियो को बाहर ला सकेंगे जिनमे संगीत कम, सुस्थिरता अधिक होगी, जो उड़ान की अपेक्षा चिन्तन के अधिक उपयुक्त होगे।......'हमारी मनोदशायें परिवर्तित हो रही है और इन मनोदशाओ की अभिव्यक्ति वे छन्द नही कर सकेंगे जो पहले से चले आ रहे है।[1]

'नये सुभाषित' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' मे सकलित विचार-प्रधान कवितायें अधिकतर तुक और छन्द से मुक्त है। लेकिन जब उनका प्रतिपाद्य बौद्धिक न रह भावनाप्रधान अथवा आक्रोशपूर्ण हो गया है, तब उन्होने पुराने छन्दों का ही प्रयोग किया है। 'उर्वशी' की छन्द-योजना के विषय मे भी यही बात कही जा सकती है। उसके विचार-प्रधान प्रतिपाद्य के लिए दिनकर ने अपेक्षाकृत बड़े छन्दों का प्रयोग किया है। भाव-संयुक्त स्थलो पर परम्परागत छन्द-योजना मे अनेक बार तुकों का निर्वाह नही किया गया है। छन्दो की लय में विषय के गाम्भीर्य को वहन करने की शक्ति है। तीसरे अंक मे अतुकान्त मुक्त छन्दों का प्रयोग हुआ है। कामायनी की मधुर मन्थर छन्द-योजना से उर्वशी की छन्द-योजना की तुलना करते हुए कहा जाता है कि वह शृङ्गार रस की कोमलता का प्रवहरण करने के उपयुक्त नही है। मेरे विचार से उर्वशी

१. चक्रवाल, पृष्ठ ६६

की छन्द-योजना की तुलना कामायनी के 'इडा' सर्ग की छन्द-योजना से ही की जा सकती है जहा भावनाओ का द्वन्द्व और सघर्ष व्यक्त हुआ है तथा बौद्धिक विचारो की अभिव्यक्ति को कुछ खुला क्षेत्र मिला है। 'लज्जा' और 'श्रद्धा' सर्ग के छोटे-छोटे छन्द भावनात्मक कोमलता और माधुर्य को व्यक्त करने मे बडे सफल हुए हैं इसमे कोई सन्देह नही, परन्तु 'उर्वशी' का कामदर्शन उन छन्दो मे अखण्डित व्यक्त हो पाता इसमे अवश्य सदेह है। छोटे-छोटे बौद्धिक अनुभव खण्डो को रूप देने के लिए भी तुको और छन्दो की मात्राओ को बाधक समझा जाता है फिर उर्वशी की अविच्छिन्न और दीर्घ चिन्तन-प्रक्रिया मे राग का स्पन्दन बुद्धि-सम्पुष्ट है। अतएव यह कल्पना करना गलत होगा कि श्रद्धा और लज्जा सर्ग मे प्रयुक्त 'कामायनी' के छन्द 'उर्वशी' के लिए अधिक उपयुक्त होते।

दिनकर की परम्परागत तथा नवीन दोनो ही प्रकार की छन्द-योजनाओ का सबसे विशिष्ट गुण है उनकी लयात्मकता तथा भावानुरूपता। उनकी परम्परागत छन्द-योजना आन्तरिक रागो और अनुभूतियो को स्पन्दन और प्राण देती है, तथा नई छन्द-योजना मे बौद्धिक चिन्तन को सुस्थिरता और दृढ़ता से व्यक्त करने की सामर्थ्य है।

दिनकर द्वारा प्रयुक्त काव्य के विभिन्न रूप

अभिव्यजना के अन्य तत्वो की भाति ही दिनकर द्वारा प्रयुक्त काव्य-रूपो की भी सर्वप्रधान विशेषता है भावानुरूपता अथवा विषयानुरूपता। 'रेणुका' से लेकर 'परशुराम की प्रतीक्षा' तक उनकी काव्य-चेतना में अनेक उतार-चढाव आये है, और उनके अनुरूप बाह्याकार निर्माण के लिए दिनकर ने जागरूक होकर परम्पराओ को अपने विषय के अनुरूप ढाला है और नये प्रयोग किये हैं। इस विषय मे उनका ध्यान सदैव इस तथ्य पर रहा है कि वह विषय के अनुरूप अभिव्यंजना तत्वो को एक सम्यक् और संश्लिष्ट ढांचो मे ढाल सके, जिसमे उनकी रचनाओ के प्रभाव को अन्वित और अभीष्ट रूप में ग्रहण किया जा सके।

उनकी कृतियो को रूपाकार देने मे दिनकर के व्यक्तित्व और परिवेश का भी महत्वपूर्ण योग रहा है। यह विशेषता केवल उनकी नही है। हर कवि अपनी रुचि और सुविधा के अनुसार अपनी कृति का रूप निर्माण करता है। बच्चन और दिनकर समयुगीन हैं, परन्तु एक की प्रतिभा गीतो के लय और संगीत में बंध कर विकसित हुई और दूसरे के ओजपूर्ण-आत्मद्रव गीतों में बंध कर भी पाठ्य रूप में ही अधिक प्रभावशाली हो सके हैं। जिस प्रकार बच्चन की

'मधुशाला' का रस स्वर मे बधे बिना आधा रह जाता है, उसी प्रकार दिनकर की ओजपूर्ण कविताओ को स्वरबद्ध करके गाने की कल्पना भी हास्यास्पद जान पडती है। इसीलिये मैंने कहा कि काव्य विधा के रूप-निर्धारण मे विषयानुरूपता के साथ ही साथ कवि के व्यक्तित्व की अनुरूपता का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है। और इस व्यक्तित्व के निर्माण के लिए उत्तरदायी था उनका युग और परिवेश, उनकी समष्टि चेतना, जिसे राग-रागिनियों के माधुर्य की नही सिंह-नाद और भैरव नाद की आवश्यकता थी।

दिनकर का युग अशाति, अव्यवस्था, अस्थिरता और क्रान्तियो का युग था जिसके प्रभाव से उस युग के कवियो के व्यक्तित्व मे भी जाने-अनजाने इन्ही विशेषताओं और गुणो का समावेश हो रहा था, यही कारण है कि इस युग की अधिकतर कृतियों का रूप निर्माण परम्पराओ का सशोधन-परिवर्धन करके, तथा रूढि-विरोधी प्रयोगो के द्वारा किया गया है। दिनकर मे यह प्रवृत्ति विशेष रूप से दिखाई देती है। उनका ओज और शौर्य गीतो के परिधान मे रूप-ग्रहण करने पर ही गेयता की अपेक्षा पाठ्यरूप मे अधिक प्रभावोत्पादक होता है, तथा प्रबन्ध मे आख्यान, पात्र, इतिहास और कल्पना कवि के विचारो और भावो के इंगित पर चलते है। दिनकर द्वारा प्रयुक्त मुक्तको की भी अपनी ही विशेषता है। उनकी काव्य-विधाओं की सामान्य रूप-रेखा इस प्रकार बनाई जा सकती है—
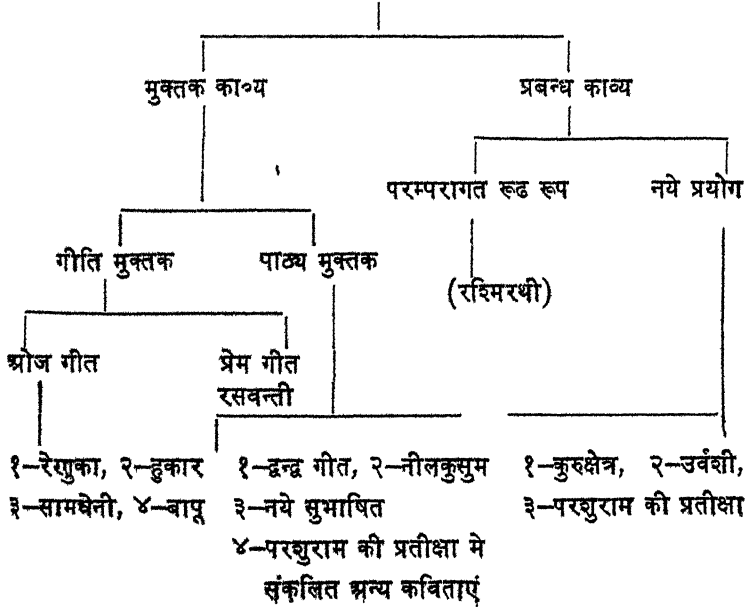
ओजगीत

इस वर्ग की रचनाओ मे सब से प्रथम द्रष्टव्य तथ्य यह है कि उनमे व्यक्त मूल प्रेरणा समष्टि-परक है। दिनकर से पहले की राष्ट्रीय कविताओ मे उपदेशात्मकता, उद्बोधन, त्याग और बलिदान का स्वर प्रधान था अथवा उस युग की राष्ट्रीय चेतना सस्कृति और इतिहास तथा पौराणिक आख्यानो के माध्यम से व्यक्त होती थी। प्रथम श्रेणी की रचनाओं मे गीति-काव्य के उपयुक्त उद्रेक, और द्रव नहीं था तथा दूसरे वर्ग की रचनाए प्रबन्ध के कलेवर मे लिखी जाती थी। दिनकर की राष्ट्रीय कविता मे ओज, आक्रोश और क्रान्ति का स्वर प्रधान था इसलिए उसमे वह उद्रेक और अतिरेक मिलता है, जो गीति-काव्य के उपयुक्त होता है। शृङ्गारपरक गीति-काव्य मे कोमल, मधुर सचारी भावो की आवेशमयी स्थितियो के मदोन्माद को कवि अपनी लेखनी मे बाध लेता है, परन्तु समष्टि-चेतना से प्रेरित होने पर उसका दृष्टिकोण अधिकतर बाह्यार्थ निरूपक वस्तुपरक और कालाश्रयी हो जाता है। दिनकर की रागमूलक समष्टि-चेतना के गीतो की विशेषता यही है कि उनमे कवि का प्रेरणा केन्द्र बाह्य जगत है, अन्तंवृत्तियो का निरूपण उसका ध्येय नही है फिर भी उनमे ओज से उद्दीप्त भावनाओ के तीव्र क्षणों की अभिव्यक्ति आत्मनिष्ठ रूप में हुई है। गीति-काव्य का प्राण-तत्व है आत्माभिव्यक्ति ; उसकी तीव्रता और प्रबलता पर ही गीति-काव्य की श्रेष्ठता निर्भर रहती है ; यह तीव्रता और प्रबलता दिनकर के ओज-गीतो मे भी उसी मात्रा मे विद्यमान है जितनी शृङ्गार-गीतों मे। बल्कि यह कहना अनुचित न होगा कि रसवन्ती की स्निग्ध रसार्द्रता मे माधुर्य और कोमलता तो है परन्तु उनके ओजगीतों की तीव्रता का अर्धांश भी उसमें नही है।

पहले कहा जा चुका है कि नया युग और परिवेश, काव्य-रूपों के निर्माण के लिए भी नई सम्भावनाए उपस्थित करता है, दिनकर के इन ओजगीतो के लिए भी यही बात कही जा सकती है। ये गीत मुक्तक और प्रबन्ध काव्य के समान विषय-प्रधान है परन्तु इनके प्रति कवि का दृष्टिकोण व्यक्तिपरक है, उनकी भावनाए व्यक्तिगत सीमाओं को तोड़ कर भी तीव्र सुख-दु:खात्मक हैं, कवि का व्यक्तित्व समष्टि मे लीन होकर उसके साथ एकात्म स्थापित करके एकनिष्ठ होकर बोलता है। 'रूप-भेद' के इस नए प्रयोग के बाह्य कारण हैं दिनकर का युग, समष्टि के प्रति उनका भावपरक, आवेश-प्रधान दृष्टिकोण और अनुभूति-विस्तार। इन्हीं तत्वों के कारण इन ओजगीतों मे आत्माभि-व्यंजन तत्व का प्राधान्य है, जिनमे कवि का अन्तर्जगत बाह्य परिस्थितियो और

उपकरणो को भेद कर पारदर्शिता के साथ व्यक्त हुआ है। समष्टिपरक प्रतिपाद्य मे वैयक्तिकता अधिकतर उपदेश और उद्‌बोधन का रूप धारण कर लेती है और उससे कविता के भावात्मक पक्ष की हानि होती है परन्तु इन ओज-गीतो में यह दोप नहीं आने पाया है तथा उसकी सार्वभौमता भी अक्षुण्ण रही है जिसके अभाव मे गीत काव्य नही वार्ता मात्र रह जाता है।

इन सभी ओजगीतो मे कल्पना और बुद्धि तत्व भावनाओ के सहायक रूप मे ही प्रयुक्त हुए है। जहा अनुभूतिया तीव्र और गहन होती है, प्राय: वहा अनेकरूपता नही होती। इन ओजगीतो के आलम्बन विविध प्रकार के हैं इस लिए इनमे एकरूपता और एकरसता का दोष तो नही आने पाया है, परन्तु दिनकर का मन उन्ही स्थलो पर रमा है जहा उन्होने क्रान्ति और विप्लव के गीत गाए हैं।

काव्यशास्त्रीय कसौटी पर इस प्रकार के गीतो को शुद्ध गीत की सज्ञा नही दी जा सकती क्योंकि समष्टिपरक वस्तुगत आलम्बन के कारण कवि की भावनाओं की प्रत्यक्षता अवरुद्ध हो गई है। यहा आत्माभिव्यजना शुद्ध न होकर मध्यान्तरित है पर तीव्र भावोद्रेक, भावो का ऐक्य और अन्विति उनमे विद्यमान है।

शृंगार गीत

शृङ्गार गीतों की एकमात्र प्रतिनिधि रचना है रसवन्ती। इसके अतिरिक्त रेणुका और नीलकुसुम मे भी कुछ शृङ्गारिक रचनाए सकलित है। गेयता, रसार्द्रता, कोमलता और स्निग्धता की दृष्टि से चाहे दिनकर के शृङ्गार गीतों को ओजगीतों की अपेक्षा शुद्ध गीत काव्य के अधिक निकट मान लिया जाए, परन्तु भावोद्रेक की दृष्टि से ओजगीतो का स्थान ही पहले आता है। बच्चन के प्रेम-गीतो का सा निर्बन्ध प्रवाह, अनवरुद्ध वैयक्तिकता, शुद्ध आत्माभिव्यजकता रसवन्ती के गीतों मे नही है। रसवन्ती में शृङ्गार की अभिव्यक्ति बडे संकोच और हिचक के साथ हुई है, उसमें शृङ्गार का वैयक्तिक पक्ष कम सामान्य स्तर अधिक है, इसी कारण रसवन्ती के शृङ्गार मे आत्माभिव्यजन का खुला अवकाश होते हुए भी यह तत्व अपने शुद्ध रूप मे नही मिलता, परन्तु रसवन्ती के कुछ गीत रसार्द्रता, स्निग्धता और गेयता की दृष्टि से बडे सुन्दर बन पड़े है। 'गीत अगीत कौन सुन्दर है', 'बालिका से वधू', 'सगिनि जी भर गा न सका मैं', 'सोच रहा कुछ गा न रहा मैं', इत्यादि रचनाए सफल गीतो के उदाहरण रूप मे ली जा सकती हैं। ओजगीतों मे आलंकारिक कल्पना का स्थान गौण था परन्तु इन गीतों की सुन्दर आलंकारिक योजनाएं भी उनकी अपनी विशिष्टता है। ओज-

गीत जहा गीत के कलेवर मे भी उन छन्दो मे लिखे गए है जो कविता-पाठ के अनुकूल पडते है वहा रसवन्ती के गीत कोमल मधुर पदावली और लयपूर्ण सगीतात्मकता मे बद्ध है। इन गीतो मे ऐसे छन्दो का प्रयोग किया गया है जो संगीत मे सरलता और उपयुक्तता के साथ बाधे जा सकें।

इस प्रकार ये दोनो ही प्रकार के गीत आत्माभिव्यजना, अनुभूति-वैशिष्ट्य और भावो के ऐक्य की दृष्टि से सफल माने जा सकते है। गीत-रचना के तीन सोपान माने गए हैं। प्रथम वह स्थिति है जहा कवि की प्रेरणा का बीजारोपण और उसके मनोवेगो का प्रकाशन होता है, द्वितीय स्थिति वह होती है जब भावोद्रेक अपनी चरम सीमा पर पहुच जाता है और कवि अपने मनोवेगो को विचार के साथ समन्वित करके उनके व्यक्तीकरण का उपयुक्त माध्यम ढूढता है, तृतीय स्थिति मे कवि की अन्तिम मनःस्थिति की अभिव्यंजना होती है, भाव और विचार एकात्म होकर गीत का निर्माण करते है। दिनकर के ओज और शृंगार दोनो ही प्रकार के गीतो मे इन तीनो स्थितियो की नियोजना क्रम से हुई है। प्रथम का प्रेरक तत्व है शिवत्व-प्रेरित ओज और द्वितीय का सौन्दर्य-प्रेरित शृ गार। इन दोनों ही प्रकार के प्रतिपाद्यो के प्रति कवि के मन की विविध प्रतिक्रियाओ को प्रक्रिया की द्वितीय स्थिति माना जा सकता है। परिणाम रूप मे भावो की अभीष्ट पूर्णता और समाहित प्रभाव-ऐक्य अधिकतर रचनाओं मे मिलता है—परन्तु जहा कवि वर्णन, विवेचन-विश्लेषण अथवा इतिहास लेखन के चक्कर मे फस गया है इस प्रभाव की अखण्डता की रक्षा नही हो सकी है।

मुक्तक विधा

मुक्तक, निर्बन्ध काव्य का दूसरा रूप है जिसका प्रयोग दिनकर ने बौद्धिक, व्यग्यपूर्ण और चमत्कार-प्रधान रचनाओ मे किया है। यों तो गीति-काव्य और मुक्तक मे काफी समानता दिखाई देती है, परन्तु, दोनो की आत्मा में एक मौलिक अन्तर होता है जिसके कारण उसके कलेवर में भी अन्तर आ जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र की मान्यताओ के अनुसार मुक्तक उस काव्य को कहते है जो पूर्वापर सम्बन्ध से रहित होता है। मुक्तक काव्य मे विभाव अनुभावादिक से पुष्ट रस-परिपाक इतना पूर्ण होना चाहिए कि पाठक को अपनी रसवृत्ति के लिए पूर्वापर का सहारा न ढूंढना पडे।

गीति-काव्य की तरह मुक्तक मे भावाभिव्यक्ति का सहज उद्रेक नही मिलता। मुक्तक लिखते समय कवि की कला-चेतना गीतकार की अपेक्षा अधिक जागरूक तथा उसकी दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक वस्तुपरक होती है। गीतिकाव्य

के समान मुक्तक मे विषयवस्तु और अभिव्यजना की एकतानता नही रहती। उसमे कवि को बाह्य स्वरूप की रचना के प्रति भी जागरूक रहना पडता है। रागात्मक आवेश और आत्मनिष्ठता वहा गीतिकाव्य के समान नही होती। मुक्तक के रस-परिपाक के चमत्कार का भी काफी महत्वपूर्ण योग रहता है। उक्ति-विदग्धता और चमत्कार को भी मुक्तक काव्य की विशेपता माना जाता है। फलत' रचना-कौशल उसमें प्रमुख तत्व बन जाता है। इस प्रकार मुक्तक रचना की प्रक्रिया गीत सृजन प्रक्रिया से भिन्न होती है। उसमे कलात्मक तथा बौद्धिक तत्व प्रधान हो जाता है। बुद्धि और अनुभूति मे एकात्म यहा अनिवार्य नही होता, दोनो का अस्तित्व अलग बना रहता है। भावो की छटा अलग दिखाई देती है और कला विदग्धता अलग। यही कारण है कि आचार्य शुक्ल ने मुक्तक काव्य का विवेचन करते हुए कहा है कि मुक्तक मे रस के छीटे पड़ते है जिनसे हृदय-कलिका थोडी देर के लिए खिल उठती है। लेकिन, साथ ही साथ उन्होने उनकी स्वतन्त्र रस-व्यजक शक्ति का भी संकेत करते हुए इस विधा की अनेक प्रकार से प्रशंसा की है। उनके शब्दो मे, 'यदि प्रबन्ध काव्य वनस्थली है तो मुक्तक काव्य एक चुना हुआ गुलदस्ता।' इसके अतिरिक्त छन्द-विधान का कौशल भी मुक्तककार के लिए अत्यन्त आवश्यक है। गीतों मे छन्दो का प्रयोग अधिकतर चरम भावावेश की स्थिति के अनुकूल लय-निर्माण के लिए किया जाता है तथा एक बार उसे अमान्य भी किया जा सकता है, उसकी उपेक्षा भी की जा सकती है, परन्तु मुक्तक में छंद निर्वाह सयत्न होता है। छन्दो के प्रयोग मे एक-एक मात्रा का ध्यान रखना पड़ता है क्योकि मुक्तक तो छन्द की इकाई मात्र है। गीति-काव्य की भाति आद्यन्त एक ही अनुभूति के अनुस्यूत होने के कारण आन्तरिक भावान्विति का होना आवश्यक नही है। मुक्तक काव्य की सबसे बड़ी सफलता इस तथ्य पर निर्भर करती है कि अर्थ की सक्षिप्तता, रस-परिपाक अथवा अर्थ-सौरस्य के लिए वह बन्धन न बन जाए।

दिनकर ने मुक्तक की विधा प्रायः उन स्थलों पर ग्रहण की है जब उनके प्रतिपाद्य का रूप बौद्धिक और विचारात्मक रहा है और जब उनका व्यक्तीकरण पौराणिक आख्यानो और पात्रो के माध्यम से नहीं हुआ। रचनाक्रम की दृष्टि से इस वर्ग की प्रथम कृति है द्वन्द्व गीत जिसमे कवि की दार्शनिक रुबाइया सकलित हैं। मुक्तक रचना की विभिन्न कसौटियो पर ये रुबाइया पूरी उतरती हैं। इन चतुष्पदियों मे भाव-गाम्भीर्य और उक्ति-वैदग्ध्य का अपूर्व सामजस्य मिलता है। नील कुसुम की कविताओं की विधा भी मुक्तक के ही अधिक निकट है (परम्परावादी शब्द प्रयोग के लिए क्षमा प्रार्थना है) उनमे गीति-काव्य की

सी भावान्विति नही है अगर अन्विति कही है भी तो वह बौद्धिक स्तर पर है। वास्तव मे नील कुसुम की अनेक विचार-प्रधान कवितायें गीति मुक्तक अथवा प्रबन्ध की परम्परागत विधा के अन्तर्गत नही रखी जा सकती, परन्तु उनमे व्यक्त बौद्धिक दृष्टिकोण उक्ति-विदग्धता, कला-चेतना तथा पूर्वापर सम्बन्ध से रहितता वे तत्व है जिनके कारण वे सबसे अधिक मुक्तक के निकट ही ठहराई जा सकती है। द्वन्द्व गीत के मुक्तको में जहा भावगाम्भीर्य चलती हुई सहज भाषा-शैली मे सुगुम्फित है, वहा नील कुसुम का बौद्धिक प्रतिपाद्य मजी हुई भाषा और प्रौढ अभिव्यजना शैली के सहारे व्यक्त हुआ है। उनमे बौद्धिक चमत्कार और उक्ति-वैदग्ध्य का सयोग है। परन्तु उनका रूप कृत्रिम नही होने पाया है। भावानुरूप शब्दावली, तथा शब्द-शक्तियो की पहचान और उनके प्रयोग की सामर्थ्य के कारण नील कुसुम की रचनाओ मे एक मादक विदग्धता है, न ये मुक्तक रूढिबद्ध हैं और न केवल बुद्धिजन्य उनका सम्बन्ध हृदय से भी है और बुद्धि से भी। इन रचनाओं का बौद्धिक और चमत्कार तत्व हृदय की वाणी का अनुसरण करता है, इस लिये हृदय पर उनका स्थायी और गम्भीर प्रभाव पडता है। सक्षिप्तता और सारगर्भिता की दृष्टि से नये सुभाषित के मुक्तक बड़े सफल बन पड़े है। आचार्य शुक्ल के शब्द "मुक्तक में रस के छीटे पड़ते है" इन सुभाषितों पर पूर्णरूप से लागू होते है। उनमें स्फुरित व्यंग्य और हास्य के इन छीटो मे गम्भीरता और विदग्धता का कुशल सामजस्य है।

मुक्तक के इन नए रूपों के अतिरिक्त इस विधा का परम्परागत रूप कुरुक्षेत्र के कवित्तो मे मिलता है। विशिष्टता की दृष्टि से जिसकी अधिक महत्ता नहीं है। वास्तव मे कुरुक्षेत्र की रचना पहले मुक्तकों द्वारा ही हुई थी बाद में उसको भव्यता और गरिमा प्रदान करने के लिए उसे प्रबन्ध का रूप दिया गया।

दिनकर के प्रबन्ध काव्य

दिनकर के प्रबन्ध काव्यों के दो प्रमुख भेद हैं। प्रथम, परम्परागत प्रबन्ध-काव्य जिसमे मैथिलीशरण गुप्त की प्रबन्ध-परम्परा का अनुसरण किया गया है। इसमे कथानक-चयन, वस्तु-विन्यास, चरित्र-चित्रण, देशकाल, उद्देश्य, इत्यादि तत्वो का निर्वाह पुरानी शैली से ही हुआ है। इस परम्परा का एकमात्र प्रतिनिधि काव्य है रश्मिरथी। द्वितीय कोटि के प्रबन्ध काव्यों को विचार-प्रधान काव्य की संज्ञा दी जा सकती है जिसमें कृति का केन्द्र-बिन्दु कोई न कोई समस्या है और उसके विकास तथा उद्घाटन के लिए कार्य-व्यापार की योजना तथा पात्रों की गतिविधियों का निर्धारण किया गया है।

रश्मिरथी में परम्परा के अनुसरण की बात को कवि ने स्वय स्वीकार किया है—बात यह है कि कुरुक्षेत्र की रचना कर लेने के बाद ही मुझमे यह भाव जागा कि मैं कोई ऐसा काव्य लिखू जिसमे केवल विचारोत्तेजकता ही नही कुछ कथा, सम्वाद और वर्णन का भी माहात्म्य हो। स्पष्ट ही यह उस मोह का उद्गार था जो मेरे भीतर उस परम्परा के प्रति मौजूद रहा है जिसके सर्व-श्रेष्ठ प्रतिनिधि राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त है।

रश्मिरथी में परम्परागत महाकाव्य के सब अनुबन्धो की पूर्ति हुई है। उसके कथानक मे पूर्वापर सम्बन्धो की स्थिति सदैव बनी हुई है कथा की पृष्ठ-भूमि निर्माण के लिए देश-काल का चित्रण और प्रकृति-वर्णन भी है, तथा उसमे कवि एक लक्ष्य की पूर्ति का उद्देश्य अपने सामने रख कर नायक के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं को सर्गों मे अनुस्यूत करके चला है। महाकाव्य के लिए जिस विस्तृत आयाम की कल्पना की जाती है उसका प्रयोग रश्मिरथी में सम्भव नही था। रश्मिरथी के कथानक का आधार ग्रंथ है महा-भारत, जिसके समस्त आख्यानो को कल्पना की सीमाओ में बाध लेना किसी भी कवि के लिए सम्भव नही हो सकता। दिनकर ने भी महाभारत मे सकलित कर्ण सम्बन्धी आख्यानो के आधार पर ही इस काव्य की रचना की है। आख्यान सम्बन्धी इसी परिसीमा के कारण रश्मिरथी के वस्तु-विन्यास मे आरम्भ, मध्य, चरम सीमा और निगति जैसी स्थितिया नही बनाई जा सकती। उसमे एक मुख्य वस्तु है और उस मुख्य वस्तु को विकास देने वाली अनेक उपवस्तुयें है जो कही-कहीं कथानक की पूर्णता लिए हुए हैं और कही घटनाएं मात्र बन कर रह गई है। प्रायः सभी घटनाएं वे ही हैं जो कर्ण के चरित्र को उभार देती हैं। वे ही सब घटनाओं का केन्द्र-बिन्दु हैं, रश्मिरथी के सातो सर्गों की रेखाए उसी बिन्दु पर मिल कर उसके व्यक्तित्व का निर्माण करती है। प्रथम सर्ग मे उसके उज्ज्वल शौर्य और असाधारण प्रतिभा का परिचय मिलता है। द्वितीय मे उसकी साधना और तपस्या की शक्ति और धैर्य का, तृतीय मे उसका दृढ राजनीतिज्ञ का रूप हमारे सामने आता है, चतुर्थ सर्ग मे उसकी दानवीरता, पचम में कर्तव्यनिष्ठा, छठे मे शौर्य और पराक्रम तथा सातवे सर्ग में उसके गौरवपूर्ण अन्त का चित्रण है, इस प्रकार रश्मिरथी को चरित्र-प्रधान अथवा व्यक्तिनिष्ठ महाकाव्य कहा जा सकता है। परन्तु इसमे कवि ने न तो महाभारत के कर्ण को अपने शब्दो मे पुनर्निर्मित मात्र कर दिया है और न उसी की कथा को दुहराना उसका ध्येय रहा है। कर्ण का निर्माण दिनकर ने अपनी मान्यताओं के आदर्श मानव के रूप में किया है। जिसमे शौर्य और विनय, देह-बल और हृदय-

बल का सामंजस्य प्रस्तुत किया है, अन्य पात्रों के निर्माण में भी अनेक मौलिक स्पर्श दिए गए हैं। अधिकतर कवि का यह प्रयास रहा है कि वह कर्ण के सिर से अधर्म की ओर से लड़ने का कलंक धो दे।

कुन्ती के आसू और उसके मन की व्यथा को भी कवि सहानुभूतिपूर्ण दयार्द्र दृष्टि से देख सका है। कर्ण के उदात्त गुणों के द्वारा जीवन के उच्चतर मूल्यों की स्थापना हुई है, साथ ही साथ आज के युग की एक ज्वलन्त समस्या (वर्ण-व्यवस्था से उत्पन्न विकृतियों की समस्या) पर कवि ने उदारतापूर्वक प्रकाश डाला है। रश्मिरथी को मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-परम्परा का गौरवपूर्ण अवशेष कहा जा सकता है।

दिनकर द्वारा रचित दूसरे वर्ग की प्रबन्ध कृतिया है कुरुक्षेत्र, उर्वशी और परशुराम की प्रतीक्षा। ये तीनों ही कृतिया वर्तमान युग की किसी न किसी समस्या की प्रेरणा से लिखी गई हैं। प्रथम दो कृतियों मे समस्या का रूप सार्वभौम है और तीसरी का देशीय और राष्ट्रीय। तीनों मे ही ऐतिहासिक पात्रों और घटनाओं का अनुपात किसी न किसी रूप मे विद्यमान है। परन्तु ये दोनो ही तत्व कवि की विचारधारा के वाहक मात्र है और इनका उपयोग सम्बद्ध समस्या की उपस्थापना और विकास के लिए ही किया गया है।

कुरुक्षेत्र को सर्गबद्ध प्रबन्ध का रूप दिया गया है इसलिए उसमे कवि को अपनी ओर से भी बोलने का अधिकार और अवकाश है। प्रथम सर्ग मे कवि स्वयं समस्या की स्थापना करता है, पंचम सर्ग तक, कभी युधिष्ठिर कभी भीष्म और कभी स्वयं कवि के द्वारा प्रश्न के विविध और परस्पर विरोधी पहलुओं का व्याख्यान और विश्लेषण हुआ है। परम्परावादी प्रबन्ध-काव्यों की तरह यहां कथा का विकास अथवा चरित्र-चित्रण कवि का ध्येय नही रहा है। केवल विचारसूत्र को आगे बढ़ाने के लिए ही विभिन्न सर्गों की योजना हुई है। छठे सर्ग मे कवि द्वापर, युधिष्ठिर और भीष्म को छोड़कर बीसवी शती में आकर वर्तमान युग की समस्याओ का स्वयं आख्यान करता है। सप्तम सर्ग में उस जीवन-दृष्टि की स्थापना होती है, जहां वह युद्ध के समाधान की सम्भावनाएं देखता है। कुरुक्षेत्र के प्रबन्ध-विधान का यह विकास निम्नांकित रेखाओं द्वारा समझा जा सकता है। रेखाओं पर दिए गए अंक सर्ग-संख्या का सकेत करते हैं।

कुरुक्षेत्र का प्रबन्ध-विधान
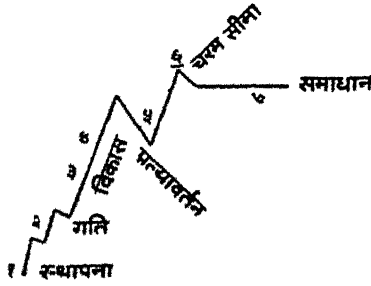
कुरुक्षेत्र को प्राय: प्रबन्ध काव्य के परम्परागत तत्वो की कसौटी पर चढा कर उसे उस दृष्टि से असफल सिद्ध कर दिया जाता है। इसे अनेक नाम दिए गए है। अनेक आलोचको ने इसे महाकाव्य माना है, दूसरो ने खण्डकाव्य। केवल डा० नगेन्द्र ने उसे विचार-प्रधान प्रबन्ध कविता का नाम दिया है। प्रतिपाद्य के इस रूप को ध्यान मे रखते हुए कुरुक्षेत्र का पुराने मापदण्डो पर मूल्याकन ठीक नही जान पड़ता। यह बात मेरे मस्तिष्क में इसलिए प्रधान है कि अधिकतर परीक्षार्थियो के सामने प्रश्न रख दिए जाते है, 'कुरुक्षेत्र मे ऐतिहासिक और काल्पनिक तत्वो का विश्लेषरण कीजिए'। कुरुक्षेत्र मे उन्हीं ऐतिहासिक तत्वो का महत्व है जिनका कवि के विचारसूत्र मे कुछ स्थान प्राप्त है। महाभारत मे भीष्म कृत राजन्त्रविहीन समाज और ध्वसीकरण की नीति के साथ तो कुरुक्षेत्र के विचार की तुलना हो सकती है, परन्तु दिनकर के युधिष्ठिर और भीष्म के साथ महाभारत के पात्रो तथा कुरुक्षेत्र मे आई हुई घटनाओं की महाभारत की घटनाओं से तुलना मेरे विचार से अनावश्यक और निरर्थक है। कुरुक्षेत्र के 'अगीरस' के प्रश्न पर भी उसकी समस्या-प्रधानता के कारण एक प्रश्नचिह्न सामने आ जाता है। अगीरस के मुख्य प्रतिबन्ध ये है :

१. अंगीरस की निरन्तर व्याप्ति आवश्यक है।
२. अंगीरस को कृति के मूल प्रभाव का व्यजक होना चाहिए।
३. प्रधान पात्र मे उसका प्राधान्य होना चाहिए।
४. उसी के माध्यम से कृति के उद्देश्य की व्यंजना होनी चाहिए।

कुरुक्षेत्र में एक समस्या के दो पहलू एक साथ चलते है और प्राय. एक ही पात्र के द्वारा उसका विकास होता है। युधिष्ठिर की ग्लानि का उसमे कोई स्थान नहीं है क्योकि वह तो केवल द्वन्द्व की अभिव्यक्ति करती है। 'कुरुक्षेत्र' में शौर्य और क्षमा, ओज और करुणा के जिस समन्वय का स्वर प्रधान है

उसका रूप द्विविध है और इन दोनों ही पक्षो का विवेचन भीष्म करते है। छठे तथा सातवे सर्ग में जिस मानवतावादी, कर्मयोग की स्थापना हुई है उसे शौर्य के अन्तर्गत रखा जाएगा अथवा करुणा के ? मेरे विचार से कुरुक्षेत्र के मूल प्रभाव की व्यंजना, किसी रस की निरन्तर व्याप्ति, उद्देश्य इत्यादि का उत्तर देने के लिए हमे एक नई दृष्टि से विचार करना होगा और परम्परागत रस-विधान के चौखटे से बाहर निकलना होगा, क्योंकि यहा कवि का राग बुद्धि-सम्पुष्ट है, उसके सामने एक समस्या है, जिस पर विचार करते समय रस-निष्पत्ति की निमग्नता और तल्लीनता नही आ सकती, उससे प्राप्त आनन्द बौद्धिक आनन्द है जिससे मस्तिष्क की ग्रन्थिया पहले खुलती है हृदय उनका अनुसरण करता है।

उर्वशी का प्रबन्ध-विधान

प्रतिपाद्य के विरोधी सूत्रों के समान ही उर्वशी के रूप-विधान मे भी कई विरोधी तत्व आपस मे उलझ गए है। उर्वशी के कवि के सामने विधा-सम्बन्धी तीन उद्देश्य है: (१) उर्वशी और पुरुरवा की कहानी को आद्यत प्रस्तुत करना, (२) कृति के विचार तत्व का दार्शनिक व्याख्यान करना, (३) कृति मे अभिनेयता का समावेश करना। इस प्रकार कवि को विधान सम्बन्धी तीन तत्वों का निर्वाह करना है। उर्वशी नाटक भी है और कविता भी। नाटकीय विधान में नियोजित प्रबन्ध तत्व की अपनी परिसीमाएं होती है। कवि अथवा नाटककार के प्रत्यक्ष वक्तव्य के लिए उसमे अवकाश नही होता, पात्रो के सम्वाद और कार्य-व्यापार ही विचारों और भावनाओं के व्यंजक होते है। उर्वशी की विधा की इस परिसीमा के कारण कही-कही अस्वाभाविकता अनिवार्य हो गई है। उदाहरण के लिए प्रथम अंक मे अप्सराओ के अवतरण द्वारा वातावरण तो खूब सुसज्जित और आकर्षक हो गया है। मजीर, शिंजिनी, कंकण और नूपुर की मिश्रित ध्वनियों से एक आह्लादक वातावरण की सृष्टि हुई है किन्तु प्रेम के विभिन्न पक्षों का जो विचारपूर्ण उद्घाटन उनके द्वारा कराया गया है वह अनेक स्थलो पर उनके व्यक्तित्व के अनुरूप नहीं बैठता। कहानी भी वर्णित होती है घटित नहीं, इस प्रकार नाटक की दृष्टि से उर्वशी का कार्य-व्यापार शिथिल पड़ता है और प्रबन्धत्व की दृष्टि से पात्रों के विचार उनके व्यक्तित्व से अलग पड़ते हैं। अप्सराओं का वह वार्तालाप सखी-सहेलियो की गोष्ठी के समान है, पर उसमें विवेचित विषय साहित्यिक गोष्ठियों की गरिमा लिए हैं। अगर दिनकर को अपनी ओर से कुछ कहने का अवकाश और अवसर होता तो वातावरण विषय के अनुकूल गम्भीर हो सकता था, परन्तु तब उस सज्जा

और शृङ्गार का नियोजन कैसे होता जिससे परदा खुलते ही दर्शकों की आखें चकाचौंध हो जाती है। उर्वशी के प्रबन्ध की एक निश्चित योजना है। प्रथम और द्वितीय अंक का वस्तु-विधान कहानी और आदर्शवादी सूत्र को लेकर चलता है वही समस्या की स्थापना होती है और उसे गति प्राप्त होती है। तीसरे अंक मे कहानी अवरुद्ध हो जाती है, उसमे एक ही घटना है—उर्वशी और पुरुरवा का मिलन। चतुर्थ अक मे कथासूत्र आगे बढ़ता है तथा पांचवे मे जाकर स्थिति चरमसीमा पर पहुच कर निगति की ओर झुकती है। उर्वशी के प्रबन्ध-विधान को निम्नाकित रेखाओ में स्पष्ट किया जा सकता है :

उर्वशी का प्रबन्ध-विधान
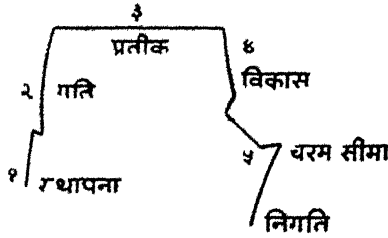
प्रथम तथा द्वितीय अकों के कहानी-सूत्र की एक क्षीण रेखा तृतीय अंक मे शेष रह जाती है, जो सार्वभौम पृष्ठभूमि की व्यापकता के ऊपर से कंगूरा बनाती हुई चतुर्थ अंक में फिर उभरती है और पाचवे अक मे समाधान का संकेत करती हुई औशीनरी की आंसू भरी शक्ति मे विलीन हो जाती है। तृतीय अक के विचारात्मक तत्व के लिए भी नाटक की विधा न तो अभिनेयता की दृष्टि से उपयुक्त है और न विचार-सप्रेषण की दृष्टि से ; विचार-प्रधान कविता (Reflective Poetry) के लिए तो खुला अवकाश और वातावरण चाहिये, सम्वाद और अभिनेयता-प्रधान विधा मे उसका क्षेत्र सीमित हो जाता है। उसके पख बध जाते हैं। नृत्य-सगीत और काव्य-रूपक के संयुक्त विधान मे तीसरे अंक की अभिनेयता का निर्वाह उसको रंगमच की दृष्टि से सम्पादित किये बिना नहीं किया जा सकता। उर्वशी के काव्य-रूप को भी एक नया प्रयोग ही माना जायेगा जिसमे कवि ने आख्यान और दर्शन को प्रतीक, प्रबन्ध और दृश्यता के माध्यम से व्यक्त करना चाहा है, इस प्रकार के प्रयोगों की सीमा में भी यह काव्य-रूप आकर्षक और सफल बन पडा है।

परशुराम की प्रतीक्षा में प्रबन्धात्मकता नाममात्र की है। उसकी प्रेरणा के मूल में भी एक समस्या है जिसका रूप पूर्णतः राष्ट्रीय है। नेफा की पराजय

का कलंक धोने के लिए कवि ने परशुराम का आह्वान उनसे सम्बद्ध पौराणिक कथा को प्रतीक रूप मे प्रयुक्त करके किया है। सम्पूर्ण कविता पाच खण्डों में विभाजित है और हर खण्ड मे समस्या पर अलग-अलग पहलू से विचार किया गया है। इस कविता की विधा को भी कोई परम्परागत नाम नही दिया जा सकता। उसमे ओजगीतो के समान भावो की एकतानता है, विचारात्मक कविता का विवेचन-विश्लेषण तथा विचारो का क्रमिक विकास है। एक प्रमुख घटना का क्षीण सूत्र भी उसमें आरम्भ से अन्त तक विद्यमान है। अभिव्यजना के अन्य तत्वों की भाति काव्य-रूपो के क्षेत्र में भी दिनकर अपने भावों और विचारों के उचित और सम्यक् प्रवहरण के लिए मनचाहा प्रयोग करते हैं।

जिस प्रकार छायावादी परवर्ती कविता किसी पैटर्न के आधार पर नही चली, हर कवि की प्रतिक्रियाओं ने ही उसके प्रतिपाद्य का रूप निर्धारित किया, उसी प्रकार उस युग के कवि ने अपनी शैली का निर्माण भी अपनी रुचि और पसन्द के अनुसार किया। छायावाद के शीर्षस्थ कवि चतुष्टय की रचनाओ मे भाषा, विचार, कल्पना और अभिव्यंजना के अन्य तत्वों का विकास एक सामान्य धरातल पर हुआ है, वैभिन्न्य केवल व्यक्ति-वैशिष्ट्यजन्य है, परन्तु छायावाद परवर्ती कवित्रयी दिनकर, बच्चन और नरेन्द्र की भावभूमि और शैली दोनो ही पहले उनकी अपनी हैं, उसके बाद उन्हे किसी सामान्य प्रवृत्ति के अन्तर्गत रखा जा सकता है। एक ही परिवेश और युगीन पृष्ठभूमि मे पल्लवित इन तीनो कवियो का काव्य तथा शैलीगत वैभिन्न्य उस युग के युवको में उमडते हुए विद्रोह, तथा सामान्य से विशिष्ट, और वर्ग मे व्यक्ति की ओर उन्मुख होती हुई प्रवृत्तियो का द्योतक है। और शायद इसी वैभिन्न्य के कारण छायावाद परवर्ती काव्य को पृथक् नाम और मान्यता नही दी गई है। जब प्रगतिवाद के बंधे बधाये मापदंडो की बाढ़ आई तो दिनकर को भी उसी के साथ बांध दिया गया। नरेन्द्र, अंचल और भगवती बाबू के यथार्थवादी दृष्टिकोण को भी उसमें स्थान मिल गया, एक, अकेले बच्चन रह गये जिनकी रचनाओं को किसी भी तरह, खीच-तान कर भी प्रगतिवाद के अन्तर्गत नही रखा जा सकता था, इसलिये उन्हें हालावाद के प्रवर्तक और उस काव्यधारा के एकमात्र कवि के रूप मे मान्यता मिली।

दिनकर इसी युग के "सबसे समर्थ कवि हैं।" देश और विश्व की मुख्य और प्रसिद्ध घटनाओं ने उनकी समष्टि काव्य-चेतना का रूप निर्धारित किया। 'कुरुक्षेत्र' ने उनको एक सवेदनशील और प्रौढ़ चिन्तक कवि के रूप में प्रतिष्ठित किया। उसके बाद भी दिनकर ने जो कुछ लिखा उसमें उनका कवि और

विचारक ही प्रधान रहा, परन्तु 'उर्वशी' ने उनको काव्यशिल्पी के पद पर भी अधिष्ठित कर दिया है। 'उर्वशी' के प्रकाशन के पहले वे सबसे अधिक कुरुक्षेत्र के कवि के रूप मे याद किये जाते जहा उन्होने राष्ट्रवाद की सीमा का अतिक्रमण कर विश्व की सार्वभौम पृष्ठभूमि मे मानव जीवन की एक ज्वलन्त समस्या का व्यावहारिक और गम्भीर विश्लेषण प्रस्तुत किया था। अब तक दिनकर कवि और तत्वचिन्तक थे। उनका ध्यान केवल अभिव्यक्ति की सहजता और स्पष्टता पर रहता था, उसकी सुन्दरता पर नही। 'उर्वशी' मे शिल्पी और चित्रकार दिनकर की छेनी और तूलिका की सामर्थ्य का परिचय भी मिल गया है, जिनके माध्यम से इस 'साहित्यिक ताजमहल' का निर्माण किया गया है जो हिन्दी साहित्य के इतिहास मे, अपने शिल्पी के कल्पना-वैभव, भाव-समृद्धि, विचार-प्रौढि और अभिव्यंजना-सामर्थ्य की कहानी कहता रहेगा।

उपसंहार

भारतीय जनता की उद्‌बुद्ध चेतना की विभा में दिनकर का आविर्भाव हुआ, जब देश का क्षितिज नवयुवकों की छाती से निकलते हुए रक्त के फव्वारों से रंजित हो रहा था, कोड़े खाते हुए निरपराध व्यक्तित्वों के मुंह से निकलती हुई वन्देमातरम् की ध्वनि 'भोर' का सदेशा दे रही थी और फासी पर झूलते हुए निर्भीक चेहरे भविष्य के पट पर लिखे हुए इतिहास की आहट दे रहे थे। परन्तु इस जागृति का एक दूसरा पहलू भी था। जब स्वाधीनता के सिपाही रक्त की गगा मे स्नान कर रहे थे, विभिन्न गोलमेज सभाओं की अगणित समितियों की असख्य बैठको मे भारत को स्वतन्त्रता देने का अभिनय भी किया जा रहा था। मैकडानल्ड अवार्ड के विरोध में गाधी जी ने काग्रेस के लिए आत्म-निषेध, आत्मसयम और आत्मपरिष्कार की कला के शिक्षण और प्रसारण का कार्यक्रम निर्धारित किया था और काग्रेस के उग्र दल मे इस नीति से बड़ी निराशा फैली थी। गाधी के उदात्त आदर्श, राजनीति की गहरी आध्यात्मिकता और रहस्यात्मक कार्यप्रणाली उग्र सदस्यो की व्यावहारिक बुद्धि की समझ के बाहर की बात थी। दिनकर भी उस मध्यवर्ग के एक संवेदनशील युवक थे जो वर्ग उग्र दल के नेता जवाहर, सुभाष, जयप्रकाश और नरेन्द्रदेव के साथ था इसी लिये आरम्भ से ही उनकी सहानुभूति विरोधों और विद्रोहों के साथ रही। उनकी राष्ट्रीय कविताओ की प्रेरणा के बीज इन्ही विरोधों में मिलते हैं, सविनय अवज्ञा आन्दोलन, अछूत आन्दोलन, चर्खा अथवा तकली प्रचार में नही। अपने ही शब्दों में उन्होने गाधी की पूजा सदैव अंगारों से की थी। इसीलिये, दिनकर की राष्ट्रीयता को गाधी युग की विद्रोही राष्ट्रीयता का नाम दिया जा सकता है। सरकारी नौकरी मे रह कर इस प्रकार के खुले विद्रोह के लिए उन्हें दण्ड क्यो नही दिया गया, यह प्रश्न सहज रूप से मन में उठता है, शायद इसका कारण यह हो कि उस समय काग्रेस के वयस्क नेताओं द्वारा आन्दोलन की समाप्ति कर दी गई थी, और सरकार जनता के संतोष के लिए सन् १९३५ के सघात्मक शासन का सविधान बनाने की तैयारी कर रही थी, ऐसी स्थिति में इन नवयुवकों की आग में आहुति न डालना ही ठीक था। यह भी हो सकता है कि शायद सरकार की आंखों में इस प्रकार की आवाजें खलक की आवाज न होकर बच्चों का शोर-गुल मात्र रहा हो, क्योंकि वह जानती थी

कि महात्मा गांधी की सार्वभौम सत्ता और शक्ति के सामने उनके बडे-बडे विरोधियों और प्रतिरोधियों को भी झुक जाना पडता है। युवको के अग्रणी नेता भी अपने सारे विरोधो के बावजूद उनके निर्णयो को उसी प्रकार स्वीकार कर लेते थे जैसे एक आज्ञाकारी सस्कारी पुत्र, अपनी नई और विद्रोही मान्यताओ को अपने शक्तिशाली और व्यक्तित्ववान पिता की मान्यताओ पर विसर्जित करके, सिर झुका कर उसी के निर्देशन मे चलना स्वीकार कर लेता है।

दिनकर की काव्य-चेतना, अभाव से भाव, निषेध से स्वीकृति, निवृत्ति से प्रवृत्ति, दिवास्वप्नो से चिन्तन और कल्पना से कर्म की ओर अग्रसर हुई है। प्रारम्भ मे उनके सामने काव्य-रचना के अनेक और अनिश्चित मूल्य थे। बिहार की विद्रोही राष्ट्रीय-चेतना के अग्निमय वातावरण मे उनके कवि व्यक्तित्व का निर्माण हुआ। माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी और मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओ द्वारा उन्हे राष्ट्रीय कविता के संस्कार प्राप्त हुए, छायावाद के युवक कवियों की रेशमी झिलमिलाहट से भी उनका कल्पनाशील युवा व्यक्तित्व प्रभावित हुए बिना नही रहा यही कारण है कि उनकी प्रारम्भिक रचनाओ में हमे उनकी काव्य-चेतना के अनेक सूत्र मिलते हैं। विकास की दृष्टि से इन सभी सूत्रो के दो सोपान माने जा सकते हैं। प्रथम, वह स्थिति जब कवि की प्रतिक्रियाये मूलतः भावपरक रही हैं। इस स्थिति के अन्तर्गत कुरुक्षेत्र के पूर्व लिखी गई प्राय. सभी रचनाये रखी जा सकती हैं। राष्ट्रीय चेतना के काव्य रेणुका और हुंकार दिनकर की भाव-प्रवणता के ही परिणाम हैं। उनमे व्यक्त वीरता अधी वीरता है और उनकी क्रान्ति अन्धी क्रान्ति है। वहा वे वाछनीय-अवाछनीय अथवा सम्भावनाओ और असम्भावनाओं को देख कर नही चले है। 'द्वन्द्वगीत' और 'रसवन्ती' मे भी वैयक्तिक भावनात्मक प्रतिक्रियाओ की ही अभिव्यक्ति हुई है। कलिंग-विजय में द्वन्द्वगीत की वैयक्तिक करुणा और व्यथा ने समष्टिजन्य रूप ग्रहण किया है। यहा तक दिनकर एक भावप्रवण कवि है विचारक कवि नही। कुरुक्षेत्र मे वे पहली बार मुख्य रूप से विचारक और द्रष्टा के रूप मे आते है और कविता के प्रति उनकी भावात्मकता बुद्धि से संपुष्ट होकर अभिव्यक्ति पाती है, और, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक प्रतिपाद्य के प्रति उनके मूल्य निश्चित और स्थिर हो जाते हैं। कुरुक्षेत्र के अतिरिक्त सामधेनी, बापू और परशुराम की प्रतीक्षा मे भी दिनकर का अग्निमय भाव बुद्धि-संपुष्ट है। अधिकतर, विचारक कवि का भावपक्ष गौण और दुर्बल पड जाता है, परन्तु दिनकर की कविता मे बुद्धि

भाव को शीतल नही बनाती उनको उद्‌बुद्ध करके उन्हे दृढता और शक्ति प्रदान करती है। कुरुक्षेत्र के पहले भी हुकार मे कुछ ऐसी रचनायें सकलित है, जिनमे दिनकर की भावपरक प्रतिक्रियाओ को विचार-सपुष्ट करके उनमे क्लासिक स्पर्श देने का प्रयास आरम्भ कर दिया था। यद्यपि अभिजात कविता का पूर्ण गौरव कुरुक्षेत्र मे ही व्यजित हुआ, फिर भी, देहबल और आत्मबल के सामजस्य का सिद्धान्त वे हुकार की 'महामानव की खोज' कविता मे ही निर्धारित कर चुके थे। गांधी दर्शन को, निर्बल की क्षमा और दया के सुघर बेलबूटों से 'अजा धर्म' को सजाने वाला दर्शन मान कर दिनकर उस प्रचण्ड मानव के अन्वेषी बने जिसकी सासो पर प्रभजन नृत्य करे और जिसके इशारो पर इतिहास बदल जाये। जिसके हाथो मे अमृत कलश और धर्मध्वज हो, परन्तु जो झझा सा बलवान और काल सा क्रोधी भी हो।

दिनकर की इन कल्पनाओं में कही-कही हिटलर और मुसोलिनी के व्यक्तित्वो की सी राक्षसी गन्ध भी आती जान पडती है, अमृत कलश और धर्म-ध्वज की रक्षा तो कठिन साध्य है परन्तु झंझा से क्रोध और शैल के से अह से प्रेरित होकर मनुष्य के लिए अपने को भगवान समझना बडा आसान है। दिनकर की अपनी कल्पना मे चाहे असतुलन न हो, पर शारीरिक शक्ति की ओर असतुलित झुकाव की सम्भावनायें उसमे विद्यमान हैं, असंतुलन से व्यक्ति संत बने या दानव, प्रश्न यह है। परन्तु शक्ति के दानव के हाथो मे वेद, कलश और धर्म-ध्वज पकडा कर उसे मनुष्य बनाये रखने का प्रयास उन्होने सर्वत्र किया है। और अगर आत्म-सम्मान, राष्ट्र-सम्मान, और देश की रक्षा का प्रश्न हो तो वह अबल देवता की अपेक्षा सबल मानव की ओर ही झुकेंगे। इसी धर्मध्वजधारी विक्रमादित्य की कल्पना का व्यावहारिक व्याख्यान कुरुक्षेत्र के भीष्म द्वारा प्रतिपादित जीवन-दर्शन मे हुआ है।

जीवन की विभिन्न समस्याओ के द्विमुखी और विरोधी पक्षों के समानान्तर विश्लेषण और प्रतिपादन के कारण कुरुक्षेत्र की काव्य-चेतना पर द्वन्द्वग्रस्तता तथा अस्पष्टता का दोष लगाया जाता रहा है, परन्तु कुरुक्षेत्र की सृजन-प्रक्रिया मे दो शक्तिया साथ-साथ काम करती रही है। बुद्धिजन्य विचार और प्रवृत्तिजन्य राग का सघर्ष उसमे आरम्भ से अन्त तक विद्यमान है इसलिये अनेक स्थलों पर उसमे विरोधाभास का भ्रम होने लगता है, जबकि वास्तव में तथ्य यह है कि कुरुक्षेत्र मे विचार दिशा-निर्देश करते हैं और भावनायें उन्हे गति प्रदान करती हैं। मानसिक प्रवृत्तियों के बीच सतुलन और सामजस्य की इस प्रक्रिया के कारण विरोधी तत्वों का समावेश कुरुक्षेत्र में अनिवार्य और

अवश्यम्भावी हो गया है। मेरे विचार से तो कुरुक्षेत्र मे आकर दिनकर का द्वन्द्व समाप्त हो गया है। अभी तक जीवन के विभिन्न प्रश्नो और समस्याओ के प्रति जो विरोधी दृष्टिकोण उनके सामने चले आ रहे थे, कुरुक्षेत्र मे उनके सत्यासत्य का निर्णय हो गया है। जैसे प्रौढ होकर व्यक्ति अपने हृदय के उद्वेलनो का शमन दर्शन और आध्यात्मिकता से करता है वैसे ही दिनकर ने अनेक प्रश्नो का समाधान पाश्चात्य और भारतीय दर्शन के सार तत्वो को ग्रहण करके किया है, और यहा आकर हुकार की भाव-प्रधान समष्टि चेतना दर्शन से सम्पुष्ट होकर स्थायी हो गई है। अभावमूलक तत्वो पर भावमूलक तत्वो की विजय और जीवन के विभिन्न विरोधी भावो मे सामञ्जस्य द्वारा कुरुक्षेत्र मे दिनकर ने एक स्वस्थ और सन्तुलित मानव-दर्शन की स्थापना की है जो पृथ्वी का आधार कभी नही छोडता।

पार्लियामेण्ट मे आने के बाद, दिनकर राष्ट्र और जनता के कवि कम और राजनीति के कवि अधिक बन गये। भारत विभाजन से उठी हुई समस्यायें उनकी आखो से प्राय ओझल रही। राजनीति और धर्म की चक्की मे पिसी हुई जनता का आक्रोश और दुःख वे निरपेक्ष और तटस्थ दृष्टि से देखते रहे। अब दिनकर जनता के कवि नही उसके प्रतिनिधि मात्र थे। जनता जनार्दन के चारण पद को छोड कर वे कुछ समय के लिए सरकार के माइक्रोफोन बन गये। अब वे भारत के भाग्य-विधायको मे से एक थे, और विधाता का काम केवल नियम बनाना होता है, उनके प्रभावों और प्रतिक्रियाओ के प्रति वह बेखबर और बेपरवाह रहता है। उनकी काव्य-चेतना का समष्टि तत्व अब भारतीय राजनीति, राष्ट्रनीति और पर-राष्ट्रनीति का प्रतिनिधित्व करने लगा। उसके बाद कुछ दिनो के लिए उनकी चेतना का समष्टि तत्व बिलकुल ही गौण पड गया। आग की लपटो, बारूद और भूचाल के स्थान पर उनकी सरसी मे अलक्तक राग भर गया, आग और तूफान का स्थान मधुर अनुभूतियों के कोमल प्रकाश ने ले लिया। काम के अमृत की उज्ज्वलता और मादकता से आकर्षित होकर वे उर्वशी लोक की हरियाली से घिर गये। परन्तु चीन के आक्रमण ने फिर उन्हे गांस मार कर जगा दिया है और अब वे फिर सूर्य से जलने की सीख तथा ईश्वर से आग की भीख मागने लगे है।

निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि दिनकर की राष्ट्रीय चेतना का मूल रूप भाव-प्रेरित रूमानी है। बुद्धि-विवेक द्वारा विरोधी सत्ताओ के साथ समझौता और सामंजस्य की कल्पना वे नही करते, कर ही नही सकते। अनाचार और अन्याय के उच्छेदन और उन्मूलन के अतिरिक्त उनके पास और

कोई समाधान नही है। उनका मार्ग समझौते का नही क्रान्ति और विप्लव का मार्ग है। चुपचाप मार खाना उनकी समझ मे कभी नही आया और न उनका यह विश्वास बना कि केवल भीख मागने से स्वतन्त्रता मिल सकती है या दुश्मन की ललचाई नजरो से उसकी रक्षा की जा सकती है। परन्तु उनकी क्रान्ति का रूप निरुद्देश्य-ध्वसमूलक नही है। उनके लिए अराजकतावादी और अव्यवस्थावादी इत्यादि शब्दो का प्रयोग करना भ्रामक है। क्रान्ति, विप्लव और अराजकता, उनका साध्य न कभी पहले रही है और न अब है, परन्तु साधन के रूप मे उसकी अनिवार्यता उन्होंने हमेशा स्वीकार की है। अब भी वे उसी की आवृत्ति कर रहे हैं। कुरुक्षेत्र में उन्होने जिन युद्धजन्य परिस्थितियो का चिन्तन किया था, एक आक्रान्त देश के विशिष्ट नागरिक होने के नाते आज वे उसी के भुक्तभोगी है। समय की पुकार उनके रक्त मे आग भर देती है। परशुराम की प्रतीक्षा में वही आग फिर से भडक उठी है, जिसके सम्बन्ध में व्यक्त हिन्दी की राष्ट्रीय काव्य-परम्परा के वयस्क कवि श्री माखन लाल चतुर्वेदी के विचार द्रष्टव्य हैं। "इस कविता मे तपन है ज्वाला है और वर्तमान युग के लिए क्या नही है ? दिनकर के इसी रूप को मैं देखना चाहता था वह इस युग की ज्वालमाला है। इस पुस्तक का दिनकर हिमालय को और उसके माध्यम से सम्पूर्ण राष्ट्र और सस्कृति को प्यार करने वाला दिनकर है। जैसी मति है, जैसी कृति है वैसा ही दिनकर व्रती है। किन्तु हम तो कालिदास को सर्वश्रेष्ठ कहने वाले देश मे रहते है। हम दिनकर को समझ सके तो बडी बात है।"

दिनकर मुख्यत: ओज और पौरुष के कवि हैं, परन्तु उनके राग का एक दूसरा रूप भी है जो एकान्त वैयक्तिक है, और जिसमे उनके भावो का उन्नयन नही उद्रेक व्यक्त है। इस चेतना के प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं रसवन्ती और उर्वशी। अनेक आलोचको ने रसवन्ती के दिनकर को पलायनवादी मान कर उन पर यथार्थ और सघर्ष मे कायरतापूर्वक मुँह मोड़ लेने का दोपारोपण किया है, लेकिन यह बात ध्यान में रखने की है कि दिनकर की काव्य-चेतना मे व्यक्ति और समष्टि, सुन्दर और सत्य, ओज और प्रेम, प्रवृत्ति और निवृत्ति साथ-साथ चले हैं। द्वन्द्वगीत का धुवा, हुंकार की आग, और रसवन्ती के रस का उनके हृदय मे सहअस्तित्व रहा है। समष्टि-चेतना की भांति ही उनकी शृङ्गार-चेतना के भी दो रूप माने जा सकते हैं। परम्परागत रागमूलक शृङ्गार-चेतना तथा दर्शन तथा मनोविज्ञान पर आधृत विचारमूलक शृङ्गार-चेतना। काम के दो रूप माने जाते हैं: एक रसिकता और दूसरा प्रेम। सामान्य तल पर काम

रसिकता है और वैयक्तिक तल पर प्रेम। रसवन्ती के शृङ्गार को न रसिकता माना जा सकता है और न उसमे प्रेम का वैयक्तिक दृष्टिकोण प्रधान है। इस शृङ्गार को तो छायावाद के अतीन्द्रिय शृङ्गार और वैयक्तिक कविता की रूमानी स्वच्छन्दता के बीच की एक कडी ही माना जा सकता है। रसवन्ती के शृङ्गार मे छायावादी शृङ्गार का विस्मय और वैयक्तिक कविता का उपभोग दोनो ही तत्व विद्यमान है तथा उसकी अभिव्यक्ति मे भी वायवीयता और यथार्थता दोनों का मिश्रण है। रहस्यमयी चेतना और शरीर की भूख, दोनो के बीच की स्थिति रसवन्ती के शृङ्गार की है। न नैतिक आतक से सहम कर नारी के प्रति उनका आकर्षण कौतूहल मे परिणत हुआ है और न उसमे वैयक्तिक कविता का खुलापन और कुठा-जन्य विषाद व्यक्त हुआ है। व्यक्ति-विशेष के प्रति राग की अभिव्यक्ति रसवन्ती मे अधिक मुखर नही हुई है, और न इन गीतो की रचना असन्तोष, विद्रोह अथवा अनास्था के फलस्वरूप हुई है। उसका आविर्भाव तो दिनकर की समष्टि-चेतना-जन्य विद्रोह, और आक्रोश के स्नायविक तनावों को शिथिल करने के उद्देश्य से हुआ जान पडता है। जिस प्रकार बच्चन, नरेन्द्र और अचल इत्यादि उनके समयुगीन कवियो ने नैतिक मर्यादाओ और जीर्ण आदर्शों को खुले शब्दो मे चुनौती दी और प्रवृत्तिमूलक सहज सत्य की प्रतिष्ठा की वैसा प्रयास रसवन्ती की रचनाओ मे नही मिलता। सामाजिक नीति-पाश को तोडकर स्वच्छन्दता की ओर बढने और उसकी खुली घोषणा करने का साहस दिनकर मे नही मिलता। रसवन्ती का शृङ्गार तो पर्वत के हृदय मे बहती हुई उस स्निग्ध जलधारा के समान है, जो उसके उपलमय व्यक्तित्व और वातावरण को आर्द्र रख कर उसको सरस बनाए रखती है।

जिस प्रकार दिनकर की प्रारम्भकालीन कृतियो की समष्टि-चेतना कुरुक्षेत्र मे आकर दर्शन, राजनीति और मनोविज्ञान से संपुष्ट होकर सतुलित और स्थिर हुई थी, उर्वशी मे व्यक्त शृङ्गार-चेतना और नारी-भावना की विकास-प्रक्रिया मुझे करीब-करीब वैसी ही जान पडती है। दिनकर वर्तमान के कवि है। प्रेरणा उन्हे वर्तमान से मिलती है परन्तु इतिहास और परम्परा के मोह के कारण वह अतीत का अचल छोड़ने मे असमर्थ रहते है। मेरे विचार से तो कुरुक्षेत्र और उर्वशी एक ही प्रतिपाद्य के अलग-अलग ऐंगिल से लिए हुए दो चित्र है। दोनो ही चित्रो का आधारफलक सार्वभौम और विश्वजनीन है और दोनो ही की अभिव्यक्ति के माध्यम पौराणिक, ऐतिहासिक और भारतीय है; ठीक वैसे ही, जैसे, प्रेम और घृणा सार्वजनिक और सार्वभौम है परन्तु व्यक्ति

और परिवेश की भिन्नता से ही उनकी अभिव्यक्ति मे भिन्नता आ जाती है। काम के त्याग, ग्रहण अथवा सतुलन का प्रश्न शाश्वत है, ठीक उसी अर्थ मे जैसे युद्ध की समस्या मनुष्य की सनातन समस्या है। परन्तु उर्वशी की रचना आधुनिक जीवन मे व्यापक रूप से छाई हुई काममूलक समस्याओ की प्रेरणा से ही हुई है, यह भी उतना ही सत्य है, जितना यह कि कुरुक्षेत्र की रचना द्वितीय महायुद्ध की प्रेरणा से हुई थी। कुरुक्षेत्र के विश्वजनीन आधारफलक पर लिए हुए चित्र मे फोकस सामूहिक पक्ष पर था, उसमे प्रकाश और अन्धकार के अनेक उतार-चढाव थे पर उर्वशी का यह चित्र तो उस छायाचित्र के समान है जिसके विशाल आधारफलक पर व्यक्ति की घनी और गहरी छाया का उभार प्रधान रहता है। पुरुरवा का द्वन्द्व उस युग के व्यक्ति का द्वन्द्व है जिसके मन मे मर्यादा की रक्षा और प्रवृत्तियो की अभिव्यक्ति के प्रलोभन मे सतत रूप से सघर्ष चलता रहता है। वर्तमान युग के व्यक्ति का यह अन्तर्द्वन्द्व उर्वशी मे व्यक्त हुआ है। इस दृष्टि से उर्वशी को हिन्दी कविता का एक नया मोड माना जा सकता है।

द्विवेदी युग के बाद हिन्दी मुक्तक और गीत परम्परा मे अनेक उतार-चढाव आए परन्तु प्रबन्ध-परम्परा प्राय· द्विवेदीयुगीन कलेवर मे ही चलती रही। ऐसा कोई प्रबन्ध काव्य सामने नही आया जिसे साकेत, प्रियप्रवास अथवा कामायनी का विकास माना जा सके। दिनकर के 'रश्मिरथी' को भी इनका गौरवपूर्ण अवशेष ही कहा जा सकता है। प्रबन्ध क्षेत्र मे पहला प्रयोग दिनकर ने कुरुक्षेत्र में किया जिसमे समस्या प्रधान थी, पुराण और पौराणिक पात्र निमित्त मात्र। उर्वशी मे भी समस्या ही प्रधान है। कुरुक्षेत्र के षष्ठ सर्ग मे कवि ने अतीत का पल्ला छोड कर वर्तमान की बात स्वय कही थी। उर्वशी के तीसरे अंक मे भी उर्वशी और पुरुरवा कथा के पात्र कम और दिनकर की विचारधारा के प्रतिनिधि और प्रतीक अधिक हो गये है। प्रबन्ध काव्य की मान्य गरिमा और भव्यता की रक्षा करते हुए प्रस्तुत समस्या का आख्यान और विश्लेषण करने के लिए पौराणिक आख्यान और पात्रो का माध्यम ही उचित था। उसके उपयुक्त वैचारिक गरिमा और भव्यता सुदूर अतीत की घटनाओ और पात्रो के माध्यम से अधिक उपयुक्तता से व्यक्त हो सकती है। नित्यप्रति सम्पर्क मे आने वाले जाने-पहचाने व्यक्ति और जानी-मानी घटनाओं से अभीष्ट गरिमा की उपलब्धि नही की जा सकती। सामान्यत. शाश्वत और विशेषत: समसामयिक इस समस्या के प्रतिपादन के लिए उर्वशी और पुरुरवा का प्रतीक उचित ही बन पड़ा है।

उर्वशी मे शृङ्गार के तीन विकास-सूत्र है। प्रथम उन्नयनित शृङ्गार, जिसके अन्तर्गत औशीनरी की वेदना, त्याग, गाम्भीर्य और दायित्व का भाव आता

है। द्वितीय, सामंजस्यपूर्ण गार्हस्थिक शृङ्गार जिसका प्रतिनिधित्व महर्षि च्यवन और सुकन्या द्वारा होता है। तीसरा, प्रवृत्तिमूलक भोग-प्रधान शृङ्गार जो उर्वशी और पुरुरवा के माध्यम से व्यजित होता है। प्रथम दो सूत्रो तथा उनके भोक्ता पात्रो के द्वारा उन उदात्त आदर्शों की स्थापना होती है जो कवि को अपने भारतीय सस्कारो और परम्परा से मिले है और तीसरे तथा मुख्य सूत्र के पात्र मनुष्य के दर्द बेचैनी, वासना और उद्वेग का प्रतिनिधित्व करते है। शास्त्रीय मान्यताओ की कसौटी पर इसे दोष माना जा सकता है, परन्तु कवि द्वारा ज्ञापित उद्देश्य की दृष्टि से देखा जाय तो उर्वशी के तीसरे अक की एक-एक पक्ति सार्थक और सटीक जान पड़ती है।

उर्वशी के प्रकाशन के साथ दिनकर के कवि-व्यक्तित्व का तथाकथित अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण पक्ष भी उभर आया है। कुरुक्षेत्र ने उनको एक सवेदनशील प्रौढ चिन्तक के रूप मे प्रतिष्ठित किया था, उसके बाद की रचनाओ मे भी उनका कवि और विचारक ही प्रधान रहा, परन्तु उर्वशी का कवि विचारक होने के साथ-साथ समर्थ शिल्पी भी है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन के पहले दिनकर सब से अधिक कुरुक्षेत्र के कवि रूप मे प्रतिष्ठित होते जहा उन्होने राष्ट्रवाद की सीमा का अतिक्रमण कर विश्व की सार्वभौम पृष्ठभूमि मे मानव जीवन की एक ज्वलित समस्या का व्यावहारिक और गम्भीर विश्लेषण प्रस्तुत किया था। छायावादी काव्य शैली की धूमिलता और अस्पष्टता की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप छायावाद-परवर्ती कवि अनुभूति की सच्चाई, भाषा की सजीवता और अभिव्यक्ति की प्रसन्नता का उद्देश्य लेकर चले थे। दिनकर का भी स्वप्न था कि वे पन्त के सपनो को मैथिलीशरण की सफाई से इस प्रकार लिख सके कि न तो पन्त के सपने घायल हो और न मैथिलीशरण के मार्ग पर मिहिका छाने पाये। उर्वशी मे उनका वह स्वप्न पूरा हो गया है जिसके शिल्प मे द्विवेदीयुग से ग्रहण किये हुए दिनकर के भाषागत सस्कार इतिवृत्तात्मकता, विवरणात्मकता तथा गद्यात्मकता से मुक्त हो कर, और उन के छायावादी सस्कार अस्पष्टता और कुहासे से मुक्त हो कर प्रयुक्त हुए है। हिन्दी साहित्य के इतिहास मे दिनकर का नाम क्रान्ति, युद्ध और प्रेम के कवि रूप मे तो अमर रहेगा ही, उर्वशी का मणिकुट्टिम कला-वैभव उनके शिल्प-सामर्थ्य की कहानी भी कहता रहेगा।

परिशिष्ट

पिछले अध्यायों मे दिनकर की मौलिक काव्य-चेतना और उसी से सम्बन्धित काव्य-शिल्प का निरूपण किया गया है, इसलिये, उनकी दो प्रमुख कृतियों को उसमे स्थान नही मिल सका है। वे कृतियां हैं 'धूप छांह' तथा 'सीपी और शंख'। इन दोनों ही कृतियों का महत्व उनमे सकलित भावानुवादों के कारण है। प्रथम कृति मे सोलह कवितायें हैं जिनमें से छः मौलिक, दो अभिप्रेरित और शेष अनूदित है। 'धूप छांह' में किशोरों के लिए लिखी गई कविताओ का सकलन हुआ है। कवि के ही शब्दों मे 'धूप छांह' में धूप कम और छाया अधिक है। 'दो बिघा जमीन' और 'पुरातन भृत्य' के मूल लेखक रवीन्द्रनाथ है। 'तन्तुवाय' और 'तीन दर्द' श्रीमती सरोजिनी नायडू की कविताओ के आधार पर लिखी गई हैं और 'नीद' कविता के मूल लेखक एक पाश्चात्य कवि गॉडफ्रे हैं। 'बच्चे का तकिया' और 'वर-भिक्षा' सत्येन्द्र नाथ दत्त की बगला कविता से ली गई है। परन्तु उसके मूल रचयिता क्रमशः मार्सेलिन वाल्मोर और नगूची हैं। 'पानी की चाल' नामक रचना भी सर्वथा मौलिक नही कही जा सकती, क्योंकि वह राबर्ट सदी और अकबर इलाहाबादी के अनुकरण पर लिखी गई है। 'कवि का मित्र' कविता पर गॉडफ्रे सैक्से की कविता और स्वर्गीय पदमसिंह शर्मा के द्वारा अनूदित लेख 'मुझे मेरे मित्रों से बचाओ' का प्रभाव है। 'रोशन बे की बहादुरी' का प्लाट लांगफेलो की एक कविता से लिया गया है। मौलिक रचनाओं में शौर्य और देशभक्ति का भाव प्रधान है तथा सभी अनूदित रचनायें दिनकर की भाषा शैली में बंध कर मौलिक रचनाओं का सा आनन्द देती हैं। 'कवि का मित्र' कविता हास्य और व्यंग्य प्रधान है जो मन पर स्थायी प्रभाव छोड़ जाती है। दिनकर की वाग्विदग्धता इन पंक्तियों में देखी जा सकती है—

देता है उपदेश बहुत, देता है नूतन ज्ञान
मेरी गन्दी रहन-सहन पर भी देता है ध्यान।
सब कुछ देता, एक नहीं देता अपने से त्राण।

*　　*　　*

सब सिगरेट खतम कर कहता एक और दो यार,